शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

पॉलो फ्रेरा

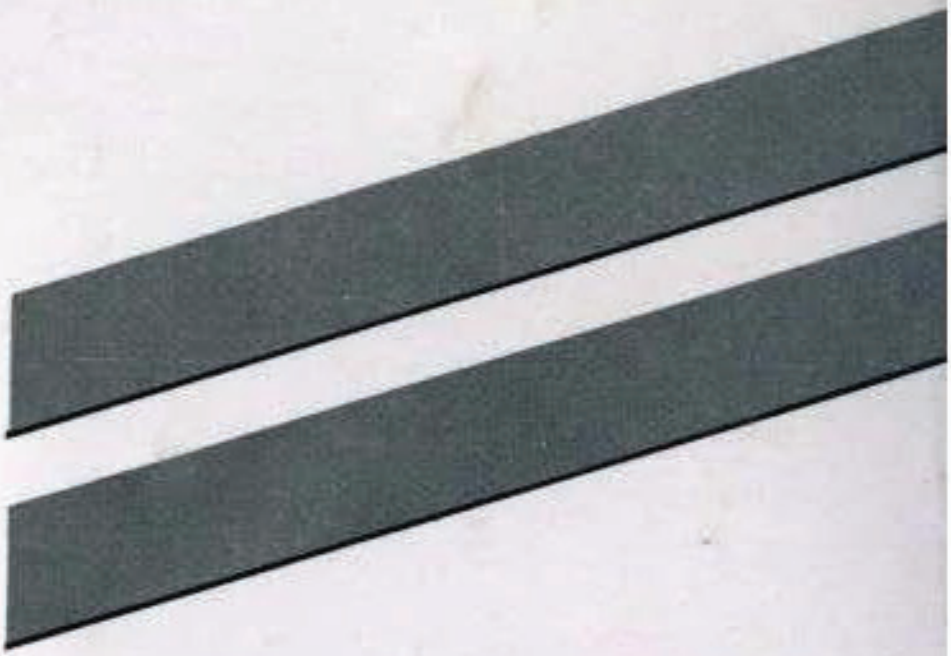

अनुवादक
रमेश उपाध्याय

उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

पॉलो फ्रेरा

अनुवादक
रमेश उपाध्याय

ग्रंथ शिल्पी
नई दिल्ली 110002

ग्रंथ शिल्पी
नई दिल्ली 110002

© पॉलो फ्रेरा
प्रथम हिंदी संस्करण,1996
ISBN 81-86684-07-7

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, 4715/21, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित तथा कम्प्यूटेक सिस्टम, मानसरोवर पार्क, शाहदरा दिल्ली-32 से कंपोज होकर के तरुण ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-53 में मुद्रित.

UTPIRITON KA SHIKSHASHASTRA By Paulo Friere

विषयानुक्रम

प्रस्तावना : कृष्ण कुमार 7

अनुवादक की ओर से : रमेश उपाध्याय 9

भूमिका 19

पहला प्रकरण 25

उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र का औचित्य; उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों का अंतर्विरोध और उसका समाधान; उत्पीड़न और उत्पीड़क; उत्पीड़न और उत्पीड़ित; मुक्ति की पारस्परिक प्रक्रिया।

दूसरा प्रकरण 52

उत्पीड़न के औज़ार के रूप में शिक्षा की 'बैंकीय' अवधारणा; मुक्ति के औज़ार के रूप में समस्या-उठाऊ शिक्षा की अवधारणा; समस्या-उठाऊ अवधारणा के द्वारा 'बैंकीय' अवधारणा के शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान; विश्व-मध्यस्थता वाली पारस्परिक प्रक्रिया के रूप में शिक्षा; सचेत रूप से अपूर्ण प्राणी के रूप में मनुष्य और उसका पूर्णतर मनुष्य बनने का प्रयास।

तीसरा प्रकरण 68

संवादात्मकता : स्वतंत्रता के व्यवहार के रूप में शिक्षा का सार; संवादात्मकता और संवाद; संवाद और कार्यक्रम के अंतर्वस्तु की खोज; मनुष्य-विश्व संबंध; 'जननशील मूलविषय' और स्वतंत्रता के व्यवहार के रूप में कार्यक्रम की अंतर्वस्तु; 'जननशील मूलविषयों' का अनुसंधान और उसकी पद्धति; 'जननशील मूलविषयों' के अनुसंधान के जरिए आलोचनात्मक चेतना का उदय।

चौथा प्रकरण 106

सांस्कृतिक कर्म के सिद्धांतों के परस्पर विरोधी सांचों के रूप में संवाद-विरोध और संवादात्मकता; उत्पीड़न के औज़ार के रूप में संवाद-विरोध और मुक्ति के औज़ार के रूप में संवादात्मकता; संवाद-विरोधी कर्म का सिद्धांत और उसकी विशेषताएं : अभिजिति, विभाजन और शासन, चालबाज़ी और सांस्कृतिक आक्रमण; संवादात्मक कर्म का सिद्धांत

और उसकी विशेषताएं : सहयोग, एकता, संगठन और सांस्कृतिक संश्लेषण।

शब्द सूची 164

अनुवादक द्वारा प्रस्तुत कुछ ऐसे शब्दों की सूची, जिनके अंग्रेजी पर्याय जानने में कुछ पाठकों की रुचि हो सकती है।

प्रस्तावना

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में पॉलो फ्रेरा का नाम लगातार फैलता रहा है, पर उनके चिंतन को समझने वालों की संख्या विशेष नहीं बढ़ी है। अव्वल तो फ्रेरा के कृतित्व की भाषा और शैली ही काफी कठिन है, फिर एक अन्य समस्या उनके चिंतन की 'संपूर्णता' है जो फ्रेरा का नाम जपने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। कहने को फ्रेरा एक शिक्षा-चिंतक हैं, पर उनके शिक्षाशास्त्र और शिक्षणशास्त्र को उनके समाज-दर्शन से अलग करके देखना एकदम व्यर्थ है। वैसे भी फ्रेरा के शैक्षिकदर्शन और उनके द्वारा आजमाई गई शिक्षण विधियों में निहित पूर्वधारणाएं हमारे समय की तीन बड़ी चिंतनधाराओं से संबंधित हैं जिनका फलक शिक्षण-कर्म से कहीं अधिक व्यापक है। ये धाराएं हैं मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण और अस्तित्ववाद। इन तीनों से विचार-बिंदु लेकर और अपनी मानववादी नज़र और ठोस अनुभवों से उपजी समझ जोड़कर फ्रेरा ने आज की दुनिया के संकट और उसके संदर्भ में शिक्षा की भूमिका को चित्रित किया है।

फ्रेरा की दृष्टि से देखें तो आधुनिक दुनिया की विभीषिका का राज़ विषमता में छिपा है। विषमता का प्रकट रूप गरीबी के रूप में दिखाई देता है जो सदा से करुणा और दया जगाती आई है। पारंपरिक समाजदार्शनिक उसकी जड़ें कभी नियति में तलाशते हैं तो कभी अज्ञान और अकर्मण्यता में। फ्रेरा का शिक्षणशास्त्र हमें बतलाता है कि समस्या को 'गरीबी' कहना ही एक ग़लत प्रस्थान-बिंदु है। गरीबी उत्पीड़न का वह सुविधाजनक और भ्रामक नाम है जिसे लेकर संपन्न मनुष्य अपनी भूमिका से मानसिक तौर पर बरी हो रहता है। उत्पीड़ित को गरीब बताकर वह अपनी स्थिति और हैसियत को वैध ठहराने में समर्थ होता है। यह आत्मलीनता उत्पीड़न की संरचना को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है।

आज की दुनिया में शिक्षा की भूमिका संपन्न या उत्पीड़क वर्ग के आत्मलीन जीवनदर्शन का प्रचार और दलितों में आत्महीनता का प्रसार करने में निहित है। फ्रेरा का यह विश्लेषण उन तमाम समाज वैज्ञानिकों, विशेषकर समाजशास्त्रियों पर काफ़ी तेज़ प्रहार है जो शिक्षा को बहुत सरलीकृत रूप में देखते हैं और उसे सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य साधन बताते आए हैं। हमारे देश में शिक्षा की ऐसी भोथरी व्याख्या बहुत लोकप्रिय है। फ्रेरा की इस प्रसिद्ध कृति का हिंदी अनुवाद

इस व्याख्या को चुनौती देगा और शिक्षा के राजनीतिक संदर्भ के प्रति जागरूकता पैदा करेगा, ऐसी आशा की जा सकती है। जो लोग इस जागरूकता के अगले चरण के तौर पर शिक्षा को सच्चे सामाजिक परिवर्तन का औजार बनाने के रास्ते ढूंढ़ना चाहेंगे, उन्हें भी यह पुस्तक मदद देगी क्योंकि फ्रेरा का शिक्षाचिंतन केवल समझने की चुनौती नहीं, चीजों को बदलने की तैयारी के बारे में भी है।

उस फलक पर भी फ्रेरा शिक्षा को सामाजिक संघर्ष की वृहत्तर परिधि में रखने की सलाह देते हैं। उनके अनुसार अच्छी शिक्षा किसी सामूहिक (वह भी संघर्षशील) कार्यक्रम के प्रसंग में ही पाई या दी जा सकती है, एकांत में बैठकर नहीं। साक्षरता के संदर्भ में फ्रेरा के शिक्षणशास्त्र का एक तकनीकी पक्ष भी है, लेकिन वह तकनीकी पक्ष सामाजिक आंदोलन वाले पक्ष की तुलना में काफ़ी गौण है। यह भी सच है कि आंदोलन वाले पहलू की अवहेलना करने वाले सरकारी और गैर-सरकारी कार्यक्रम प्रायः तकनीकी पक्ष पर अपना पूरा ध्यान और प्रयास केंद्रित करके फ्रेरा के शिक्षादर्शन का विकृत और भ्रामक रूप प्रचारित करते रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे कार्यक्रमों में कोई जोखिम नहीं होता, न ही लंबे समय तक चल सकने वाला ज़िम्मेदारी का भाव रहता है। ऐसे कार्यक्रम अंततः साक्षरता और शिक्षण को उत्पीड़न पर आधारित समाजतंत्र के पोषण का ज़रिया बनाकर छोड़ते हैं।

दुनिया के कई देशों में, जिनमें भारत भी शामिल है, फ्रेरा के चिंतन का दुरुपयोग काफ़ी बड़े पैमाने पर हुआ है। फ्रेरा का अपना जीवन हमें इस दुरुपयोग की पहचान कराने के लिए पर्याप्त है। अपने शैक्षणिक काम के लिए जेल और देश निकाले की सज़ा भुगतने वाले आदमी के रूप में फ्रेरा शिक्षा के विश्व इतिहास में निराले हैं। क्यूबा, निकारागुआ, मोजांबिक और गिनी-बिसाऊ समेत तीसरी दुनिया के अनेक समाजों में फ्रेरा का दर्शन क्रांतिकर्म की कसौटी पर चढ़कर निखरता रहा है। उनके दर्शन की यह आधार-पुस्तक हिंदी प्रांतों में शैक्षिक विमर्श और कर्म की नई राहें छोड़ेगी, यह विश्वास लेकर चलने में मुझे कोई संकोच नहीं है।

दिल्ली विश्वविद्यालय
26 जनवरी, 1996

कृष्ण कुमार

अनुवादक की ओर से

पॉलो फ्रेरा हमारे समय के एक महान शिक्षक और शिक्षाशास्त्री हैं, जिन्होंने दुनिया-भर के प्रगतिशील, जनवादी और समाजवादी शिक्षकों की एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया है। उत्पीड़ितों की मुक्ति के लिए सामाजिक रूपांतरण की आवश्यकता और उसमें शिक्षा की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका को पहचान कर उन्होंने अपने आचरण (चिंतन और कर्म) से उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र का निर्माण किया है, जो शिक्षा की एक पद्धति मात्र नहीं, बल्कि शिक्षा का दर्शन और सांस्कृतिक कर्म का सिद्धांत है।

लैटिन अमरीका के सबसे बड़े और सबसे अधिक आबादी वाले देश ब्राज़ील के रेसिफे नामक नगर में 1921 में जनमे पॉलो फ्रेरा को बचपन से ही सामंतवादी, पूंजीवादी, साम्राज्यवादी, नस्लवादी और फ़ासीवादी उत्पीड़न के विभिन्न रूप देखने को मिले। वे एक निम्न-मध्यवर्गीय ईसाई परिवार में पैदा हुए और बाद में कैथोलिक चर्च से संबद्ध एक धार्मिक व्यक्ति भी रहे, लेकिन ईश्वर और ईसामसीह में आस्था रखते हुए भी उन्होंने वर्ग, नस्ल, लिंग, रंग और देशी-विदेशी के आधार पर किए जाने वाले सामाजिक भेदभाव को ईश्वर की लीला या नियति का खेल नहीं माना। 1929 से 1933 तक के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के समय जब साम्राज्यवादी लूट के कारण ब्राज़ील की अर्थव्यवस्था तबाह हो गई थी, फ्रेरा का परिवार दरिद्रता की स्थिति में पहुंच गया। उन दिनों को याद करते हुए फ्रेरा ने एक साक्षात्कार में कहा है :

> मेरे परिवार के पास प्रायः खाने के लिए पर्याप्त भोजन नहीं होता था। मैं स्कूल में पिछड़ गया। इसके पहले हमारे परिवार की स्थिति कामगार और मध्यवर्ग के बीच की थी। मेरे ऐसे भी दोस्त थे, जो मुझसे कम खाते थे और मुझसे ज़्यादा फटे-पुराने कपड़े पहनते थे। मेरे ऐसे भी दोस्त थे, जो मुझसे ज़्यादा खाते थे और बेहतर कपड़े पहनते थे। इन दोनों स्थितियों को देखने के अनुभव का मुझ पर बड़ा गहरा असर पड़ा। मुझे लगा कि हमारे समाज के ढांचे में ही कोई न कोई बुनियादी गड़बड़ी है। मुझे अब भी उस समय का अपना यह प्रश्न याद है : यह कैसे हो सकता है कि ईश्वर कुछ लोगों को ग़रीब रखना चाहता है और कुछ लोगों को अमीर ? मेरी मां ने

> मुझे सिखाया था कि ईश्वर बहुत अच्छा है, इसलिए मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि समाज में जो वर्गभेद है, उसके लिए न ईश्वर को ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है, न नियति को, हालांकि इसका कोई संतोषजनक कारण मैं नहीं बता सकता। ग्यारह वर्ष की आयु में मैंने यह शपथ ली कि दुनिया से भूख को कम करने के लिए मैं हर संभव उपाय करूंगा।

बहुत संभव था कि दरिद्रता के कारण फ्रेरा अशिक्षित ही रह जाते, लेकिन संयोग से उन्हें रेसिफे के सर्वश्रेष्ठ स्कूल में शिक्षा मिली। उस संयोग का तथा अपने मन और जीवन पर पड़े उसके प्रभाव का वर्णन फ्रेरा ने इन शब्दों में किया है :

> मेरी मां मुझे किसी ऐसे स्कूल में प्रवेश दिलाना चाहती थी, जिसमें पैसा न देना पड़े। एक दिन वह इसी तलाश में दिन भर भटकती रही और लौट कर बोली—'बेटा, मुझे एक ऐसा आदमी मिला है, जो अपने स्कूल के दरवाज़े तुम्हारे लिए खोल देगा। पर उसकी एक शर्त है, और वह यह कि तुम पढ़ने-लिखने से प्यार करो।' उस व्यक्ति ने मुझे अपने स्कूल में दाखिल कर लिया, हालांकि मेरी मां से उसका कोई परिचय नहीं था। वह स्कूल शहर के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में से था। उस व्यक्ति ने अपने उदाहरण से मुझे दिखाया कि दूसरों से प्यार करना क्या होता है। उसी ने मुझे दूसरों की सहायता करने का महत्त्व समझाया। मुझे इस कथन पर कभी विश्वास नहीं हुआ कि 'मैंने अपना निर्माण स्वयं किया है।' दुनिया में कोई व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं नहीं करता। शहर के जिन कोनों में 'स्वनिर्मित' लोग रहते हैं, वहां बहुत-से अनाम लोग छिपे रहते हैं।

दूसरों से प्रेम करना, दूसरों की सहायता करना, पारस्परिक सहयोग से अपना और दूसरों का विकास करना—इन मूल्यों को पॉलो फ्रेरा ने अपने आचरण में तो उतारा ही, अपने शिक्षाशास्त्र की नींव भी इन्हीं पर रखी।

ब्राज़ील की तत्कालीन परिस्थितियों ने भी फ्रेरा के चिंतन और कर्म को प्रभावित किया। यह वह समय था, जब लैटिन अमरीका के प्रायः सभी देशों में क्रांतिकारी जन-आंदोलनों की लहर चल रही थी। ब्राज़ील में भी बहुत-से लोग स्वाधीनता और समाजवाद के स्वप्न देखते हुए देशी भूस्वामियों और पूंजीपतियों के अल्पतंत्र तथा विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। उधर देशी अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद मिल कर फ़ासिस्ट तानाशाहियों के जरिए जन-आंदोलनों का दमन कर रहे थे। 1929-33 के आर्थिक संकट के समय, जब ब्राज़ील की अर्थव्यवस्था चरमरा रही थी, साम्राज्यवादी लूट और ज़्यादा बढ़ गई थी। उद्योग-धंधे चौपट हो गए थे। भयंकर बेरोज़गारी फैल गई थी। भूख से लाचार बहुत-से लोग खुद को बेच कर गुलाम बनने को मजबूर हो गए थे। शोषण, दमन

और उत्पीड़न की मार किसानों और मज़दूरों पर ही नहीं, मध्यवर्ग पर भी पड़ रही थी। यहां तक कि देशी पूंजीपति वर्ग भी संकट में था। लेकिन विदेशी पूंजी का सहयोगी होने के कारण वह साम्राज्यवाद का विरोध करने के बजाए अपने देश की जनता का ही दमन कर रहा था। फिर भी जनता जगह-जगह विद्रोह कर रही थी।

1934 में, जब पॉलो फ्रेरा तेरह वर्ष के थे, ब्राज़ील की कम्युनिस्ट पार्टी ने फ़ासीवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध मोर्चा बनाने के लिए जनता का आह्वान किया। फलस्वरूप 1935 में 'नेशनल लिबरेशन एलाएंस' नामक एक लोकप्रिय मोर्चा बना। क्रांति का खतरा देख देशी अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद के सेवक प्रेसीडेंट गेटूलियो वार्गास ने 'एलाएंस' पर प्रतिबंध लगा दिया। इसके बावजूद जन-आंदोलन बंद नहीं हुए। कई दूसरे नगरों की तरह फ्रेरा के नगर रेसिफे में भी सशस्त्र विद्रोह हुआ। हालांकि इन विद्रोहों को सख़्ती से कुचल दिया गया, फिर भी लोगों की क्रांतिकारी भावनाओं को नहीं कुचला जा सका। इन घटनाओं का प्रभाव फ्रेरा के किशोर मन पर भी पड़ा।

फ्रेरा स्वयं गोरे हैं (हालांकि वे कहते हैं कि "मैं देखने में ही गोरा हूं, क्योंकि मैं अपने गोरेपन के बारे में आश्वस्त नहीं हूं।") लेकिन जब वे प्रभुत्वशाली गोरों को काले लोगों के साथ भेदभाव करते हुए, उन पर अत्याचार करते देखते थे तो उनका खून खौल उठता था। शारीरिक हिंसा से भी ज़्यादा बुरी लगती थी उन्हें वह मानसिक हिंसा, जिसका शिकार कालों को क़दम-क़दम पर होना पड़ता था। ("कुछ मामलों में तो कालों को पशुओं से भी गया-गुज़रा समझा जाता था। काले मनुष्यों की तुलना में गोरे अपने पालतू पशुओं से बेहतर व्यवहार करते थे।") अपनी युवावस्था में फ्रेरा ने कालों के विरुद्ध की जाने वाली शाब्दिक हिंसा पर विचार किया तो उन्होंने अपने भीतर आक्रोश की जगह चेतना का एक बदलाव महसूस किया। उन्होंने पाया कि ब्राज़ीली समाज बड़ी गहराई तक नस्लवादी और अन्यायपूर्ण समाज है। यह उत्पीड़नकारी समाज है और इसे बदला जाना चाहिए। इस चेतना के साथ फ्रेरा अन्याय और उत्पीड़न के सभी रूपों की आलोचना करने लगे।

1959 में फ्रेरा ने रेसिफे विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि ली और वहीं शिक्षा के इतिहास तथा दर्शन के प्रोफ़ेसर नियुक्त हो गए। 1959 में ही उनकी पहली पुस्तक पुर्तगाली भाषा में प्रकाशित हुई, जो आगे चल कर अंग्रेजी में 'एजूकेशन ऐज़ दि प्रैक्टिस ऑफ फ्रीडम' के नाम से प्रकाशित हुई। अभी तक उनका दृष्टिकोण मानवतावादी और सुधारवादी ही था, लेकिन इस बीच लैटिन अमरीका के अन्य अनेक देशों की तरह ब्राज़ील में भी काफ़ी उथल-पुथल हो चुकी थी। कर्ज़ और सहायता के रूप में आई हुई विदेशी पूंजी विकास के नाम पर ब्राज़ील का विनाश कर रही थी। एक मुख्यतः खेतिहर समाज औद्योगिक समाज

में बदला जा रहा था, लेकिन उद्योग लगा रही थीं उत्तरी अमरीका की बहुराष्ट्रीय कंपनियां, जो साम्राज्यवादी लूट को तो बढ़ा ही रही थीं, लूट को जारी रखने के लिए शासन में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप को भी बढ़ा रही थीं। जनता की हालत ख़राब थी। वह रह-रह कर विद्रोह कर उठती थी। जनता के विद्रोहों को दबाने के लिए तानाशाही ज़रूरी थी, लेकिन जब क्रांति का ख़तरा पैदा हो जाता था, छोटे-मोटे सुधारों या जनता को राहत देने के नाम पर तानाशाही को थोड़ा 'नरम' बनाने का प्रयास किया जाता था। अथवा एक तानाशाह को हटा कर दूसरे तानाशाह को बिठा दिया जाता था। लेकिन जनता के दबाव में आकर कोई तानाशाह सचमुच जनता को राहत देने वाले काम करता था, तो उसे हमेशा के लिए रास्ते से हटा दिया जाता था। गेटूलियो वार्गास के अंतिम शासनकाल में ऐसा ही हुआ। वार्गास ने अमरीकी साम्राज्यवाद की आलोचना की और जनता से आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों का वादा किया। ब्राज़ीली अल्पतंत्र और अमरीकी साम्राज्यवाद ने मिल कर उसे हटा दिया और उसने 1954 में आत्महत्या कर ली। उसके बाद जल्दी-जल्दी कई शासक बदले। इधर जन-आंदोलन तेज़ होते गए और ब्राज़ील की राजनीति में वामपंथ मजबूत हुआ। इस प्रक्रिया में बहुत-से बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद को अपनाया। पॉलो फ्रेरा भी उनमें से एक थे।

ईसाई धर्म और मार्क्सवाद एक साथ कैसे चल सकते हैं ? फ्रेरा से यह प्रश्न एक बार एक पत्रकार ने इस रूप में पूछा कि "आपके प्रेरणा-स्रोत कौन थे ?" फ्रेरा ने उत्तर दिया :

> "ईसामसीह महानतम शिक्षकों में से थे। एक शिक्षाशास्त्री के रूप में उन्होंने मुझे प्रभावित किया। मैं उनके अतिप्राकृत आयाम पर विचार नहीं कर रहा हूं। मैं उनके मानवीय पक्ष को लेता हूं। उनकी कथनी और करनी एक थी और वे प्यार करते थे। ईसामसीह से मैं मार्क्स की तरफ़ गया, किंतु इनमें से किसी पर प्रश्नचिह्न लगाने के अपने अधिकार को मैंने कभी नहीं छोड़ा। जिन लोगों के शब्दों की आप सराहना करते है, और प्यार करते हैं, उन्हें आप निगल नहीं सकते; बिना प्रश्नचिह्न लगाए उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते। मार्क्स ने मुझे उत्तेजित किया। मार्क्स ने मुझे ऐसे उपकरण दिए, जिनसे मैं समाज के अंतर्विरोधों को समझ सकता था। मार्क्स ने मुझे मुक्त किया ताकि मेरे मन में आक्रोश का संचार हो सके। इससे मुझे ईसामसीह के उस आक्रोश को समझने में मदद मिली, जिसके साथ उन्होंने कर वसूलने वालों को गिरजाघर से बाहर निकाल दिया था। सार्त्र, एरिक फ्रॉम, लुई अलथूज़र, माओ, मार्टिन लूथरकिंग और चे गुएरा ने मुझे प्रभावित किया। फ्रैंज फ़ैनॉन की पुस्तकों ने भी मुझे प्रभावित किया था—विशेष रूप से उनकी पुस्तक 'द रैचिड ऑफ द अर्थ' ने।"

ब्राज़ील की जल्दी-जल्दी बदलने वाली सरकारों में से एक थी अक्टूबर 1960 से अगस्त 1961 तक चली जैनिओ क्वाड्रोस की सरकार। क्वाड्रोस ने राष्ट्रीय हित में काम करने की कोशिश की तो ब्राज़ीली अल्पतंत्र और अमरीकी साम्राज्यवाद ने उसे भी हटा दिया। उस समय उप-राष्ट्रपति था जोआओ गोलार्ट, जो वर्कर्स पार्टी का नेता था और अपने वामपंथी रुझान के कारण जनता में बड़ा लोकप्रिय था। ब्राज़ीली अल्पतंत्र और अमरीकी साम्राज्यवाद ने उसे सत्ता में आने से रोकने की बहुत कोशिश की, लेकिन ब्राज़ील के सभी जनतांत्रिक दल, जिनमें कम्युनिस्ट और समाजवादी दल भी थे, गोलार्ट के समर्थक थे। उसे मध्यवर्ग के व्यापक हिस्सों और राष्ट्रवादी पूंजीपतियों का भी समर्थन प्राप्त था। सेना में भी उसके काफ़ी समर्थक थे। अतः प्रतिक्रियावादी उसे सत्ता में आने से नहीं रोक सके। गोलार्ट के नेतृत्व में एक व्यापक जनवादी राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी, जिसने संविधान में कई प्रगतिशील संशोधन किए, सोवियत संघ से कूटनीतिक संबंध कायम किए, क्रांतिकारी क्यूबा के प्रति मैत्री का रुख अपनाया और ब्राज़ील में विदेशी इज़ारेदारियों की गतिविधियों पर कुछ रोक लगाने की कोशिश की। हालांकि जनवादी शक्तियों में अपेक्षित एकता न होने के कारण प्रतिक्रियावादियों ने सेना के जरिए इस सरकार का तख़्ता पलटवा दिया, फिर भी 1961 से 1964 तक के अपने समय में इस सरकार ने जनहित के कई काम किए। इन जनहितकारी प्रगतिशील कामों में से एक था राष्ट्रीय साक्षरता अभियान, जिसमें प्रगतिशील और जनवादी शिक्षकों तथा बुद्धिजीवियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। पॉलो फ़्रेरा ने भी इस अभियान में उत्साहपूर्वक काम किया था।

राष्ट्रीय साक्षरता अभियान के तहत फ्रेरा को देश के विभिन्न भागों में जाकर जनता के बीच काम करने का अवसर मिला और उन्होंने उत्पीड़न के विभिन्न रूपों को और ज़्यादा निकटता तथा गहराई से देखते हुए उनका विश्लेषण किया। शिक्षा से जनता और शासक वर्ग के संबंध पर विचार करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिक्षा भी राजनीति है। और जिस प्रकार राजनीति वर्गीय होती है, शिक्षा भी वर्गीय होती है। अतः उत्पीड़ितों की शिक्षा और उसकी पद्धति प्रभुत्वशाली अभिजनों की उस शिक्षा से भिन्न होनी चाहिए, जिसका उद्देश्य प्रभुत्व और उत्पीड़न की व्यवस्था को बनाए रखना है। उत्पीड़ितों की शिक्षा तो उत्पीड़न की व्यवस्था को समाप्त और उत्पीड़ितों को मुक्त करने वाली होनी चाहिए। फ्रेरा ने ब्राज़ील के राष्ट्रीय साक्षरता अभियान में जनता का आह्वान किया कि वह शिक्षा को क्रांतिकारी बना कर क्रांतिकारी शिक्षा प्राप्त करे।

जो सरकार ऐसे क्रांतिकारी चिंतन और कर्म को प्रोत्साहन दे रही हो, वह भला देशी-विदेशी लुटेरों और उत्पीड़कों को कैसे रास आ सकती थी ! उन्होंने 1964 में गोलार्ट सरकार का तख़्ता पलटवा दिया और सैनिक तानाशाही क़ायम

करा दी। सैनिक प्रशासन ने अमरीकी 'सहायता' से ब्राज़ील का आधुनिकीकरण शुरू किया और साथ ही शुरू किया ऐसा राजनीतिक दमन, जैसा ब्राज़ील के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। जनतांत्रिक अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया। असंख्य लोगों को जेलों में डाल कर यातनाएं दी गईं या मार डाला गया। सबसे पहली गाज गिरी शिक्षा पर। सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों से संबद्ध शिक्षकों को, जिनमें आम लोगों के अलावा पादरी और प्रोफ़ेसर भी थे, सबसे पहले पकड़ा गया। उनमें पॉलो फ्रेरा भी थे। उन्हें पहले तो पकड़ कर जेल में डाल दिया गया और फिर देश से निर्वासित कर दिया गया।

अपने निर्वासन के दौरान फ्रेरा चिली, क्यूबा, निकारागुआ, पुर्तगाल, अंगोला, तंजानिया, गिनी-बिसाऊ आदि कई देशों में रहे और उन्होंने अनेक देशों के साक्षरता-कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। 1980 में, जब ब्राज़ील में सत्ता-परिवर्तन हुआ और 1964 के दमन के शिकार तमाम लोगों को आम माफ़ी दे दी गई थी, फ्रेरा अपने देश लौटे। तब तक वे विश्वप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और अत्यंत लोकप्रिय तथा आदरणीय व्यक्ति बन चुके थे। निर्वासन के दौरान ही लिखी गई उनकी पुस्तक 'पैडागॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड' (उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र) अंग्रेज़ी तथा अन्य अनेक भाषाओं में अनूदित होकर दुनिया भर में धूम मचा चुकी थी। इस बीच उन्होंने जिनेवा में रह कर वर्ल्ड काउंसिल ऑफ चर्चेज़ की शिक्षाशाखा के लिए कार्य किंया और लगभग संपूर्ण विश्व का भ्रमण किया जिसके दौरान उन्होंने भारत की भी यात्रा की। स्वदेश लौट कर फ्रेरा पुनः शिक्षा संबंधी कार्यों में लग गए और लगभग दस वर्ष बाद साओ पाउलो नगर के मार्क्सवादी मेयर ने जब उन्हें शिक्षा-सचिव का पद संभालने के लिए आमंत्रित किया, तो सड़सठ वर्ष की पकी उम्र के बावजूद, उन्होंने यह पद स्वीकार कर लिया। आज चौहत्तर वर्ष की उम्र में भी फ्रेरा शिक्षा संबंधी कार्यों में सक्रिय हैं।

फ्रेरा ने बहुत लिखा है। कुछ पुस्तकें उन्होंने स्वयं लिखी हैं, जैसे 'पैडागॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड' (1970), 'कल्चरल एक्शन फॉर फ्रीडम' (1970), 'एजूकेशन फॉर क्रिटिकल कांशसनेस' (1973), 'एजूकेशन : द प्रैक्टिस ऑफ फ्रीडम' (1976), 'पैडागॉजी इन प्रोसेस' (1978) और 'द पॉलिटिक्स ऑफ एजूकेशन' (1985) और कई पुस्तकें उन्होंने दूसरों के साथ बातचीत करते हुए बोल कर लिखवाई हैं, जैसे ईरा शोर के साथ 'ए पैडागॉजी फॉर लिबरेशन' (1987), डोनाल्डो मैकेडो के साथ 'लिटरेसी : रीडिंग द वर्ड एंड द वर्ल्ड' (1987), एंटोनियो फोंडेज के साथ 'लर्निंग टु क्वैश्चन : ए पैडागॉजी ऑफ लिबरेशन' (1989) और माइलेस हॉर्टन के साथ 'वी मेक द रोड बाइ वाकिंग : कनवर्सेशंस इन एजूकेशन एंड सोशल चेंज' (1990)।

लेकिन उनकी विश्वव्यापी कीर्ति का आधार 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' ही है, जो बीस-पच्चीस वर्षों में ही एक क्लासिक रचना बन गई है और जिसने शिक्षा

के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, साहित्य, शोध और आलोचना आदि अनेक क्षेत्रों में दुनिया-भर के लोगों को प्रभावित किया है।

इसका आधारभूत विचार यह है कि जिस समाज में प्रभुत्वशाली अभिजनों का एक अल्पतंत्र बहुसंख्यक जनता पर शासन करता है, वह अन्यायपूर्ण तथा उत्पीड़नकारी समाज होता है। ऐसे समाज की व्यवस्था मनुष्यों को वस्तुओं में बदल कर उन्हें अमानुषिक बनाती है, जबकि मनुष्यों का ऐतिहासिक और अस्तित्वमूलक कर्तव्य पूर्णतर मनुष्य बनना है। ऐसी व्यवस्था में उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों अमानुषिक होते हैं। दोनों का मानुषीकरण आवश्यक है, किंतु उत्पीड़कों का अस्तित्व चूंकि प्रभुत्व पर ही निर्भर होता है, वे प्रभुत्व को त्याग नहीं सकते, बल्कि उसे क़ायम रखने का प्रयास करते हैं और इस प्रयास में अमानुषीकरण को और अधिक बढ़ाते हैं। अतः अपने तथा उत्पीड़कों के भी मानुषीकरण की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी उत्पीड़ितों पर है, जो स्वयं को अमानुषीकरण से मुक्त करते हुए उत्पीड़कों को भी उससे मुक्त करेंगे। उत्पीड़ितों की मुक्ति सामाजिक रूपांतरण से होगी और सामाजिक रूपांतरण में शिक्षा की क्रांतिकारी भूमिका है, क्योंकि शिक्षा महज ज्ञान का लेन-देन नहीं, बल्कि ऐतिहासिक रूप से आवश्यक राजनीतिक गतिविधि तथा क्रांतिकारी सांस्कृतिक कर्म है। शिक्षित होने का मतलब उत्पीड़नकारी व्यवस्था में ही अपनी एक जगह बना लेना नहीं, बल्कि मनुष्य बनना है और पूर्णतर मनुष्य तभी बना जा सकता है, जब अमानुषिक बनाने वाले उत्पीड़नकारी यथार्थ को बदला जाए। अतः शिक्षा सामाजिक रूपांतरण के लिए किया जाने वाला नैतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कर्म है, जिसमें शिक्षक (क्रांतिकारी नेता) और छात्र (जनता) परस्पर संवाद और संप्रेषण करते हुए यथार्थ पर चिंतन और कर्म (आचरण) करते हैं। शिक्षा की इस पद्धति और प्रक्रिया में शिक्षक 'छात्रों का शिक्षक' नहीं रहता और छात्र 'शिक्षक के छात्र' नहीं रहते, बल्कि दोनों एक-दूसरे को शिक्षित करने वाले तथा शिक्षित होने वाले 'शिक्षक-छात्र' और 'छात्र-शिक्षक' बन जाते हैं। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के साथ अपना तथा समाज का रूपांतरण करते हैं।

इस पुस्तक को इतनी जल्दी और इतनी भारी लोकप्रियता क्यों प्राप्त हुई, इसके कई कारण बताए जाते हैं। उदाहरण के लिए पीटर मैकलारेन और पीटर लियोनार्ड द्वारा संपादित पुस्तक 'पॉलो फ्रेरा : ए क्रिटिकल एनकाउंटर' (1993) में संकलित कार्लोस अल्बर्टो टोरेंस के लेख 'द पोलिटिकल पैडागॉजी ऑफ पॉलो फ्रेरा' में इसके कुछ कारण बताए गए हैं। पहला तो यह कि फ्रेरा के विचारों में अपने समय की प्रमुख प्रभावशाली विचारधाराओं—जैसे ऐतिहासिक भौतिकवाद, हेगेलीय द्वंद्ववाद, अस्तित्ववाद और दृश्यप्रपंचशास्त्र (फ़िनोमिनोलॉजी)—के विकसित रूपों का नवोन्मेषकारी संश्लेषण मिलता है, जिसे ईसाई धर्म की प्रगतिशील मान्यताओं की

संगति में एक कुशल लेखक द्वारा दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। अतः इस पुस्तक को शिक्षकों, समाजविज्ञानियों, धर्मविज्ञानियों और राजनीतिक संघर्षकारियों में समान लोकप्रियता प्राप्त हुई। दूसरा यह कि यह पुस्तक उस समय लिखी गई, जब लैटिन अमरीका में वर्ग-संघर्ष की राजनीति बड़े सघन रूप में चल रही थी। यह क्यूबा की क्रांति (1959-61) के सफल होने और उस क्षेत्र में पहली समाजवादी सरकार की स्थापना (1962) का समय था। अफ्रीका और लैटिन अमरीका में जगह-जगह मुक्ति-आंदोलन चल रहे थे और प्रगतिशील तथा वामपंथी शक्तियों की स्थिति मजबूत हो रही थी। क्यूबा की क्रांति से घबरा कर (अर्थात् अन्य देशों में वैसी क्रांति न होने देने के लिए) उत्तरी अमरीका के कैनेडी प्रशासन ने 'एलाएंस फॉर प्रोग्रेस' की परियोजना के तहत दक्षिणी अमरीका के देशों में आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक कार्यक्रम चलाने के लिए अपनी तिजोरियां खोल दी थीं। ब्राज़ील का राष्ट्रीय साक्षरता अभियान भी उसी पैसे से चलाया गया था। तीसरा और शायद सबसे बड़ा कारण यह था कि फ्रेरा के विचारों को कैथोलिक चर्च का समर्थन प्राप्त था। 1965 की दूसरी वेटिकन काउंसिल के बाद कैथोलिक चर्चों में (और कुछ अन्य चर्चों में भी) सामाजिक-सांस्कृतिक नीति और रणनीति को व्यापक बनाने के लिए कुछ विचारधारात्मक परिवर्तन किए गए थे, जिनकी अनुगूंजें फ्रेरा के विचारों में स्पष्ट सुनाई पड़ती थीं। 1963 में ब्राज़ील में हुए ईसाई धर्माध्यक्षों के राष्ट्रीय सम्मेलन में फ्रेरा की साक्षरता की पद्धति को चर्च के शैक्षिक कार्यक्रमों के लिए आधिकारिक रूप से स्वीकार किया गया था और 1970 में जिनेवा की वर्ल्ड काउंसिल ऑफ चर्चेज़ ने फ्रेरा को अपने शिक्षा विभाग के सलाहकार के रूप में नियुक्त किया था और इस नाते भी फ्रेरा की इस पुस्तक को व्यापक प्रचार मिला था।

इन कारणों को ही 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' की लोकप्रियता का आधार माना जाए तो यह संदेह उत्पन्न हो सकता है कि पॉलो फ्रेरा की लोकप्रियता कहीं प्रतिक्रियावादियों के प्रायोजित प्रचार का परिणाम तो नहीं ? लेकिन तब उपर्युक्त लेख में ही लिखी गई इस बात का कोई तर्कसंगत उत्तर मिलना मुश्किल हो जाएगा कि 'इस बीच फ्रेरा के समस्या-उठाऊ शिक्षा दर्शन की पद्धति लैटिन अमरीका के प्रगतिशील शिक्षकों में लोकप्रिय होती गई और उरुग्वे, अर्जेंटीना, मैक्सिको, चिली, पेरू और इक्वेडोर जैसे अनेक देशों के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों में अपना ली गई।' इतना ही नहीं, इसी लेख में यह भी लिखा गया है कि 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' की मुख्य अवधारणाएं और 'विवेकीकरण' तथा 'आलोचनात्मक चेतना' जैसे शब्द दुनिया भर के समाजवादी समूहों के राजनीतिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम की शक्ति बन गए हैं। अतः इस प्रकार का संदेह अनुचित है।

हां, इस मामले में फ्रेरा की ही इस बात को याद रखना ज़रूरी है कि शिक्षा

भी राजनीति है। राजनीति में अक्सर यह होता है कि प्रभुत्वशाली वर्ग अपने विरोधी क्रांतिकारी वर्गों के संघर्ष के तरीक़ों को बेअसर बनाने के लिए उन्हें हजम करके अपने उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर लेता है। क्रांतिकारी विचारों को भी वह पहले तो उपेक्षा या दमन से मार डालने की कोशिश करता है, लेकिन जब इसमें कामयाब नहीं हो पाता तो उन्हें तोड़-मरोड़ कर अपने अनुकूल बना लेने की कोशिश करता है। इसका एक जाना-पहचाना तरीक़ा है क्रांतिकारी विचार को एक पद्धति में सीमित कर देना और अपने हित में उसका इस्तेमाल कर लेना। जिस प्रकार बहुत-से प्रतिक्रियावादी रंगकर्मी बर्तोल ब्रेश्ट के रंग-दर्शन को 'पार्थक्य-प्रभाव' की पद्धति में ही सीमित कर देते हैं, उसी प्रकार उत्पीड़नकारी व्यवस्था की सेवा करने वाले बहुत-से शिक्षक और शिक्षाशास्त्री उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र को केवल 'संवादात्मक पद्धति' में सीमित करके इस्तेमाल करने की कोशिश करते हैं। प्रौढ़ शिक्षा और राष्ट्रीय साक्षरता अभियान सरीखी चीजों का उपयोग सामाजिक रूपांतरण के लिए किया जा सकता है, तो सामाजिक रूपांतरण को रोकने के लिए भी किया जा सकता है। भारत में आज ऐसी चीज़ों का क्या उपयोग हो रहा है, हम देख ही रहे हैं। अतः पॉलो फ्रेरा के शिक्षादर्शन को शिक्षा की संवादात्मक पद्धति मात्र बना कर हजम कर लेने के प्रयास किए जाते हैं, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन मुक्तिदाई शिक्षा द्वारा सामाजिक रूपांतरण में संलग्न लोगों के लिए 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' एक प्रेरणादाई, उपयोगी और आवश्यक पुस्तक है, इसमें संदेह नहीं।

सोवियत संघ के विघटन के बाद समाजवाद में आस्था रखने वाले लोगों के बीच जो निराशा फैली या फैलाई जा रही है, उसके माहौल में पॉलो फ्रेरा का आशावादी स्वर एक प्रेरणा के रूप में अलग से गूंजता सुनाई पड़ता है। निराशा फैलाने वालों में वे उत्तर-आधुनिकतावादी सबसे आगे हैं, जो यह बताया करते हैं कि समाजवाद और मार्क्सवाद का अंत हो गया है। और आज की दुनिया के पास पूंजीवाद के अलावा कोई विकल्प नहीं रह गया है। हालांकि वे फ्रेरा को ज़बर्दस्ती अपने साथ खड़ा करके उनके विचारों को पूंजीवाद की सेवा में नियुक्त कर लेने की कोशिश करते हैं, लेकिन यह संभव नहीं है। फ्रेरा शुरू से ही क्रांति और समाजवाद में जनवाद और मानववाद के साथ आगे बढ़ने की ज़रूरत पर ज़ोर देते रहे हैं (और सोवियत संघ के विघटन से उनके विचार सत्य सिद्ध हुए हैं) लेकिन मानुषीकरण के लिए सामाजिक रूपांतरण और उसके लिए उत्पीड़ितों के विवेकीकरण की जो प्रक्रिया वे शैक्षिक कर्म के लिए अपरिहार्य बताते हैं, वह उसे उत्पीड़नकारी पूंजीवादी व्यवस्था के पक्ष में हरगिज़ नहीं जाने दे सकती। उनका शिक्षाशास्त्र कोई ऐसा निर्जीव अधियार नहीं है कि उसे जो चाहे इस्तेमाल कर ले।

इस पुस्तक का अनुवाद हिंदी में बहुत पहले हो जाना चाहिए था, लेकिन

अब भी कोई ज़्यादा देर नहीं हुई है, बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है कि आज के भारतीय संदर्भ में इसकी ज़रूरत और उपयोगिता पहले से भी कहीं ज़्यादा बढ़ गई है। यह तथ्य उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि भारतीय जनता की मुक्ति केवल राजनीति से नहीं होगी; मुक्ति की राजनीति में नैतिक और सांस्कृतिक आयाम जोड़ने ही होंगे। इसके लिए मुक्तिदाई शिक्षा अनिवार्य होगी और उसमें पॉलो फ्रेरा की यह महान रचना असंदिग्ध रूप से उपयोगी होगी। मुझे इस पुस्तक के शब्दों की सच्चाई और ईमानदारी ने बहुत प्रभावित किया है। आशा करता हूं कि इस अनुवाद के पाठक भी उससे प्रभावित होंगे।

मैं मित्रवर डॉ. श्यामबिहारी राय का आभारी हूं कि उन्होंने आग्रहपूर्वक मेरे सृजनात्मक लेखन को कुछ दिनों के लिए मुल्तवी करा कर मुझे एक बार फिर यह अनुभव करने का अवसर दिया कि एक अच्छी पुस्तक का अनुवाद किसी मौलिक रचना से कम सुख और संतोष देने वाला नहीं होता। इस काम में प्रत्यक्षतः सुधा, प्रज्ञा, संज्ञा और अंकित ने मेरी सहायता की है और परोक्षतः कमलिनी, कुबेर और कुंजु ने। लेकिन ये सब इतने अपने हैं कि शब्दों में इनका आभारी नहीं हुआ जा सकता। अतः यह अनुवाद मैं इन्हीं को समर्पित करता हूं।

रमेश उपाध्याय

15 अगस्त, 1995
107, साक्षरा अपार्टमेंट्स,
ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110063

भूमिका

'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' का परिचय देने वाले ये पृष्ठ मैं अपने उन अवलोकनों के आधार पर लिख रहा हूं, जो मैंने पिछले छह वर्षों के अपने राजनीतिक निर्वासन के दौरान किए हैं। इनसे मेरे उन अवलोकनों की पुष्टि हुई है, जो मैंने ब्राज़ील में शिक्षा संबंधी कार्य करते समय किए थे।

मैंने 'विवेकीकरण'[1] की भूमिका का विश्लेषण करने वाले प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में, और सच्ची मुक्तिदाई शिक्षा में किए गए वास्तविक प्रयोगों के दौरान भी, 'स्वतंत्रता के भय' का सामना किया है, जिसकी चर्चा इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में की गई है। ऐसे अवसर कम नहीं आते, जब प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के सहभागी 'विवेकीकरण' के ख़तरे की तरफ़ कुछ इस तरह ध्यान दिलाते हैं कि उससे उनका अपना ही 'स्वतंत्रता का भय' प्रकट होता है। उनमें से कुछ यह कहते हैं कि आलोचनात्मक चेतना अराजक होती है, तो कुछ इसमें यह भी जोड़ देते हैं कि आलोचनात्मक चेतना अव्यवस्था की ओर ले जा सकती है। लेकिन कुछ सहभागी स्वीकार करते हैं कि "झूठ क्यों बोलूं ? मैं स्वतंत्रता से डरता था लेकिन अब मैं नहीं डरता।"

एक बार इस प्रकार की चर्चा के दौरान सहभागियों की टोली इस बात पर बहस कर रही थी कि अन्याय के किसी ख़ास मामले के बारे में लोगों को विवेकवान बनाना कहीं उन्हें 'विध्वंसक मतांधता' की ओर अथवा 'उनकी दुनिया के पूरी तरह ढह जाने की अनुभूति' की ओर तो नहीं ले जाएगा। इनमें से एक आदमी पहले कई वर्षों तक कारख़ाने का मज़दूर रह चुका था, उसने बहस के बीच में कहा कि "यहां मज़दूर वर्ग से आया हुआ मैं एकमात्र आदमी हूं। कह नहीं सकता कि अभी आपने जो कहा, उसे मैं पूरी तरह समझ पाया हूं, लेकिन एक बात मैं कह सकता हूं : जब मैंने इस पाठ्यक्रम में भाग लेना शुरू किया था, मैं भोला था; और जब मैंने जान लिया कि मैं कितना भोला हूं, तो मैं *आलोचनात्मक* होने लगा। लेकिन मेरी इस खोज ने न तो मुझे मतांध बनाया और न इससे मुझे कोई दुनिया ही ढहती नजर आती है।"

विवेकीकरण के संभावित प्रभावों से संबंधित शंक. को, शंकालु व्यक्ति कई बार स्पष्ट नहीं करता, लेकिन उसकी शंका का आधार यह होता है : अन्याय के

शिकार लोग स्वयं को अन्याय का शिकार न समझें तो बेहतर। तथ्य यह है कि विवेकीकरण मनुष्यों को 'विध्वंसक मतांधता' की ओर नहीं ले जाता। इसके विपरीत विवेकीकरण से तो यह संभव होता है कि ऐसे लोग ऐतिहासिक प्रक्रिया में ज़िम्मेदार कर्ताओं[2] के रूप में प्रवेश करें। विवेकीकरण उन्हें अपनी अभिपुष्टि की खोज में लगाता है और इस प्रकार उन्हें मतांधता से बचाता है :

> आलोचनात्मक चेतना का उदय सामाजिक असंतोषों की अभिव्यक्ति की ओर ले जाता है, क्योंकि ये असंतोष ही दरअसल किसी उत्पीड़नकारी स्थिति के असली संघटक होते हैं।[3]

आवश्यक नहीं कि स्वतंत्रता से भयभीत रहने वाला व्यक्ति इस भय के प्रति सचेत भी हो, लेकिन इसके कारण वह आतंकित अवश्य रहता है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में सुरक्षा प्राप्त करने के प्रयास की शरण ले रहा होता है, जिसे वह स्वतंत्रता के लिए जोखिम उठाने से बेहतर समझता है। हेगेल ने 'फ़िनोमिनोलॉजी ऑफ माइंड' में इसको प्रमाणित करते हुए लिखा है :

> स्वतंत्रता जान जोखिम में डाल कर ही पाई जा सकती है।...वह व्यक्ति, जिसने अपना जीवन दांव पर नहीं लगाया है, निस्संदेह एक *व्यक्ति* तो माना जा सकता है; लेकिन वह एक स्वाधीन आत्मचेतना के रूप में इस मान्यता के सत्य को उपलब्ध नहीं कर सका है।

लेकिन लोग अपने स्वतंत्रता के भय को खुल कर स्वीकार नहीं करते। इसके बजाए वे उसे ढंकने या छिपाने की चेष्टा करते हैं और यह चेष्टा—कभी-कभी अनजाने ही—स्वयं को स्वतंत्रता के रक्षकों के रूप में प्रस्तुत करके की जाती है। वे अपने संदेहों और आशंकाओं को ऐसी गुरु-गंभीर मुद्रा में प्रस्तुत करते हैं कि लगता है, जैसे स्वतंत्रता के अभिरक्षक ये ही हैं। लेकिन वे स्वतंत्रता और यथास्थिति को बनाए रखने में फ़र्क़ नहीं करते, ताकि जब विवेकीकरण से यथास्थिति पर प्रश्नचिह्न लगने का ख़तरा पैदा होने लगे तो ऐसा मालूम हो कि मानो स्वतंत्रता के ही लिए ख़तरा पैदा हो गया है।

'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' की रचना केवल चिंतन और अध्ययन से नहीं हुई। इसकी जड़ें ठोस स्थितियों में हैं और इसमें उन श्रमिकों (चाहे वे किसान हों या शहरी मज़दूर) की तथा उन मध्यवर्गीय लोगों की प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया गया है, जिनका मैंने अपने शैक्षिक कार्य के दौरान प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवलोकन किया है। इस अवलोकन के जारी रहने से मुझे यह अवसर मिलेगा कि मैं इस परिचयात्मक पुस्तक में प्रस्तुत किए गए विचारों को परिमार्जित या परिपुष्ट कर सकूं।

प्रस्तुत पुस्तक बहुत-से पाठकों के मन में शायद नकारात्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करेगी। कुछ पाठक मानवमुक्ति की समस्या से संबंधित मेरे दृष्टिकोण को शुद्ध आदर्शवादी मानेंगे। यह भी हो सकता है कि वे सत्तामूलक कर्तव्य, प्रेम, संवाद, आशा, विनम्रता और सहानुभूति की चर्चा को निरी प्रतिक्रियावादी 'बकबक' ही समझें। कुछ दूसरे पाठक उत्पीड़कों को परितोष देने वाली उत्पीड़नकारी स्थिति की मेरे द्वारा की गई भर्त्सना को स्वीकार नहीं करेंगे (या करना नहीं चाहेंगे)। अतः यह पुस्तक, जिसके विषय में पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि यह एक प्रारंभिक अथवा कामचलाऊ रचना है, आमूल-परिवर्तनवादियों के लिए है। मुझे पक्का विश्वास है कि ईसाई और मार्क्सवादी, भले ही वे मुझसे अंशतः या पूर्णतः असहमत हों, इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़ेंगे। लेकिन वह पाठक, जो हठधर्मी के साथ बंद 'अविवेकी' दृष्टिकोण अपना चुका है, उस संवाद को ख़ारिज कर देगा, जिसके आरंभ होने की आशा मुझे इस पुस्तक से है।

संकीर्णतावाद, जो मतांधता पर पलता है, हमेशा नपुंसक बनाता है। आमूल-परिवर्तनवाद, जो आलोचनात्मक भावना से पुष्ट होता है, हमेशा सृजनात्मक होता है। संकीर्णतावाद मिथक गढ़ता है और उससे अलगाव पैदा करता है; आमूल-परिवर्तनवाद आलोचनात्मक होता है, इसलिए मुक्त बनाता है। आमूल-परिवर्तनवादीकरण में अपने लिए चुने गए दृष्टिकोण के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिबद्धता शामिल है और इस प्रकार उसमें ठोस, वस्तुपरक यथार्थ का रूपांतरण करने के प्रयास में उत्तरोत्तर अधिक संलग्नता भी शामिल है। इसके विपरीत, संकीर्णतावाद चूंकि मिथक गढ़ता है और अविवेकी होता है, इसलिए वह यथार्थ को एक मिथ्या (और इसीलिए अपरिवर्तनीय) 'यथार्थ' में बदल देता है।

संकीर्णतावाद किसी भी क्षेत्र का हो, मानवमुक्ति में बाधक होता है। उसका दक्षिणपंथी रूप अपने स्वाभाविक प्रतिपक्ष क्रांतिकारी के आमूल-परिवर्तनवादीकरण को उत्पन्न करने वाला होना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा हमेशा होता नहीं। कई बार ऐसा भी होता है कि दक्षिणपंथी संकीर्णतावाद की प्रतिक्रिया में क्रांतिकारी लोग भी संकीर्णतावाद के शिकार होकर प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। मगर इस संभावना के कारण आमूल-परिवर्तनवादी को अभिजनों का विनीत चाकर नहीं बन जाना चाहिए। मुक्ति की प्रक्रिया में संलग्न होने के कारण वह उत्पीड़क की हिंसा के सामने निष्क्रिय नहीं रह सकता।

दूसरी तरफ़, आमूल-परिवर्तनवादी कभी आत्मपरकतावादी नहीं होता। उसके लिए आत्मपरक पक्ष का अस्तित्व वस्तुपरक पक्ष के संदर्भ में ही होता है (अर्थात् उस ठोस यथार्थ के संदर्भ में, जो उसके विश्लेषण की वस्तु है)। इस प्रकार आत्मपरकता और वस्तुपरकता एक द्वंद्वात्मक एकता में परस्पर संबद्ध होकर कर्म के साथ ज्ञान को और ज्ञान के साथ कर्म को उत्पन्न करती हैं।

संकीर्णतावादी, चाहे वह किसी भी तरह का हो, अपने अविवेक से अंधा होने के कारण यथार्थ की गतिशीलता को देखता ही नहीं (या देख ही नहीं सकता)। या फिर वह उसकी ग़लत व्याख्या करता है। अगर वह द्वंद्वात्मक ढंग से सोचता भी है तो एक प्रकार की पालतू द्वंद्वात्मकता के साथ सोचता है। दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी, जिसे मैं पहले की अपनी एक रचना 'एडुकाकाओ कोमो प्रेटिका डा लिबर्डाडे' में 'जन्मजात संकीर्णतावादी' कह चुका हूं, ऐतिहासिक प्रक्रिया को धीमी कर देना चाहता है। वह समय को और इस प्रकार मनुष्यों को पालतू बना लेना चाहता है। वामपंथी से संकीर्णतावादी बना व्यक्ति द्वंद्वात्मक ढंग से यथार्थ और इतिहास की व्याख्या करने के प्रयास में पूरी तरह भटक जाता है और पतित होकर सारतः भाग्यवादी दृष्टिकोण अपना लेता है।

दक्षिणपंथी और वामपंथी संकीर्णतावादियों में फ़र्क़ यह होता है कि दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी वर्तमान को पालतू बनाना चाहता है, ताकि (वह आशा करता है कि) भविष्य इसी पालतू वर्तमान को पुनरुत्पन्न करे, जबकि वामपंथी संकीर्णतावादी भविष्य को पूर्व-स्थापित समझता है—एक प्रकार का अवश्यंभावी भवितव्य, सौभाग्य या नियति। दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी के लिए अतीत से जुड़ा हुआ 'आज' एक प्रदत्त और अपरिवर्तनीय-सी चीज़ होता है, जबकि वामपंथी संकीर्णतावादी के लिए 'आने वाला कल' पहले से ही नियत होता है, अटल रूप से पूर्वनिर्धारित होता है। ऐसे दक्षिणपंथी और ऐसे वामपंथी, दोनों प्रतिक्रियावादी होते हैं; क्योंकि इतिहास की अपनी-अपनी मिथ्या दृष्टि से चल कर दोनों कर्म के ऐसे रूप विकसित करते हैं, जिससे स्वतंत्रता का निषेध होता है। उनमें से एक 'सभ्य-शिष्ट' वर्तमान की, और दूसरा पूर्वनिश्चित भविष्य की कल्पना करता है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे दोनों हाथ पर हाथ रख कर बैठे हुए दर्शक बन जाते हैं (कि पहला वर्तमान के जारी रहने की अपेक्षा करता रहे और दूसरा पहले से ही 'ज्ञात' भविष्य के आगमन की प्रतीक्षा)। इसके विपरीत, ये लोग स्वयं को 'अवश्यंभाविता के घेरों' में बंद करके, जिनमें से ये कभी नहीं निकल पाते, अपना-अपना सत्य 'बनाते' हैं। यह उन मनुष्यों का सत्य नहीं होता, जो भविष्य का निर्माण करने के लिए संघर्ष करते हैं और उस निर्माण में निहित जोखिम उठाते हैं। न यह सत्य उन मनुष्यों का होता है, जो इस संघर्ष में कंधे से कंधा मिला कर लड़ते हैं और सीखते हैं कि उस भविष्य का निर्माण कैसे किया जाता है, जो कोई प्रदत्त वस्तु न होकर मनुष्यों द्वारा रची जाने वाली चीज़ है। दोनों प्रकार के संकीर्णतावादी इतिहास के प्रति ऐसा भाव रखते हैं, जैसे वे उसके स्वामी हों; लेकिन इसका परिणाम यह होता है कि वे जनता से कट जाते हैं, जो जनविरोधी हो जाने का ही एक और तरीक़ा है।

दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी 'अपने' सत्य में स्वयं को बंद कर लेता है तो वह

और कुछ नहीं, केवल अपनी स्वाभाविक भूमिका का ही निर्वाह करता है; लेकिन जब कोई वामपंथी संकीर्णतावादी बनता है तो वह अपने स्वभाव का ही निषेध करता है। लेकिन इन दोनों में से प्रत्येक चूंकि 'अपने' सत्य की ही परिक्रमा करता है, इसलिए उस सत्य पर प्रश्नचिह्न लगने पर ख़तरा महसूस करता है। इस प्रकार उनमें से प्रत्येक 'अपने' सत्य के अलावा बाक़ी सब कुछ को झूठ समझता है। जैसा कि पत्रकार मार्सियो मोराइरा अल्वेस ने एक बार मुझे बताया था, "उन दोनों का रोग है संदेह की अनुपस्थिति।"

मानवमुक्ति से प्रतिबद्ध आमूल-परिवर्तनवादी 'अवश्यंभाविता के घेरे' का बंदी नहीं बनता, जिसमें बंद हो जाने वाला व्यक्ति यथार्थ को भी अपने साथ क़ैद कर लेता है। इसके विपरीत, वह जितना अधिक आमूल-परिवर्तनवादी होता है, उतना ही अधिक वह यथार्थ में प्रवेश करता है, ताकि उसे बेहतर तौर पर जान कर उसका बेहतर रूपांतरण कर सके। विश्व का अनावरण होने पर वह उसे देखने, सुनने और उसका सामना करने से डरता नहीं है। वह जनता से मिलने और उसमें संवाद करने से नहीं डरता।[4] वह न तो स्वयं को इतिहास का या मनुष्यों का स्वामी समझता है, न उत्पीड़ितों का मुक्तिदाता; लेकिन वह इतिहास के अंतर्गत उनके पक्ष में लड़ने के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध अवश्य करता है।

उत्पीड़ितों की शिक्षा, जिसकी परिचयात्मक रूपरेखा आगामी पृष्ठों में प्रस्तुत की गई है, आमूल-परिवर्तनवादियों का कार्यभार है; संकीर्णतावादी यह काम नहीं कर सकते।

यदि इस पुस्तक के पाठक ग़लतियों को सुधारने, ग़लतफ़हमियों को दूर करने, कही गई बातों को गहराई प्रदान करने, और मुझसे अनदेखे रह गए पक्षों को बताने के लिए खुलकर मेरी आलोचना करेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी। संभव है, कुछ पाठक कहें कि क्रांतिकारी सांस्कृतिक कर्म की चर्चा करने का मुझे क्या अधिकार है, जिसका मुझे कोई ठोस अनुभव नहीं है। लेकिन यह तथ्य कि मैंने क्रांतिकारी कर्म में व्यक्तिगत रूप से भाग नहीं लिया है, मुझे इस विषय पर विचार करने के अयोग्य सिद्ध नहीं करता। इसके अलावा, संवादात्मक और समस्या-उठाऊ शिक्षा का प्रयोग करते हुए जन-शिक्षण का मेरा जो अनुभव रहा है, और उससे मैंने जो तुलनात्मक सामग्री-संपदा संचित की है, उसने मुझे चुनौती दी है कि मैं उन बातों को कहने की जोखिम उठाऊं, जो इस पुस्तक में कही गई हैं।

आशा करता हूं कि यह पुस्तक कम से कम इन चीज़ों की गवाही ज़रूर देगी : जनता पर मेरा भरोसा, और मनुष्यों में तथा एक ऐसे विश्व की रचना में मेरा विश्वास, जिसमें प्रेम करना आज की तुलना में अधिक आसान होगा।

यहां मैं अपनी पत्नी और 'पहली पाठक' एल्ज़ा के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना चाहता हूं, जिसने मेरे काम को, जो उसका भी काम है, समझा है

और उसके लिए मुझे प्रोत्साहित किया है। मैं अपनी मित्र-मंडली का भी आभारी हूं, जिसने इस पुस्तक की पांडुलिपि पढ़ कर अपने विचार मुझे बताए। कुछ नामों के छूट जाने की जोखिम उठाते हुए भी जोआओ डा वायगा कौटिंहो, रिचर्ड शाउल्ल, जिम लैंब, मायरा और जोवेलिनो रामोस, पॉलो डि टार्सो, अल्मिनो अफोंसो, प्लिनियो संपाइयो, अर्नानी मारिया फियोरि, मार्सेला गैजार्डो, जोसे लुई फियोरी और जोआओ जैकारियोटी का उल्लेख मुझे अवश्य करना चाहिए। अलबत्ता पुस्तक में जो बातें कही गई हैं, उनके लिए, ज़ाहिर है, मैं खुद ही ज़िम्मेदार हूं।

टिप्पणियां

1. 'विवेकीकरण' का अर्थ है सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अंतर्विरोधों को समझना और यथार्थ के उत्पीड़क तत्वों के विरुद्ध कर्म करना। विस्तार के लिए देखिए इसी पुस्तक का तीसरा अध्याय।—अनुवादक
2. 'कर्ताओं' का अर्थ है ऐसे मनुष्य, जो जानते हैं और कर्म करते हैं; उन मनुष्य रूपी *वस्तुओं* से वे भिन्न होते हैं, जिन्हें जाना जाता है और जिन पर कर्म किया जाता है।
3. मेरी पुस्तक 'एडुकाकाओ कोमो प्रेटिका डा लिबर्डाडे' की भूमिका में फ्रांसिस्को वेफर्ट का कथन।
4. रोज़ा लक्जेमबर्ग ने 'रिफ़ॉर्म ऑर रिवोल्यूशन' में लिखा है कि "जब तक सैद्धांतिक ज्ञान पार्टी के मुट्ठी भर 'अकादमीशियनों' का विशेषाधिकार बना रहता है, तब तक उनके भटक जाने का ख़तरा बना रहता है।—'द मार्क्सिस्ट्स' में सी. राइट मिल्स द्वारा उद्धृत।

पहला प्रकरण

अमानुषीकरण (डीह्यूमनाइजेशन) की समस्या को मूल्याश्रित (एक्सियोलॉज़िकल) दृष्टिकोण[1] से देखें तो यह हमेशा ही मनुष्य की केंद्रीय समस्या रही है, लेकिन अब इसका चरित्र एक ऐसी चिंता का हो गया है, जिससे बचा नहीं जा सकता।[2] मानुषीकरण (ह्यूमनाइजेशन) की चिंता करते ही हम अमानुषीकरण (डीह्यूमनाइजेशन) को समझने लगते हैं—केवल इस रूप में नहीं कि अमानुषीकरण संभव है, बल्कि इस रूप में भी कि यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है। मनुष्य जब अमानुषीकरण की व्याप्ति को देखता है तो स्वयं से पूछता है : क्या मनुष्य बनने की कोई व्यवहार्य संभावना है ? इतिहास के अंतर्गत, ठोस वस्तुपरक संदर्भों में, वह मनुष्य जो अभी अपूर्ण है और अपनी अपूर्णता को जानता है, अगर अमानुषिक हो सकता है तो मनुष्य भी बन सकता है।

हालांकि मानुषीकरण और अमानुषीकरण के ये दोनों विकल्प वास्तविक हैं, फिर भी मनुष्य का कर्तव्य मनुष्य बनना ही है। इस कर्तव्य का निरंतर निषेध किया जाता है, लेकिन इसके निषेध से इसकी अभिपुष्टि ही होती है। इसे अन्याय, शोषण, उत्पीड़न तथा उत्पीड़कों की हिंसा से बाधित किया जाता है, लेकिन उत्पीड़ितों की स्वतंत्रता और न्याय की आकांक्षा से तथा अपनी खोई हुई मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले संघर्ष से इसकी अभिपुष्टि भी होती रहती है।

अमानुषीकरण अधिक पूर्णता के साथ मनुष्य बनने के कर्तव्य में आड़े आने वाला एक विकार है। यह विकार अपनी छाप उन्हीं पर नहीं छोड़ता, जिनकी मनुष्यता को चुरा लिया गया है; यह उन पर भी (हालांकि एक भिन्न तरीक़े से) अपनी छाप छोड़ता है, जिन्होंने दूसरों की मनुष्यता को चुरा रखा है। यह विकार इतिहास के अंतर्गत उत्पन्न होता है, किंतु यह कोई ऐतिहासिक कर्तव्य नहीं है। अमानुषीकरण को ऐतिहासिक कर्तव्य मान लेना तो वास्तव में मानवद्वेषी सिनिकवाद की ओर अथवा पूर्ण हताशा की ओर ले जाएगा। फिर तो मानुषीकरण के लिए, श्रम की विमुक्ति के लिए, अलगाव पर विजय पाने के लिए तथा व्यक्तियों के रूप में मनुष्यों की अभिपुष्टि के लिए किए जाने वाले संघर्ष का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। यह संघर्ष तो संभव ही इसलिए होता है कि अमानुषीकरण एक

ठोस ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी कोई प्रदत्त नियति *नहीं,* बल्कि उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का परिणाम है, जो उत्पीड़कों को हिंसक बनाती है और बदले में उनकी यह हिंसा उत्पीड़ितों को अमानुषिक बनाती है।

चूंकि यह अधिक पूर्णता के साथ मनुष्य बनने के दौरान आ जाने वाला विकार है, इसलिए कमतर मनुष्य होना उत्पीड़ितों को देर-सबेर उनके विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित करता है, जिन्होंने उन्हें ऐसा बनाया। इस संघर्ष की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि उत्पीड़ित अपनी मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के प्रयास में (जो एक प्रकार से मनुष्यता का सृजन करना है) उत्पीड़कों के उत्पीड़क न बन जाएं, बल्कि दोनों को ही पुनः मनुष्य बनाने वाले बनें।

अतः उत्पीड़ितों का महान मानवतावादी और ऐतिहासिक कार्यभार है : स्वयं को और साथ ही अपने उत्पीड़कों को भी मुक्त करना। उत्पीड़क, जो अपनी सत्ता के बल पर उत्पीड़न, शोषण और बलात्कार करते हैं, अपनी इस सत्ता में वह शक्ति नहीं पा सकते, जो उत्पीड़ितों को या स्वयं उन्हीं को मुक्त कर सके। उत्पीड़ितों की कमज़ोरी में से निकलने वाली सत्ता में ही इतनी शक्ति होगी कि वह दोनों को मुक्त कर सके। उत्पीड़ितों की कमज़ोरी का आदर करते हुए उत्पीड़कों की सत्ता को 'नरम बनाने' का कोई भी प्रयास प्रायः हमेशा ही एक मिथ्या उदारता के रूप में सामने आता है। दरअसल, ऐसा प्रयास इससे आगे कभी जाता ही नहीं। यह 'उदारता' उत्पीड़कों द्वारा दिखाई जाती है, और इसको प्रदर्शित करने का निरंतर अवसर पाते रहने के लिए आवश्यक है कि वे अन्याय को भी स्थाई रूप से जारी रखें। इस 'उदारता' का स्रोत है अन्यायपूर्ण व्यवस्था, जो मृत्यु, निराशा और दरिद्रता पर पलती है। यही कारण है कि ऐसी उदारता बांटने वाले लोग उस मिथ्या उदारता के स्रोत पर तनिक भी आंच आती देख हताश हो जाते हैं।

सच्ची उदारता उस संघर्ष में ही होती है, जो संघर्ष मिथ्या उदारता का पोषण करने वाले कारणों को नष्ट करने के लिए किया जाता है। मिथ्या दानशीलता दबे-कुचले और डरे हुए लोगों को, 'ज़िंदगी से ख़ारिज' लोगों को, अपने कांपते हुए हाथ फैलाने के लिए मजबूर करती है। वास्तविक उदारता तो ऐसा प्रयास करने में है कि उन हाथों को—चाहे वे व्यक्तियों के हाथ हों या समूची जनता के हाथ—याचना के लिए फैलाने की ज़रूरत कम से कम पड़े, ताकि वे अधिक से अधिक मानवीय हाथ बन सकें; काम करने वाले हाथ बन सकें, जो काम करते हुए विश्व का रूपांतरण करते हैं। यह एक सबक़ है, जिसे सीखने और सिखाने का प्रयास उत्पीड़ितों की ओर से और उनके सच्चे साथियों की ओर से होना चाहिए। अपनी मनुष्यता की पुनर्प्राप्ति के लिए लड़कर—चाहे यह लड़ाई वे अलग अलग व्यक्ति के रूप में लड़ें या जनता के रूप में—वे सच्ची उदारता की पुनर्प्राप्ति का प्रयास भी करेंगे। उत्पीड़क समाज के भयानक महत्त्व को समझने

में उत्पीड़ितों से अधिक तत्पर और कौन हो सकता है ? उत्पीड़न के परिणामों को उत्पीड़ितों से अधिक और कौन भुगतता है ? मुक्ति की ज़रूरत को उनसे बेहतर और कौन समझ सकता है ? मुक्ति की परिभाषा संयोग से नहीं, बल्कि उसे पाने के लिए उनके द्वारा किए गए आचरण[3] से होगी; उसके लिए लड़ने की ज़रूरत को समझने से होगी। और इस लड़ाई का उद्देश्य चूंकि उत्पीड़ितों द्वारा निश्चित किया जाएगा, इसलिए यह लड़ाई वस्तुतः प्रेमविहीनता के विरुद्ध प्रेम का कार्य होगी; उस प्रेमविहीनता के विरुद्ध, जो उत्पीड़कों की हिंसा में अंतर्निहित रहती है; उस प्रेमविहीनता के विरुद्ध, जो ऊपर से मिथ्या उदारता की पोशाक पहने रहती हो।

लेकिन संघर्ष की प्रारंभिक अवस्था के दौरान प्रायः हमेशा ही उत्पीड़ितों में मुक्ति का प्रयास करने के बजाए स्वयं उत्पीड़क अथवा 'उप-उत्पीड़क' बनने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ठोस अस्तित्वगत स्थिति से उत्पन्न अंतर्विरोधों ने उनकी सोच के ढांचे को ही इस तरह अनुकूलित कर रखा होता है। आदर्श उनका मनुष्य बनना ही होता है, लेकिन वे 'मर्द' बनना चाहते हैं, जिसका मतलब है उत्पीड़क बनना। उनके लिए वही मनुष्यता या 'मर्दानगी' का नमूना है। बात यह है कि उत्पीड़ित लोग अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी ख़ास क्षण में उत्पीड़क से 'चिंपके रहने' का रवैया अपना लेते हैं। उन परिस्थितियों में वे उत्पीड़क पर पर्याप्त और स्पष्ट रूप से इस प्रकार 'विचार' नहीं कर पाते कि उसे विचारणीय वस्तु बना लें, ताकि उसे स्वयं से 'बाहर' खोज सकें। इसका अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं है कि उत्पीड़ितों को स्वयं के पददलित होने का पता नहीं होता। लेकिन उत्पीड़ित के रूप में वे स्वयं को जिस दृष्टि से देखते हैं, वह उत्पीड़न के यथार्थ में उनके डूबे रहने के कारण क्षीण हुई रहती है। इस स्तर पर वे स्वयं को उत्पोड़क के प्रतिपक्षी के रूप में तो देख पाते हैं, लेकिन उनके इस देखने का अर्थ अभी यह नहीं होता कि अंतर्विरोध[4] को दूर करने के लिए उन्हें उसके विरुद्ध संघर्ष करना है। इस स्थिति में वे एक ध्रुव के रूप में दूसरे ध्रुव से अपनी मुक्ति नहीं चाहते, बल्कि प्रतिध्रुव से तादात्म्य करना चाहते हैं।

इस स्थिति में उत्पीड़ित लोग 'नए मनुष्य' को इस रूप में नहीं देख पाते कि वह उत्पीड़न से मुक्त होने की प्रक्रिया में इस अंतर्विरोध का समाधान करने से पैदा होगा। उनके लिए नए मनुष्य का मतलब होता है स्वयं उत्पीड़क बन जाना। नए मनुष्य के बारे में उनकी दृष्टि व्यक्तिवादी क़िस्म की होती है। उत्पीड़क से तादात्म्य किए रहने के कारण उनके अंदर अपने बारे में यह चेतना नहीं होती कि हम उससे भिन्न स्वतंत्र व्यक्ति या उत्पीड़ित वर्ग के सदस्य हैं। वे कृषि संबंधी सुधार तो चाहते हैं, पर इसलिए नहीं कि इससे उन्हें मनुष्य बनना है; वे कृषि संबंधी सुधार इसलिए चाहते हैं कि उन्हें ज़मीन मिल जाए और वे भूस्वामी बन जाएं।

अथवा, और भी ठीक तरह से कहा जाए तो, दूसरे मज़दूरों के मालिक बन जाएं। कोई विरला ही खेत-मज़दूर होगा, जो एक बार ओवरसियर के रूप में 'तरक़्क़ी' पा जाने के बाद अपने पुराने साथियों के लिए खुद मालिक से भी ज़्यादा ज़ालिम न बन जाता हो। यह इसलिए होता है कि खेत-मज़दूर की स्थिति का संदर्भ—अर्थात् उत्पीड़न—अपरिवर्तित रहता है। इस उदाहरण में दूसरे खेत-मज़दूरों से काम कराने वाला ओवरसियर अगर अपनी नौकरी सलामत रखना चाहता है तो उसे मालिक की तरह ही, बल्कि मालिक से भी ज़्यादा, सख़्त होना पड़ेगा। यह ऊपर कही गई इस बात का दृष्टांत है कि संघर्ष की प्रारंभिक अवस्था में उत्पीड़ित लोग 'मर्दानगी' का नमूना उत्पीड़क को ही मानते हैं।

यहां तक कि क्रांति को भी, जो मुक्ति की प्रक्रिया आरंभ करके उत्पीड़न की एक ठोस स्थिति का रूपांतरण करती है, इस परिघटना का सामना करना पड़ता है। बहुत-से उत्पीड़ितों में, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्रांति में शामिल होते हैं, पुरानी व्यवस्था के मिथकों से अनुकूलित होने के कारण उसे अपनी निजी क्रांति बना लेने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अपने पुराने उत्पीड़क का साया अब भी उनके ऊपर मंडराता रहता है।

उत्पीड़ितों को 'स्वतंत्रता का भय' सताया करता है।[5] यह ऐसा भय है, जो उन्हें समान रूप से दो दिशाओं में ले जा सकता है : या तो वे उत्पीड़क की भूमिका में आने की आकांक्षा करने लगें, या फिर उत्पीड़ित की भूमिका से ही चिपके रहें। इस भय की जांच-पड़ताल की जानी चाहिए। उत्पीड़क और उत्पीड़ित के बीच जो संबंध होता है, उसके आधारभूत तत्त्वों में से एक तत्त्व है *निर्देश*। प्रत्येक निर्देश निर्देशित व्यक्ति की चेतना को निर्देशक व्यक्ति की चेतना का अनुसरण करने वाली चेतना में बदलकर एक आदमी की इच्छा को दूसरे आदमी पर थोपने का काम करता है। इस प्रकार उत्पीड़ित का व्यवहार एक निर्देशित व्यवहार होता है, जो उत्पीड़क के निर्देशों का अनुसरण करता है।

उत्पीड़ित लोग उत्पीड़क के बिंब का आभ्यंतरीकरण और उसके निर्देशों को स्वीकार कर चुके होने के कारण स्वतंत्रता से डरते हैं। स्वतंत्र होने के लिए उन्हें उस बिंब को अपने भीतर से निकाल बाहर करना होगा और उसके स्थान पर स्वायत्तता तथा उत्तरदायित्व को स्थापित करना होगा। स्वतंत्रता उपहार में नहीं मिलती, संघर्ष में विजयी होने पर मिलती है। उसे पाने का प्रयास लगातार और ज़िम्मेदारी के साथ करना पड़ता है। स्वतंत्रता कोई ऐसा आदर्श नहीं है, जो मनुष्य के बाहर स्थित हो। वह कोई ऐसा भाव भी नहीं है, जो मिथक बन जाए। वह तो मानवीय पूर्णता के प्रयास की एक अपरिहार्य शर्त है।

उत्पीड़न की स्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि मनुष्य उसके कारणों को आलोचनात्मक ढंग से समझे, ताकि रूपांतरकारी

कर्म से वे एक ऐसी नई स्थिति का सृजन कर सकें, जिसमें पूर्णतर मनुष्यता के लिए प्रयास करना संभव हो। लेकिन पूर्णतर मनुष्य बनने का संघर्ष उत्पीड़न की स्थिति को बदलने के प्रामाणिक प्रयास के साथ ही शुरू हो जाता है। हालांकि उत्पीड़न की स्थिति स्वयं अमानुषिक तथा अमानुषिक बनाने वाली होती है, जो उत्पीड़कों और उनके द्वारा उत्पीड़तों, दोनों को प्रभावित करती है, फिर भी दोनों की पूर्णतर मनुष्यता के लिए किया जाने वाला संघर्ष उत्पीड़ितों को ही शुरू करना होगा। उन्हें यह संघर्ष वहां से शुरू करना होगा, जहां उनकी मनुष्यता अवरुद्ध हुई पड़ी है। उत्पीड़क, जो दूसरों को अमानुषिक बनाने के कारण स्वयं अमानुषीकृत होता है, इस संघर्ष का नेतृत्व नहीं कर सकता।

लेकिन वे उत्पीड़ित, जो प्रभुत्व की उस संरचना के अनुसार, जिसमें वे धंसे हुए हैं, अपने को ढाल चुके हैं और उसी के होकर रह गए हैं, स्वतंत्रता की लड़ाई तब तक नहीं लड़ सकते, जब तक वे उसके लिए ज़रूरी जोख़िम उठाने में स्वयं को असमर्थ महसूस करते हैं। इसके अलावा, अपनी स्वतंत्रता के लिए किया जाने वाला उनका संघर्ष उत्पीड़क को ही नहीं, बल्कि उनके अपने उत्पीड़ित साथियों को भी ख़तरनाक लगता है, जो संघर्ष छिड़ जाने पर और अधिक दमन की आशंका से भयभीत रहते हैं। अपने भीतर स्वतंत्र होने की आकांक्षा को खोज लेने वाले जानते हैं कि इस आकांक्षा को यथार्थ में तब तक नहीं बदला जा सकता, जब तक यही आकांक्षा अपने साथियों में न जगाई जाए। लेकिन जब तक उन पर स्वतंत्रता का भय छाया रहता है, तब तक न तो वे इसके लिए कोई अनुरोध करते हैं और न इस संबंध में दूसरों के अनुरोध को सुनते हैं। यहां तक कि वे अपनी अंतर्रात्मा के अनुरोध को भी नहीं सुनते। भेड़चाल को वे सच्ची दोस्ती से बेहतर समझते हैं। वे स्वतंत्रता से उत्पन्न होने वाली सृजनात्मक सहभागिता की तुलना में, यहां तक कि स्वतंत्रता के लिए किए जाने वाले प्रयास की ही तुलना में, अपनी स्वतंत्रतारहित स्थिति की अनुवर्तिता से मिलने वाली सुरक्षा को बेहतर समझते हैं।

उत्पीड़ित लोग एक प्रकार के द्वैत के शिकार होते हैं, जो उनके अंतरतम अस्तित्व में स्वयं को स्थापित किए रहता है। वे यह तो जानते हैं कि स्वतंत्रता के बिना उनका अस्तित्व प्रामाणिक अस्तित्व नहीं है, लेकिन प्रामाणिक अस्तित्व की इच्छा रखते हुए भी वे उससे डरते हैं। वे एक ही साथ 'स्वयं' भी होते हैं और वह 'उत्पीड़क' भी, वह उत्पीड़क जिसकी चेतना को वे आत्मसात किए रहते हैं। द्वंद्व इसमें होता है कि वे स्वयं अपने होने और विभाजित रहने में से क्या चुनें; अपने भीतर से उत्पीड़क को निकाल फेंकें या उसे वहीं बना रहने दें; मानवीय एकजुटता को चुनें या अलगाव को; निर्देशों का पालन करें या अपनी इच्छा से काम करें; दर्शक बने रहें या कर्ता बनें; स्वयं सक्रिय हों या उत्पीड़कों के कर्म के जरिए सक्रिय होने का भ्रम पाले रहें; बोलें या ख़ामोश रहें; नपुंसक बने रहें या

सृजन और पुनर्सृजन कर सकने वाली अपनी सत्ता से विश्व का रूपांतरण करें। यही उत्पीड़ितों का वह त्रासद धर्मसंकट है, जिसका ध्यान उनकी शिक्षा में अवश्य रखा जाना चाहिए।

इस पुस्तक में उस चीज़ के कुछ पक्षों को प्रस्तुत किया जाएगा, जिसे लेखक ने 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' (पेडागॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड) कहा है। इस शिक्षाशास्त्र का निर्माण उत्पीड़ितों (चाहे वे व्यक्ति हों या समूचे जनगण) के लिए नहीं, बल्कि उनके साथ और उनकी मनुष्यता की पुनर्प्राप्ति के लिए जारी अनवरत संघर्ष में किया जाना आवश्यक है। यह शिक्षाशास्त्र उत्पीड़न और उसके कारणों को उत्पीड़ितों द्वारा विचार करने की वस्तु बनाता है, और उस विचार के जरिए अपनी मुक्ति के लिए किए जाने वाले संघर्ष में उनकी आवश्यक संलग्नता को संभव बनाता है। और इसी संघर्ष में यह शिक्षाशास्त्र निर्मित और पुनर्निर्मित होगा।

केंद्रीय समस्या यह है : उत्पीड़ित लोग, जो विभाजित हैं और अप्रामाणिक अस्तित्व वाले मनुष्य हैं, अपनी मुक्ति के शिक्षाशास्त्र के विकास में किस प्रकार सहभागी हो सकते हैं ? उनका मुक्तिदाई शिक्षाशास्त्र उन्हें उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने वाली दाई है, जिसके काम में वे तभी अपना योगदान कर सकते हैं, जब वे स्वयं को उत्पीड़क के 'मेज़बान' के रूप में पहचानें। जब तक वे उस द्वैत में पड़े रहेंगे, जिसमें *'होना'* तो होता है *'होने जैसा'*, और होने जैसा होता है *उत्पीड़क होने जैसा,* तब तक उनका यह योगदान असंभव है। उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र उनकी इस आलोचनात्मक खोज का औज़ार है कि वे और उनके उत्पीड़क, दोनों ही अमानुषीकरण की अभिव्यक्ति हैं।

इस प्रकार मुक्ति एक प्रसव है और यह प्रसव पीड़ादायक है। इससे जो मनुष्य पैदा होता है, एक नया मनुष्य होता है, जिसका जीवित रहना तभी संभव है, जब उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध के स्थान पर सभी मनुष्यों का मानुषीकरण हो जाए। अथवा, दूसरी तरह से कहें तो, इस अंतर्विरोध का समाधान उसी प्रसूति में जन्म लेता है, जिसमें नया मनुष्य पैदा होता है—ऐसा नया मनुष्य, जो न तो उत्पीड़क है न उत्पीड़ित, बल्कि जो स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रक्रिया में है।

यह समाधान आदर्शवादी ढंग से नहीं किया जा सकता। उत्पीड़ितों को अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष शुरू करने में समर्थ होने के लिए यथार्थवादी होना पड़ेगा। उन्हें उत्पीड़न के यथार्थ को ऐसी बंद दुनिया के रूप में हरगिज़ नहीं देखना चाहिए, जिससे निकल पाना संभव नहीं। उन्हें उसको ऐसी अवरोधक स्थिति के रूप में देखना चाहिए, जिसे वे बदल सकते हैं। यह बोध आवश्यक है, किंतु अपने-आप में मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इस बोध का मुक्तिदाई कर्म के लिए प्रेरित करने वाली शक्ति बनना आवश्यक है। उत्पीड़ितों का यह जान लेना भी अपने-आप में मुक्ति नहीं है कि उनका अस्तित्व एक प्रतिपक्ष के रूप में उस

उत्पीड़न के साथ द्वंद्वात्मक रूप में संबद्ध है, जिसका अस्तित्व उनके बिना संभव नहीं (देखें हेगेल की पुस्तक 'दि फ़िनोमिनोलॉजी ऑफ माइंड')। उत्पीड़ित लोग जिस अंतर्विरोध में फंसे हुए हैं, उसे वे तभी दूर कर सकते हैं, जब उनका यह बोध उन्हें अपनी मुक्ति के संघर्ष में प्रवृत्त करे।

यही बात एक व्यक्ति के रूप में किसी उत्पीड़क के बारे में भी सच है। यह जान लेने से कि वह उत्पीड़क है, उसे काफ़ी मनोव्यथा हो सकती है, लेकिन ज़रूरी नहीं कि इतने-भर से वह उत्पीड़ितों के साथ एकजुट हो जाए। इससे काम नहीं चलेगा कि वह अपने अपराध-बोध को तर्कसंगत बनाने के लिए उत्पीड़ितों के साथ पितातुल्य व्यवहार करने लगे, किंतु ऐसा करते हुए भी उन्हें स्वयं पर निर्भर रहने की स्थिति में जकड़े रखे। एकजुटता का तक़ाज़ा है कि आदमी जिनसे तादात्म्य स्थापित कर रहा है, उनकी स्थिति में प्रवेश करे। यह एक आमूल-परिवर्तनवादी भंगिमा है। अगर, जैसा कि हेगेल ने कहा है,[6] उत्पीड़ितों की विशेषता यह है कि वे मालिक की चेतना के अधीन रहते हैं, तो उत्पीड़ितों के साथ सच्ची एकजुटता का मतलब यह है कि उस वस्तुपरक यथार्थ को, जिसने उन्हें 'किसी और के लिए जीने वाला' बना रखा है, बदलने के लिए उनके पक्ष में खड़े होकर लड़ा जाए। उत्पीड़क उत्पीड़ितों के साथ तभी एकजुट हो सकता है, जब वह उत्पीड़ितों को एक अमूर्त्त कोटि समझना बंद कर दे और उन्हें ऐसे व्यक्तियों के रूप में देखें, जिनके साथ अन्याय हुआ है; जिनसे उनकी आवाज़ छीन ली गई है; जिनके साथ उनके श्रम को ख़रीदते समय धोखाधड़ी की गई है। अर्थात् वह उत्पीड़ितों के साथ तभी एकजुट हो सकता है, जब वह धर्मपरायण, भावुकतापूर्ण और व्यष्टिपरक क़िस्म के दिखावे बंद कर दे और प्रेम के कर्म में आने वाले जोख़िम उठाए। सच्ची एकजुटता प्रेम के इस कर्म की परिपूर्णता में ही पाई जाती है; उसकी अस्तित्वात्मकता में ही, उसके आचरण में ही पाई जाती है। यह स्वीकार करना कि मनुष्य जनता है और जनता को स्वतंत्र होना चाहिए, लेकिन इस बात को यथार्थ बनाने के लिए ठोस रूप में कुछ न करना, एक ढोंग है।

चूंकि उत्पीड़क-उत्पीड़ित का अंतर्विरोध एक ठोस स्थिति पर स्थापित होता है, इसलिए इस अंतर्विरोध के समाधान का *वस्तुपरक रूप से* सत्यापनीय होना निहायत ज़रूरी है। अतः आमूल-परिवर्तनवादियों के लिए (अर्थात् उस आदमी के लिए, जिसे पता चल गया है कि वह उत्पीड़क है, और उन लोगों के लिए भी, जो उत्पीड़ित हैं) आवश्यक हो जाता है कि उत्पीड़न को जन्म देने वाली स्थिति को बदला जाए।

यथार्थ के वस्तुपरक रूपांतरण की इस आमूल-परिवर्तनवादी मांग को प्रस्तुत करने और उस आत्मपरकतावादी जड़ता का, जिसके चलते उत्पीड़ित लोग उत्पीड़न की पहचान हो जाने पर भी इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते

रहने से उत्पीड़न स्वयमेव समाप्त हो जाएगा, विरोध करने का अर्थ संरचनाओं को बदलने के लिए किए जाने वाले संघर्ष में आत्मपरकता की भूमिका को नकारना नहीं है। इसके विपरीत, सच तो यह है कि आत्मपरकता के बिना वस्तुपरकता को समझा ही नहीं जा सकता। दोनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। उनमें द्विभाजन संभव नहीं। वस्तुपरकता को आत्मपरकता से अलग करना, यथार्थ का विश्लेषण या उस पर कर्म करते समय आत्मपरकता को नकारना, वस्तुपरकतावाद है। दूसरी ओर, विश्लेषण या कर्म में वस्तुपरकता को नकारना आत्मपरकतावाद में परिणत होकर अहंमात्रवादी दृष्टिकोण की ओर ले जाता है, जो वस्तुपरक यथार्थ को नकार कर कर्म को ही नकारता है। यहां हम न तो वस्तुपरकतावाद की बात कर रहे हैं, न आत्मपरकतावाद की, न मनोविज्ञानवाद की; बात तो आत्मपरकता और वस्तुपरकता के सतत द्वंद्वात्मक संबंध की है।

विश्व और इतिहास के रूपांतरण की प्रक्रिया में आत्मपरकता के महत्त्व को नकारना भोलापन और एकांगिता है। यह एक असंभव चीज़ को स्वीकारना है; मनुष्यों से रहित विश्व को स्वीकारना है। यह वस्तुपरकतावादी दृष्टिकोण उतना ही विलक्षण है, जितना विश्व से रहित मनुष्यों की कल्पना करने वाला आत्मपरकतावादी दृष्टिकोण। विश्व और मनुष्य एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते, दोनों आपसी अंतःक्रिया में अस्तित्ववान होते हैं। इन्हें न तो मार्क्स ने अलग करके देखा है, न किसी अन्य आलोचनात्मक और यथार्थवादी चिंतक ने। मार्क्स ने जिस चीज़ की आलोचना की थी, और जिसे वैज्ञानिक ढंग से ध्वस्त किया था, वह आत्मपरकता नहीं, बल्कि आत्मपरकतावाद और मनोविज्ञानवाद था। जिस तरह वस्तुपरक सामाजिक यथार्थ का अस्तित्व कोई संयोग नहीं, बल्कि मानवीय कर्म का उत्पाद है, उसी तरह उसका रूपांतरण भी संयोग से नहीं होता। यदि मनुष्य सामाजिक यथार्थ को उत्पन्न करते हैं (जो 'आचरण के उलट जाने' से उन्हीं के विरुद्ध हो जाता है और उन्हें अनुकूलित करता है) तो उस यथार्थ का रूपांतर एक ऐतिहासिक कार्यभार है; मनुष्यों का कार्यभार है।

जो यथार्थ उत्पीड़नकारी बन जाता है, उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों के परस्पर विरोध में परिणत हो जाता है। उत्पीड़ितों को, जिनका कार्यभार अपने प्रति सच्ची एकजुटता प्रदर्शित करने वाले लोगों के साथ मिल कर अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करना है, उन्हें अपने अंदर इस संघर्ष के आचरण के जरिए उत्पीड़न की आलोचनात्मक समझ अवश्य पैदा करनी चाहिए। मुक्ति की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधाओं में से एक यह है कि उत्पीड़नकारी यथार्थ उन्हें भी अपने भीतर जज़्ब कर लेता है और इसके जरिए उनकी चेतना को डूबो देता है।[7] प्रकार्यात्मक रूप में उत्पीड़न पालतू बनाने का काम करता है। आदमी इसकी ताक़त का शिकार न बना रहे, इसके लिए उसका इससे उबरना और इस पर ध्यान देना अत्यंत आवश्यक

है। ऐसा केवल आचरण के जरिए किया जा सकता है, जिसका अर्थ है विश्व के रूपांतरण के लिए उस पर चिंतन और कर्म करना।

उत्पीड़न की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए हमें उत्पीड़न को और अधिक वास्तविक बनाना चाहिए। इसके लिए उत्पीड़न की चेतना में उसके अपयश को जोड़ना ज़रूरी है; साथ ही उसे और ज़्यादा बदनाम करना ज़रूरी है।

'वास्तविक उत्पीड़न में उत्पीड़न के अहसास को जोड़ कर उसे और अधिक उत्पीड़नकारी बनाना' आत्मपरक और वस्तुपरक के द्वंद्वात्मक संबंध से मेल खाता है। दोनों की इस परस्पर-निर्भरता की स्थिति में ही वह प्रामाणिक आचरण संभव है, जिसके बिना उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध का समाधान नहीं हो सकता। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उत्पीड़ित लोग यथार्थ का सामना आलोचनात्मक ढंग से करें और इसके साथ-साथ यथार्थ को वस्तुनिष्ठ बनाते हुए उसे बदलने का काम भी करें। इस आलोचनात्मक हस्तक्षेप के बिना कोरा यथार्थबोध वस्तुपरक यथार्थ के रूपांतरण की ओर नहीं ले जा सकता, क्योंकि ऐसा यथार्थबोध सच्चा बोध होता ही नहीं। वह एक ऐसे व्यक्ति का शुद्ध आत्मपरकतावादी बोध होता है, जो वस्तुपरक यथार्थ को छोड़ देता है और उसका कोई मिथ्या स्थानापन्न गढ़ लेता है।

एक और तरह का मिथ्या बोध तब होता है, जब वस्तुपरक यथार्थ में होने वाले किसी परिवर्तन से बोधकर्ता के व्यक्तिगत या वर्गीय हितों के लिए ख़तरा होता है। पहली स्थिति में यथार्थ में कोई आलोचनात्मक हस्तक्षेप नहीं होता, क्योंकि वह यथार्थ न होकर एक मिथ्या यथार्थ होता है। दूसरी स्थिति में भी कोई आलोचनात्मक हस्तक्षेप नहीं होता, क्योंकि ऐसा हस्तक्षेप बोधकर्ता के वर्गीय हितों के विरुद्ध होता है। दूसरे मामले में बोधकर्ता की प्रवृत्ति 'स्नायुरोगी की तरह' व्यवहार करने की होती है। तथ्य का अस्तित्व होता है, लेकिन तथ्य और उसका संभावित परिणाम, दोनों उसके प्रतिकूल होते हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि वह तथ्य से इनकार तो न करे, लेकिन उसे भिन्न रूप में देखे। एक प्रतिरक्षा प्रणाली के रूप में अपनाई जाने वाली यह युक्ति अंततः आत्मपरकतावाद के ही समान होती है। किसी तथ्य के सत्यों को युक्तियुक्त बना देने से होता यह है कि तथ्य को यद्यपि नकारा नहीं जाता, लेकिन उसका वस्तुपरक आधार खो जाता है। तथ्य ठोस नहीं रहता, एक मिथक बन जाता है, जो बोधकर्ता के वर्ग की प्रतिरक्षा के लिए गढ़ा जाता है।

इसी चीज में उन मनाहियों और कठिनाइयों का (जिनकी चर्चा चौथे अध्याय में विस्तार से की जाएगी) एक कारण निहित है, जो जनता को यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप करने से रोकने के लिए तैयार की जाती हैं। उत्पीड़क अच्छी तरह जानता है कि यह हस्तक्षेप उसके हित में नहीं होगा। उसके हित में जो *'होता*

है', वह यह कि जनता डूब की जिस स्थिति में है, उसी में पड़ी रहे; उत्पीड़नकारी यथार्थ के सामने नपुंसक बनी रहे। 'लेनाइन' में लुकाच ने क्रांतिकारी दल के लिए यह ज़रूरी बताया है कि जनसाधारण को उनके अपने कर्म का अर्थ समझाया जाए और साथ ही उनके अनुभवों के अनुवर्ती विकास को सचेत रूप से क्रियाशील बनाया जाए।

इस ज़रूरत की बात करते हुए लुकाच ने निर्विवाद रूप से आलोचनात्मक हस्तक्षेप का सवाल उठाया है। 'जनसाधारण को उनके अपने कर्म का अर्थ समझाने' का मतलब है उस कर्म को स्पष्ट और दीपित करना, ताकि लोगों की समझ में दो बातें आ जाएं : एक तो यह कि उस कर्म का उन वस्तुपरक तथ्यों से क्या संबंध है जिन्होंने उसे प्रेरित किया; और दूसरी यह कि उस कर्म के उद्देश्य क्या हैं। जनता इस चुनौतीपूर्ण यथार्थ को, जो उसके रूपांतरकारी कर्म की वस्तु है, जितना ही अनावृत करेगी, उतने ही अधिक आलोचनात्मक ढंग से वह यथार्थ में प्रवेश करेगी। इसी प्रकार जनसाधारण 'अपने अनुभवों के अनुवर्ती विकास को सचेत रूप से क्रियाशील बनाते' हैं। जिस तरह वस्तुपरक यथार्थ के न होने पर कोई मानवीय कर्म संभव नहीं—क्योंकि तब मनुष्य को चुनौती देने वाला कोई विश्व ही नहीं होगा, जो उसके 'मैं' से भिन्न हो और उसे चुनौती दे—ठीक इसी तरह मानवीय कर्म तब तक भी संभव नहीं, जब तक मनुष्य एक 'प्रक्षेप' न हो; अर्थात् जब तक वह अपने यथार्थ का रूपांतरण करने के लिए उस यथार्थ को देखने और समझने में समर्थ न हो और इसके लिए स्वयं से परे न जा सके।

द्वंद्वात्मक चिंतन में विश्व और कर्म बड़ी घनिष्ठता से परस्पर-निर्भर होते हैं। लेकिन कर्म का मानवीय होना तभी संभव है, जब वह धंधे की तरह मन मार कर नहीं, बल्कि सोच-समझ कर पूरी तन्मयता के साथ किया जाए। अर्थात् जब कर्म और चिंतन अलग-अलग न हों। चिंतन, जो कर्म के लिए अनिवार्य है, लुकाच द्वारा बताई गई 'जनसाधारण को उसके अपने कर्म का अर्थ समझाने' की ज़रूरत में अंतर्निहित है। ठीक इसी प्रकार वह उनके द्वारा बताए गए इसके उद्देश्य 'अनुभवों के अनुवर्ती विकास को सचेत रूप से क्रियाशील बनाने' में भी अंतर्निहित है।

लेकिन हमारे लिए इस ज़रूरत का मतलब जनता को उसके कर्मों का अर्थ समझाना नहीं, बल्कि उनके बारे में उससे एक संवाद शुरू करना है। कोई यथार्थ स्वयं अपने-आप को कभी नहीं बदलता,[8] और लुकाच ने क्रांतिकारी दल का जो कर्तव्य बताया है—'जनसाधारण को उनके अपने कर्म का अर्थ समझाना'—वह हमारी इस बात से मेल खाता है कि जनता का अपने आचरण के जरिए यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप करना ज़रूरी है। यहीं पर हैं उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र की जड़ें; उस शिक्षाशास्त्र की जड़ें, जो अपनी मुक्ति के संघर्ष में संलग्न मनुष्यों का शिक्षाशास्त्र है। और उन लोगों को, जो स्वयं को उत्पीड़ित के रूप में पहचानते

हैं, या पहचानने लगे हैं, इस शिक्षाशास्त्र का विकास करने वालों में भागीदार अवश्य होना चाहिए। कोई भी शिक्षाशास्त्र, जो वास्तव में मुक्तिदाई हो, उत्पीड़ितों को भाग्यहीन मान कर तथा उनकी बेहतरी के लिए उत्पीड़कों में से ही कुछ नमूने पेश करते हुए, उत्पीड़ितों से अलग नहीं रह सकता। अपने उद्धार के लिए किए जाने वाले संघर्ष में उत्पीड़ितों को स्वयं ही अपना उदाहरण हो.ा चाहिए।

उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, जो सच्ची मानववादी (लोकोपकारवादी नहीं) उदारता से अनुप्राणित है, स्वयं को मनुष्य के शिक्षाशास्त्र के रूप में प्रस्तुत करता है। वह शिक्षाशास्त्र, जो उत्पीड़कों के अहंवादी हितों से आरंभ होता है (यह अहंवाद पितातुल्य होने की मिथ्या उदारता के लबादे से ढंका रहता है) और उत्पीड़ितों को परोपकार की वस्तु बना देता है, स्वयं उत्पीड़न का मूर्त रूप होता है और उत्पीड़न को बनाए रखता है। वह अमानुषीकरण का औज़ार होता है। इसीलिए, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र उत्पीड़कों के द्वारा न तो विकसित हो सकता है और न व्यवहार में ही लाया जा सकता है। यह कहना ही एक अंतर्विरोध होगा कि उत्पीड़कों ने मुक्तिदाई शिक्षा की न सिर्फ़ हिमायत की, बल्कि उसे लागू भी किया।

लेकिन यदि मुक्तिदाई शिक्षा को लागू करने के लिए राजनीतिक शक्ति की ज़रूरत हो और उत्पीड़ितों के पास ऐसी कोई शक्ति न हो, तो क्या क्रांति से पहले उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र को अमल में लाना संभव है ? यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जिसका उत्तर, कम-से-कम एक कामचलाऊ रूपरेखा के तौर पर, इस पुस्तक के चौथे अध्याय में दिया गया है। उस उत्तर का एक पक्ष *व्यवस्थित शिक्षा* और *शैक्षिक परियोजनाओं* में किए गए फ़र्क़ में मिलेगा। ('व्यवस्थित शिक्षा' को राजनीतिक शक्ति से ही बदला जा सकता है, जबकि 'शैक्षिक परियोजनाएं' उत्पीड़ितों को संगठित करने की प्रक्रिया में उनके साथ चलाई जानी चाहिएं।)

मानववादी और स्वातंत्र्यवादी, शिक्षाशास्त्र के रूप में उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र की दो स्पष्ट रूप से भिन्न अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्था में उत्पीड़ित लोग उत्पीड़न के विश्व का अनावरण करते हैं और आचरण के जरिए उसके रूपांतरण के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। दूसरी अवस्था में, जिसमें उत्पीड़न के यथार्थ का रूपांतरण हो चुका होता है, यह शिक्षाशास्त्र केवल उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र नहीं रहता, बल्कि स्थायी मुक्ति की प्रक्रिया में सभी मनुष्यों का शिक्षाशास्त्र बन जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में, सदा ही गंभीर कर्म के जरिए, प्रभुत्व की संस्कृति का मुक़ाबला सांस्कृतिक रूप से किया जाता है।[9] पहली अवस्था में यह मुक़ाबला उत्पीड़ितों के द्वारा उत्पीड़न के विश्व को देखे जाने के ढंग को बदल कर किया जाता है; दूसरी अवस्था में यह मुक़ाबला पुरानी व्यवस्था में निर्मित और विकसित उन मिथकों का बहिष्कार करके किया जाता है, जो क्रांतिकारी

रूपांतरण से उभरने वाली नई संरचना पर प्रेतों की तरह मंडराते रहते हैं।

पहली अवस्था में उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र के लिए अनिवार्य है कि वह उत्पीड़क और उत्पीड़ित की चेतना की समस्या को, अर्थात् उत्पीड़न करने वालों और उत्पीड़ित होने वालों की चेतना की समस्या को, हल करे। अनिवार्य है कि वह इन दोनों के व्यवहार को, दोनों की विश्व-दृष्टि को और दोनों के नीतिशास्त्र को ध्यान में रखे। इसमें एक ख़ास समस्या उत्पीड़ितों में पाए जाने वाले द्वैत की होती है : वे उत्पीड़न और हिंसा की एक ठोस स्थिति द्वारा निर्मित और उसी में जीने वाले अंतर्विरोधी तथा विभाजित प्राणी होते हैं।

कोई भी स्थिति, जिसमें 'क' वस्तुपरक रूप से 'ख' का शोषण करता है या उसकी आत्म-अभिपुष्टि (सेल्फ-अफर्मेशन) में जान-बूझ कर बाधक बनता है, उत्पीड़न की स्थिति है। इस स्थिति में हिंसा स्वतः ही अंतर्निहित रहती है, भले ही उसे मिथ्या उदारता से मधुर बनाया जाता हो, क्योंकि यह स्थिति मनुष्य के पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक और ऐतिहासिक कर्तव्य में बाधा उत्पन्न करती है। उत्पीड़न का संबंध स्थापित होते ही हिंसा *आरंभ हो चुकी होती है।* हिंसा का आरंभ समूचे इतिहास में कभी उत्पीड़ितों की ओर से नहीं हुआ। जो स्वयं हिंसा की ही पैदावार हैं, वे हिंसा का आरंभ करने वाले कैसे हो सकते हैं ? जो चीज़ अपने जन्म से ही उनके अस्तित्व को उत्पीड़ितों का अस्तित्व बना देती है, उसका आरंभ करने वाले वे कैसे हो सकते हैं ? पराधीन बनाने वाली हिंसा की स्थिति पहले से ही मौजूद न हो तो कोई उत्पीड़ित होगा ही नहीं।

हिंसा का आरंभ वे करते हैं, जो उत्पीड़न करते हैं, शोषण करते हैं; जो दूसरों को मनुष्य नहीं मानते; इसका आरंभ वे नहीं करते जो उत्पीड़ित हैं, शोषित हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं माना जाता। मनमुटाव वे नहीं फैलाते, जो प्रेम से वंचित हैं; बल्कि वे फैलाते हैं, जो प्रेम नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वयं से ही प्रेम करते हैं। असहाय और आतंकित लोग आतंक शुरू नहीं करते; आतंक की शुरूआत करते हैं वे, जो हिंसक होते हैं और अपनी शक्ति के सहारे 'ज़िंदगी से ख़ारिज' लोगों को पैदा करने वाली ठोस स्थिति उत्पन्न करते हैं। निरंकुशता का स्रोत वे नहीं होते, जो अत्याचारों के शिकार होते हैं; उसके स्रोत होते हैं निरंकुश अत्याचारी। घृणा तिरस्कृत लोग नहीं, तिरस्कार करने वाले फैलाते हैं। मनुष्य का निषेध वे नहीं करते, जो मनुष्यता से वंचित कर दिए गए हैं; बल्कि वे करते हैं, जिन्होंने उनकी (और साथ ही अपनी भी) मनुष्यता का निषेध किया है। बल-प्रयोग वे नहीं करते, जो बलशालियों की प्रबलता के अधीन निर्बल बना दिए गए हैं; बल-प्रयोग उन्हें निर्बल बनाने वाले बलशाली करते हैं।

लेकिन उत्पीड़कों के लिए उत्पीड़ित ही—जब वे उत्पीड़कों की हिंसा का विरोध करते हैं—'हिंसक', 'बर्बर', 'दुष्ट' या 'क्रूर' होते हैं। (उत्पीड़क लोग

उत्पीड़ितों को 'उत्पीड़ित' कभी नहीं कहते, बल्कि इस आधार पर कि वे उनके देशवासी हैं या नहीं, उन्हें 'वे लोग' या 'अंधी और ईर्ष्यालु जनता' या 'वहशी लोग' या 'आदिवासी लोग' या 'विद्रोही लोग' कहकर पुकारते हैं !)

फिर भी—चाहे यह बात विरोधाभासपूर्ण ही लगे—उत्पीड़ितों द्वारा उत्पीड़कों की हिंसा के जवाब में की जाने वाली कार्रवाई में ही प्रेम की झलक दिखाई पड़ती है। जाने या अनजाने उत्पीड़ितों के विद्रोह का कर्म (जो हमेशा, या लगभग हमेशा, उत्पीड़कों की आरंभिक हिंसा जितना ही हिंसक होता है) प्रेम का आरंभ कर सकता है। जहां उत्पीड़कों की हिंसा उत्पीड़ितों को पूर्णतर मनुष्य बनने से रोकती है, वहां उत्पीड़ितों द्वारा उस हिंसा के विरुद्ध की जाने वाली जवाबी कार्रवाई का आधार है मनुष्य बनने का अधिकार पाने की इच्छा। उत्पीड़क जब दूसरों को अमानुषिक बनाते हैं और उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करते हैं, वे स्वयं भी अमानुषिक हो जाते हैं। उत्पीड़ित लोग मनुष्य बनने की लड़ाई लड़ते हुए जब उत्पीड़कों की प्रभुत्व जमाने और दमन करने की शक्ति छीन लेते हैं, वे उत्पीड़कों को उनकी वह मनुष्यता लौटा देते हैं, जिसे वे उत्पीड़न करते समय खो चुके होते हैं।

केवल उत्पीड़ित लोग ही, स्वयं को मुक्त करके, अपने उत्पीड़कों को मुक्त कर सकते हैं। उत्पीड़क, एक उत्पीड़नकारी वर्ग के रूप में, न तो दूसरों को मुक्त कर सकते हैं, न स्वयं को। अतः यह आवश्यक है कि उत्पीड़ित लोग उस अंतर्विरोध को दूर करें, जिसमें वे फंसे हुए हैं। यह अंतर्विरोध एक नए मनुष्य के आविर्भाव से दूर होगा, जो न तो उत्पीड़क होगा और न उत्पीड़ित। वह मुक्त होता हुआ मनुष्य होगा। यदि उत्पीड़ितों का लक्ष्य पूर्ण मनुष्य बनना है, तो वे अपने इस लक्ष्य तक अंतर्विरोध में पद-परिवर्तन करके या सिर्फ ध्रुवों को बदल देने से (अर्थात् स्वयं उत्पीड़क बन कर अपने उत्पीड़कों को उत्पीड़ित बना देने से) नहीं पहुंचेंगे।

यह बात बड़ी सरल-सी लग सकती है, मगर ऐसा नहीं है। उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध के समाधान में यह अंतर्निहित है कि प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में उत्पीड़कों का अस्तित्व न रहे। लेकिन भूतपूर्व उत्पीड़ितों द्वारा अपने उत्पीड़कों पर यदि ऐसे नियंत्रण लगाए जाते हैं कि वे पुनः उत्पीड़क न बन जाएं, तो यह *उत्पीड़न* नहीं है। कोई काम तभी उत्पीड़नकारी होता है, जब वह मनुष्यों को पूर्ण मनुष्य बनने से रोके। तदनुसार, ये आवश्यक नियंत्रण *अपने-आप में* इस बात के सूचक नहीं हैं कि कल के उत्पीड़ित आज के उत्पीड़क बन गए हैं। उत्पीड़नकारी शासनप्रणाली की वापसी को रोकने वाले व्यवहार की तुलना उन कार्यों से नहीं की जा सकती, जो उत्पीड़नकारी शासनप्रणाली को जन्म देते हैं और उसे बनाए रखते हैं। इसकी तुलना उन कार्यों से नहीं की जा सकती, जिनसे मुट्ठी भर लोग बहुसंख्यक लोगों को मनुष्य बनने के अधिकार से वंचित कर देते हैं।

लेकिन नई शासनप्रणाली ज्यों ही प्रभुत्व जमाने वाली 'नौकरशाही' के रूप

में जम कर कठोर हो जाती है,[10] त्यों ही संघर्ष का मानववादी आयाम खो जाता है और मुक्ति की बात करना संभव नहीं रहता। इसलिए हमारा ज़ोर इस बात पर है कि उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध का समाधान न तो स्थितियों को उलट देने या एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव पर जा पहुंचने से हो सकता है, न पुराने उत्पीड़कों की जगह उत्पीड़ितों को उनकी मुक्ति के नाम पर पराधीन बनाए रखने वाले नए उत्पीड़कों के आ जाने से।

मगर मुक्ति प्राप्त कर चुके मेहनतकशों द्वारा स्थापित नई स्थिति के द्वारा जब इस अंतर्विरोध का प्रामाणिक समाधान हो जाता है, तब भी भूतपूर्व उत्पीड़क स्वयं को मुक्त महसूस नहीं करते। इसके विपरीत, वे सचमुच स्वयं को उत्पीड़ित समझते हैं। दूसरों को उत्पीड़ित करने के अनुभव से अनुकूलित होने के कारण उन्हें अपनी पहले वाली स्थिति से भिन्न कोई भी स्थिति उत्पीड़न की-सी स्थिति लगती है। पहले वे खा सकते थे, सूट-बूट पहन सकते थे, शिक्षित हो सकते थे, यात्राएं कर सकते थे और बीथोवियन का संगीत सुन सकते थे; जबकि दूसरे करोड़ों लोगों के पास न तो खाने को अन्न होता था, न पहनने को कपड़े, न पैरों में जूते, न वे शिक्षित हो सकते थे, न यात्राएं कर सकते थे, और बीथोवियन का संगीत सुन सकने की तो बात ही क्या ! सामुदायिक अधिकारों के नाम पर इस जीवनपद्धति पर लगाया जाने वाला कोई भी प्रतिबंध भूतपूर्व उत्पीड़कों को अपने निजी अधिकारों का गंभीर उल्लंघन प्रतीत होता है—हालांकि पहले उन करोड़ों लोगों के लिए उनके मन में कोई आदर नहीं था, जो भूख, दुःख, तकलीफ़ और हताशा के शिकार होकर मरते रहते थे। उत्पीड़कों के लिए 'मनुष्य' का अर्थ होता है 'वे स्वयं'। दूसरे तो उनके लिए 'चीज़ें' हैं। उत्पीड़कों के लिए एक ही अधिकार का अस्तित्व होता है : उनके अपने सुख-चैन से रहने का अधिकार। उत्पीड़ितों के तो ज़िंदा रहने के अधिकार को भी वे अधिकार नहीं मानते। वे इसे अधिकार के रूप में मान्यता नहीं देते, बल्कि मजबूरी में स्वीकार करते हैं, और यह रियायत भी वे इसलिए देते हैं कि उत्पीड़ितों का अस्तित्व स्वयं उनके अस्तित्व के लिए जरूरी है।

अपने इस व्यवहार तथा विश्व और मनुष्यों को समझने के अपने इस ढंग की व्याख्या (जिसके कारण उत्पीड़क अनिवार्यतः नई शासनप्रणाली की स्थापना का विरोध करते हैं) वे प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। हिंसा और उत्पीड़न की स्थिति एक बार बन जाए तो वह स्वयं में फंसे हुए तमाम लोगों के लिए—अर्थात् उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों तरह के सभी लोगों के लिए—जीवन और व्यवहार की एक संपूर्ण पद्धति उत्पन्न कर देती है। दोनों इस स्थिति में डूब जाते हैं और उत्पीड़न दोनों पर अपनी छाप छोड़ता है। उत्पीड़न किन स्थितियों में अस्तित्व में आया, इसका विश्लेषण करने से पता चलता है कि उसका प्रारंभ हिंसा के किसी कृत्य से हुआ और वह हिंसा शक्तिशाली लोगों द्वारा शुरू

की गई थी। यह हिंसा, एक प्रक्रिया के रूप में, उन उत्पीड़कों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी की जाती रहती है, जो इसके उत्तराधिकारी बनते जाते हैं और इसी के वातावरण में ढलते रहते हैं। यह वातावरण उत्पीड़कों में एक जबर्दस्त स्वामित्व-चेतना उत्पन्न करता है—अर्थात् वे स्वयं को विश्व और मनुष्यों का स्वामी समझने लगते हैं। विश्व और मनुष्यों के प्रत्यक्ष, ठोस, भौतिक स्वामित्व के बिना उत्पीड़क चेतना स्वयं को समझ ही नहीं सकती—यहां तक कि इसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। एरिक फ्रॉम ने इस चेतना के बारे में कहा है कि ऐसे स्वामित्व के बिना "विश्व से उसका संपर्क ही समाप्त हो जाएगा।" उत्पीड़क चेतना में अपने आसपास की हर चीज को अपने प्रभुत्व की वस्तु में बदल देने की प्रवृत्ति होती है। पृथ्वी, संपत्ति, उत्पादन, मनुष्यों का सृजन, स्वयं मनुष्य, समय—गोया कि हर चीज़ उसकी सेवा करने वाली वस्तु के स्तर तक सीमित होकर रह जाती है।

स्वामित्व की अनियंत्रित ललक के कारण उत्पीड़कों में यह दृढ़ धारणा विकसित हो जाती है कि वे हर चीज़ को अपनी क्रयशक्ति की वस्तु बना सकते हैं—अपने द्वारा ख़रीदी जा सकने वाली वस्तु में बदल सकते हैं। इसीलिए उनकी अस्तित्व संबंधी अवधारणा नितांत भौतिकतावादी होती है। हर चीज़ का मापदंड है पैसा, और मुनाफ़ा कमाना प्राथमिक लक्ष्य। उत्पीड़कों के लिए सार्थक बात सिर्फ़ एक है और वह यह कि उन्हें ज़्यादा मिले—हमेशा ज़्यादा मिले—चाहे इसके चलते उत्पीड़ितों को कम मिले या कुछ भी न मिले। उनके लिए *'अस्तित्व का अर्थ है स्वामित्व'* और स्वामी वर्ग का होना।

उत्पीड़न की स्थिति से लाभान्वित होने के कारण उत्पीड़कों को यह बोध नहीं होता कि यदि *स्वामित्व* ही *अस्तित्व* की शर्त है, तो यह शर्त सभी मनुष्यों पर लागू होती है। यही कारण है कि उनकी उदारता मिथ्या होती है। उनके लिए मनुष्यता भी एक 'चीज़' है और वे उसके स्वामी हैं, पैतृक संपत्ति के अधिकार की तरह उस पर सिर्फ़ उनका ही अधिकार है। उत्पीड़क चेतना को 'दूसरों' का मानुषीकरण, जनता का मानुषीकरण, पूर्ण मनुष्य बनने का प्रयास नहीं लगता, बल्कि व्यवस्था विरोधी कार्य लगता है।

उत्पीड़क लोग *अधिक के स्वामित्व* के अपने एकाधिकार को ऐसे विशेषाधिकार के रूप में नहीं देखते, जो दूसरों को और स्वयं उनको भी अमानुषिक बनाता है। वे यह नहीं देख पाते कि स्वामी वर्ग के रूप में *स्वामित्व* के अपने अहंवादी प्रयास में वे अपनी संपदाओं के बीच घुट कर मर जाते हैं—कि उनका *अस्तित्व* समाप्त हो जाता है, केवल *स्वामित्व* रह जाता है। उनके लिए *और अधिक पाना* एक ऐसा अधिकार होता है, जिसे उनसे अलग नहीं किया जा सकता—एक ऐसा अधिकार, जिसे वे समझते हैं कि उन्होंने अपने निजी 'प्रयास' से, 'जोख़िम उठाने के साहस' से, प्राप्त किया है। अगर दूसरों के पास अधिक नहीं है तो

इसलिए कि वे अयोग्य और आलसी हैं, और उनमें सबसे बुरी बात, जिसे कभी उचित नहीं माना जा सकता, यह है कि वे प्रभु वर्ग के 'उदारतापूर्ण कार्यों' के लिए कृतज्ञ नहीं होते। ठीक इसीलिए कि उत्पीड़ित लोग 'अकृतज्ञ' और 'ईर्ष्यालु' होते हैं, उन्हें ऐसे संभावित शत्रु माना जाता है, जिन पर हमेशा नज़र रखी जानी चाहिए।

उत्पीड़क वर्ग के लोग इससे भिन्न कुछ सोच ही नहीं सकते। यदि उत्पीड़ितों का मानुषीकरण व्यवस्थाविरोध का सूचक है तो उनकी स्वतंत्रता भी व्यवस्था-विरोधी हुई। अतः आवश्यक है कि उन्हें निरंतर नियंत्रण में रखा जाए। और उत्पीड़क जितना ही उत्पीड़ितों को नियंत्रित करते हैं, उतना ही वे उन्हें प्रत्यक्षतः निर्जीव 'चीज़ों' में बदलते हैं। स्वामित्व की ललक के कारण उत्पीड़क चेतना में अपने सामने आने वाली हर चीज़ और हर मनुष्य को निर्जीव बना देने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति निस्संदेह परपीड़न की प्रवृत्ति से मेल खाती है। 'दि हार्ट हॉफ मैन' में फ्रॉम ने लिखा है :

> दूसरे व्यक्ति (या दूसरे किसी सजीव प्राणी) पर अपना संपूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने में मिलने वाला आनंद ही परपीड़न वृत्ति का सार है। इसी बात को दूसरी तरह से यों कहा जा सकता है कि परपीड़न का उद्देश्य मनुष्य को एक चीज़ के रूप में बदलना है, सजीव को निर्जीव में बदलना है, क्योंकि पूर्ण और परम नियंत्रण से सजीव प्राणी जीवन का एक सारभूत गुण खो देता है—स्वतंत्रता।

परपीड़क प्रेम विकृत प्रेम है—वह जीवन से नहीं, मृत्यु से प्रेम करना है। इस प्रकार उत्पीड़क चेतना और उसकी मृत्युप्रेमी विश्वदृष्टि की एक विशेषता है परपीड़न। प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए उत्पीड़कचेतना जीवन को नष्ट करती है, क्योंकि वह जीवन की मूलभूत विशेषताओं—जिज्ञासा, सदा व्यग्र रहने वाली प्रेरणा और सृजनशक्ति को अवरुद्ध करती है। उत्पीड़क लोग अपने उद्देश्य के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अधिक-से-अधिक इस्तेमाल करते हैं, जो निस्संदेह बड़े ही शक्तिशाली औज़ार हैं, लेकिन उनका उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य है : दमन और चालबाज़ी के जरिए उत्पीड़न की व्यवस्था को बनाए रखना।[11] वस्तुओं (ऑब्जेक्ट्स) के रूप में, चीज़ों (थिंग्स) के रूप में, उत्पीड़ितों का और कोई उद्देश्य नहीं होता, इसके अलावा कि उनके उत्पीड़क उनके लिए जो उद्देश्य निर्धारित कर दें।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसकी रोशनी में एक और मुद्दा उभरता है और असंदिग्ध रूप से यह मुद्दा महत्त्वपूर्ण है। वह है यह तथ्य कि उत्पीड़क वर्ग के कुछ सदस्य उत्पीड़ितों के मुक्ति-संघर्ष में उनके साथ आ जाते हैं और इस प्रकार अंतर्विरोध के एक ध्रुव से चलकर दूसरे ध्रुव पर पहुंच जाते हैं। इस संघर्ष में ऐसे लोगों की बड़ी बुनियादी भूमिका होती है, और इसके संपूर्ण इतिहास में रही है।

लेकिन ऐसा होता है कि जब वे शोषक नहीं रहते या उदासीन दर्शक नहीं रहते या शोषण के मात्र उत्तराधिकारी भी नहीं रहते और शोषितों के पक्ष में आ जाते हैं, तो वे प्रायः हमेशा ही अपने साथ अपने उद्गम-स्थान के कुछ संस्कार लेकर आते हैं : अपने पूर्वग्रह और अपने विकार, जिनमें यह बात शामिल रहती है कि उन्हें जनता के सोचने, चाहने और जानने की क्षमता पर भरोसा नहीं होता। तदनुसार, जनहित के उद्देश्य से जुड़े इन लोगों के साथ यह ख़तरा बराबर बना रहता है कि ये कहीं ऐसी उदारता के चक्कर में न पड़ जाएं, जो उदारता उत्पीड़कों की मिथ्या उदारता के समान ही हानिकर होती है। उत्पीड़कों की उदारता एक अन्यायी व्यवस्था पर पलती है, जिसे क़ायम रखना उस उदारता को उचित सिद्ध करने के लिए आवश्यक होता है। दूसरी तरफ़, उत्पीड़क वर्ग से आकर उत्पीड़ितों के संघर्ष में शामिल होने वाले लोग सचमुच उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बदलना चाहते हैं; लेकिन अपनी पृष्ठभूमि के कारण वे यह मानते हैं कि व्यवस्था को बदलने वाले वे ही होने चाहिएं। वे जनता के बारे में बात तो करते हैं, लेकिन उस पर भरोसा नहीं करते, इसके विपरीत जनता पर भरोसा करना क्रांतिकारी परिवर्तन की एक अनिवार्य पूर्व शर्त है। सच्चा मानववादी कौन है, इसकी पहचान जनता पर भरोसा रखे बिना उसके पक्ष में किए गए हज़ारों कार्यों से उतनी नहीं होती, जितनी जनता पर किए गए भरोसे से होती है, क्योंकि यह भरोसा ही उसे जनता के संघर्ष में शामिल करता है।

जो लोग प्रामाणिक रूप से जनता से प्रतिबद्ध होते हैं, उन्हें निरंतर अपनी पुनर्परीक्षा करते रहना चाहिए। उनका मत-परिवर्तन इतना मूलगामी होना चाहिए कि उनके व्यवहार में दुविधा की कोई गुंजाइश न रहे। प्रतिबद्धता की बात करना, मगर स्वयं को ही क्रांतिकारी समझ का स्वामी मानना—ऐसी समझ का स्वामी मानना, जो जनता को दी (या उस पर थोपी) जानी है—पुराने तौर-तरीक़ों को ही बनाए रखना है। जो आदमी मुक्ति के उद्देश्य में आस्था रखने की बात तो करता है और फिर भी जनता से *घनिष्ठता* स्थापित करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि वह जनता को बिलकुल अज्ञानी समझता है, वह गंभीर आत्मछल का शिकार है। मत-परिवर्तन करके जनता की तरफ आया हुआ व्यक्ति यदि जनता द्वारा उठाए गए प्रत्येक क़दम से, उसके द्वारा व्यक्त किए गए प्रत्येक संदेह से और उसके द्वारा दिए गए प्रत्येक सुझाव से घबरा जाता है और उस पर अपनी 'हैसियत' थोपने की कोशिश करता है, तो इसका मतलब है कि वह अपने उद्गम-स्थान को भूला नहीं है, बल्कि उसका विरह उसे अब भी सता रहा है।

जनपक्षीय होने के लिए एक प्रकार का पुनर्जन्म या गंभीर आत्मरूपांतरण आवश्यक है। जनपक्षीय होने वालों को अस्तित्व का एक नया रूप ग्रहण करना चाहिए क्योंकि अब वे वही नहीं रह सकते, जो पहले थे। वे उत्पीड़ितों के साथी

बनकर ही उनके जीवन और व्यवहार के उन तौर-तरीक़ों को समझ सकते हैं, जिनमें विभिन्न अवसरों पर प्रभुत्व की संरचना प्रतिबिंबित होती है। उत्पीड़ितों के जीवन और व्यवहार की एक विशेषता का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है, यह विशेषता उनमें पाया जाने वाला अस्तित्व संबंधी वह द्वैत है, जिसके कारण वे एक ही साथ स्वयं भी होते हैं और वह उत्पीड़क भी, जिसके बिंब को वे आत्मसात किए रहते हैं। तदनुसार, जब तक वे अपने भीतर मौजूद उत्पीड़क को 'खोज' नहीं लेते और बदले में स्वयं अपनी चेतना प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक वे अक्सर अपनी स्थिति के प्रति भाग्यवादी रुख़ अपनाए रहते हैं :

> किसान जब समझ लेता है कि वह पराधीन है, तभी अपनी पराधीनता पर विजय प्राप्त करने का साहस जुटाना शुरू करता है। जब तक वह अपनी पराधीनता को नहीं समझता, अपने मालिक का अनुसरण करता रहता है और कहता रहता है कि "मैं क्या कर सकता हूं ? मैं तो सिर्फ़ एक किसान हूं।"[12]

सतही विश्लेषण करने पर इस भाग्यवाद को कभी-कभी ऐसी विनयशीलता के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, जिसे राष्ट्रीय चरित्र का लक्षण माना जाता है। विनय के आवरण में छिपा भाग्यवाद एक ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय स्थिति का परिणाम है, न कि जनता के व्यवहार की कोई तात्विक विशेषता। इसका संबंध हमेशा ही या तो नियति अथवा दुर्भाग्य से या सौभाग्य की शक्ति से जोड़ा जाता है (जो अपरिहार्य शक्तियां मानी जाती हैं) या ईश्वर विषयक किसी विकृत दृष्टिकोण से। जादू और मिथकों में बह जाने वाले उत्पीड़ित लोग—विशेष रूप से किसान, जो प्रकृति में लगभग पूरी तरह डूबे रहते हैं (देखिए मेंडेस की पुस्तक 'ममेंटो डि वाइवोस')—अपने दुखों को, जो शोषण का परिणाम होते हैं, ईश्वर की इच्छा के रूप में देखते हैं, मानो यह 'संगठित अव्यवस्था' ईश्वर की ही रचना हो !

यथार्थ में डूबे हुए उत्पीड़ित लोग उस 'व्यवस्था' को स्पष्ट रूप से नहीं देख पाते, जो उन उत्पीड़कों के लिए बनी है, जिनके बिंब को उन्होंने आत्मसात कर रखा है। इस व्यवस्था द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों से रगड़ खा-खाकर गरमाते रहने के कारण उनमें अक्सर एक समस्तरीय हिंसा फूट पड़ती है, जो तुच्छतम कारणों से अपने ही साथियों पर प्रहार के रूप में सामने आती है। फ्रांज फ़ैनन ने 'दि रेचिड ऑफ द अर्थ' में लिखा है :

> उपनिवेशीकृत मनुष्य पहले उस आक्रामकता को व्यक्त करेगा, जो उसके अपने ही लोगों के विरुद्ध उसमें कूट-कूट कर भर दी गई होती है। तभी हब्शी लोग एक-दूसरे को पीटते हैं, और उत्तरी अफ्रीका में अपराधों की आश्चर्यजनक लहरें उठती देख पुलिस और न्यायाधीशों की समझ में नहीं

> आता कि क्या किया जाए।"जबकि औपनिवेशिक शासकों और पुलिस वालों को जीवनपर्यंत मूलनिवासियों को मारने-पीटने का, उनका अपमान करने का और उनसे अपने आगे नाक रगड़वाने का अधिकार है, आप देखेंगे कि मूलनिवासी किसी दूसरे मूलनिवासी की आंखों में अपने लिए रंचमात्र शत्रुता या आक्रामकता देखते ही चाकू निकाल लेता है; क्योंकि मूलनिवासी के पास अपने भाई के मुक़ाबले अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना ही एक अंतिम उपाय बचा होता है।

संभव है, इस व्यवहार में भी वे अपने द्वैत को व्यक्त करते हों। चूंकि उत्पीड़क उनके उत्पीड़ित साथियों के भीतर भी बैठा हुआ होता है, इसलिए वे अपने साथियों पर हमला करते हैं तो परोक्षतः उत्पीड़क पर भी हमला कर रहे होते हैं।

दूसरी तरफ़, अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी ख़ास बिंदु पर उत्पीड़ित लोग उत्पीड़क और उसकी जीवनशैली के प्रति अदम्य आकर्षण भी महसूस करते हैं। उनका-सा जीवन जीने की आकांक्षा उन्हें जकड़ लेती है। अपने अलगाव में उत्पीड़ित लोग किसी भी क़ीमत पर उत्पीड़क जैसे दिखना, उनकी नक़ल करना, उनका अनुसरण करना चाहते हैं। यह चीज़ मध्यवर्गीय उत्पीड़ितों में विशेष रूप से पाई जाती है, जो उच्च वर्ग के 'प्रमुख' लोगों के समान बनने के लिए तरसते रहते हैं। अल्बर्ट मेम्मी ने 'उपनिवेशित मानसिकता' का विलक्षण विश्लेषण करने वाली पुस्तक 'द कोलोनाइजर एंड द कोलोनाइज्ड' में उपनिवेशक के प्रति अपनी उस घृणा का वर्णन किया है, जिसमें उसके प्रति 'उत्कट' आकर्षण भी शामिल था :

> उपनिवेशक अपने कामगारों की देखभाल कैसे कर सकता है, जबकि उसे रह-रह कर उपनिवेशित लोगों की भीड़ को गोलियों से भूनना पड़ता हो ? उपनिवेशित कैसे इतनी क्रूरता से स्वयं को नकार सकता है, जबकि वह ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण मांगें भी करता हो ? वह उपनिवेशकों से घृणा कैसे कर सकता है, जबकि वह उनकी ऐसी उत्कट प्रशंसा भी करता हो ? (मैंने भी अपने स्वभाव के विरुद्ध अपने भीतर यह प्रशंसा-भाव महसूस किया)।

आत्म-अवमूल्यन (सेल्फ-डेप्रेसिएशन) उत्पीड़ितों की एक और विशेषता है, जो अपने बारे में बनी हुई उत्पीड़कों की राय को आत्मसात कर लेने से पैदा होती है। उन्हें इतनी बार यह सुनना पड़ता है कि तुम किसी काम के नहीं हो, तुम कुछ नहीं जानते, तुम कुछ नहीं सीख सकते—तुम बीमार हो, आलसी हो, निकम्मे हो और अंततः वे इस पर विश्वास करके स्वयं को ऐसा ही मानने लगते हैं। "किसान अपने मालिक से स्वयं को हीन समझता है, क्योंकि उसे मालिक ही एकमात्र ऐसा आदमी लगता है, जो चीज़ों का जानकार और कामों में कुशल है।[13]

वे स्वयं को अज्ञानी बताते हैं और कहते हैं कि ज्ञान तो 'गुरु' के ही पास

होता है, इसलिए उसकी बात माननी चाहिए। उनके ऊपर ज्ञान के पारंपरिक प्रतिमान थोप दिए जाते हैं। एक 'संस्कृति-मंडल' ('कल्चर सर्कल', देखिए तीसरा अध्याय) में भाग लेने वाले एक किसान ने कहा, "पहले आप ही चित्रों की व्याख्या क्यों नहीं करते ? इस तरह समय कम लगेगा और हमें सिरदर्दी भी नहीं होगी।"

उन्हें लगभग कभी यह अहसास नहीं होता कि वे भी उन 'चीज़ों के जानकार' हैं, जिनको उन्होंने विश्व और अन्य मनुष्यों से अपने संबंधों के जरिए आत्मसात किया है। जो परिस्थिति उनमें द्वैत पैदा करती है, उसके चलते यह स्वाभाविक ही है कि वे स्वयं पर भरोसा न करें।

शैक्षिक परियोजनाओं में अक्सर ऐसा होता है कि किसान किसी उत्पादक मूलविषय (जेनरेटिव थीम) पर बड़े जीवंत ढंग से चर्चा शुरू करते हैं, लेकिन अचानक रुक जाते हैं और शिक्षक से कहते हैं, "माफ़ कीजिए, हमें चुप रहना चाहिए और आपको बोलने देना चाहिए। आप जानकार ठहरे, हम तो अज्ञानी हैं।" वे अक्सर यह बात ज़ोर देकर कहते हैं कि उनमें और जानवरों में कोई फ़र्क़ नहीं है; अगर वे कोई फ़र्क़ मानते भी हैं तो वह उनके पक्ष में नहीं, जानवरों के पक्ष में जाता है : "वे हमसे ज़्यादा आज़ाद हैं।"

लेकिन यह देख कर आश्चर्य होता है कि उत्पीड़न की स्थिति में आरंभिक परिवर्तनों के साथ ही यह आत्म-अवमूल्यन कैसे बदल जाता है। चिली में कृषि संबंधी सुधारों के प्रयोग के समय 'असेंटामियेंटो' कहलाने वाली उत्पादन इकाइयां बनी थीं। मैंने ऐसी एक इकाई की बैठक में एक किसान नेता को यह कहते सुना : "वे कहा करते थे कि हम अनुत्पादक हैं, क्योंकि हम आलसी और शराबी हैं। सब झूठ। अब जबकि मनुष्यों के रूप में हमारा आदर होने लगा है, हम हर किसी को दिखा देंगे कि हम कभी भी शराबी या आलसी नहीं थे। हम शोषित थे !"

जब तक उत्पीड़ितों की दुविधा बनी रहती है, वे प्रतिरोध करने में हिचकते हैं और उनमें आत्मविश्वास बिलकुल नहीं होता। तब तक वे उत्पीड़ितों की सत्ता में और उनकी अपराजेयता में एक प्रकार का धुंधला-सा जादुई विश्वास करते रहते हैं।[14] ग्रामीण क्षेत्रों में भूस्वामी की सत्ता की जादुई शक्ति ख़ास तौर से लोगों पर छायी रहती है। मेरे एक समाजशास्त्री मित्र लैटिन अमरीका के एक देश के उन सशस्त्र क्रांतिकारी किसानों के बारे में बताते हैं, जिन्होंने हाल ही में वहां के एक 'लैटिफंडियम' (भूस्वामी के इलाक़े) पर कब्ज़ा कर लिया था। वे बताते हैं कि उन किसानों ने कार्यनीतिक कारणों से वहां के भूस्वामी को बंधक बनाने की योजना बनाई। लेकिन एक भी किसान में उसकी पहरेदारी करने का साहस नहीं था, क्योंकि उसकी उपस्थिति मात्र ही उन्हें आतंकित करती थी। यह भी संभव है कि मालिक का विरोध करने के कारण उनमें अपराधबोध पैदा हो गया हो। सच्चाई यह थी कि मालिक खुद उनके ही 'भीतर' था।

उत्पीड़ितों को ऐसे उदाहरण अवश्य देखने चाहिएं, जिनमें उत्पीड़क परास्त हुआ हो; क्योंकि इससे उनकी यह धारणा बदलती है कि उत्पीड़क परम शक्तिशाली और अपराजेय होता है; और इसके विपरीत, यह धारणा बनती है कि उसे परास्त किया जा सकता है। जब तक ऐसा नहीं होता, वे हताश, भयभीत और पराजित ही बने रहेंगे (देखिए रेजिस देब्रे की पुस्तक 'रिवोल्यूशन इन द रिवोल्यूशन')। जब तक उत्पीड़ित लोग अपनी परिस्थिति के कारणों से अनभिज्ञ रहते हैं, वे अपने शोषण को भाग्यवादी ढंग से 'स्वीकार' किए रहते हैं। फिर, जब अपनी स्वतंत्रता और आत्म-अभिपुष्टि के लिए संघर्ष करने की ज़रूरत पड़ती है, वे सक्रिय होने के बजाए निष्क्रिय रहने और दूसरों से जुड़ने के बजाए उनसे बच कर रहने में ही अपनी कुशल समझते हैं। लेकिन धीरे-धीरे वे विद्रोही कर्म के विभिन्न रूपों को आज़माने लगते हैं। अतः मुक्ति के लिए काम करते समय न तो उनकी निष्क्रियता को नज़रअंदाज़ करना चाहिए और न उनकी जागृति के क्षण को।

विश्व और स्वयं के प्रति एक अप्रामाणिक दृष्टिकोण रखने के कारण उत्पीड़ित लोग यह समझते हैं कि वे 'चीज़ें' हैं, जिनके स्वामी उनके उत्पीड़क हैं। उत्पीड़कों के लिए *अस्तित्व* का अर्थ *स्वामित्व* होता है, लेकिन उनकी क़ीमत पर, जो स्वामी नहीं होते; जिनके पास कुछ नहीं होता। उत्पीड़ितों के लिए अपने अस्तित्वगत अनुभव की एक विशेष अवस्था में अपने *होने* का अर्थ उत्पीड़क जैसा होना नहीं, बल्कि उसके *अधीन होना* होता है, उस पर निर्भर होना होता है। तदनुसार, उत्पीड़ित लोग भावनात्मक रूप से भी पराधीन होते हैं :

> किसान पराधीन होता है। वह यह भी नहीं कह सकता कि उसे क्या चाहिए। अपनी पराधीनता को जान लेने से पहले वह दुखी रहता है। वह अपने मन का गुब्बार अपने घर में निकालता है, जहां वह अपने बच्चों पर चीख़ता-चिल्लाता है, उन्हें पीटता है और हताश होता है। वह अपनी पत्नी के बारे में शिकायतें करता है और सोचता है कि हर चीज़ डरावनी है। वह मालिक पर कभी गुस्सा नहीं करता, क्योंकि मालिक को श्रेष्ठतर प्राणी समझता है। बहुत बार किसान अपने दुखों को शराब पीकर व्यक्त करता है।[15]

यह पूर्ण भावनात्मक पराधीनता उत्पीड़ितों को उस चीज़ की तरफ़ ले जाती है, जिसे एरिक फ्रॉम ने 'मृत्यु-प्रेमी व्यवहार' कहा है। इसका अर्थ होता है : जीवन का नाश—अपने या अपने उत्पीड़ित साथियों के जीवन का नाश।

उत्पीड़ित लोग स्वयं पर भरोसा करना तभी शुरू करते हैं, जब वे उत्पीड़क को खोज लेते हैं और अपनी मुक्ति के लिए संगठित संघर्ष करने लगते हैं। यह खोज नितांत बौद्धिक खोज नहीं हो सकती। इसके लिए कर्म भी आवश्यक है।

लेकिन यह खोज निरे कर्मवाद तक भी सीमित नहीं होती। इसमें चिंतन भी अवश्य शामिल रहना चाहिए। तभी यह खोज 'आचरण' कहलाएगी।

उत्पीड़ितों की मुक्ति का संघर्ष चाहे किसी भी अवस्था में हो, उनके साथ संवाद अवश्य चलाया जाना चाहिए—ऐसा संवाद, जो आलोचनात्मक और मुक्तिदाई हो और जिसमें कर्म को पहले से ही आवश्यक मान कर चला जाए।[16] इस संवाद की अंतर्वस्तु ऐतिहासिक परिस्थितियों और उत्पीड़ितों के यथार्थबोध के स्तर के अनुसार बदल सकती है, और बदलनी भी चाहिए, लेकिन संवाद की जगह एकालाप, नारों और विज्ञप्तियों के जरिए उत्पीड़ितों की मुक्ति का प्रयास कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये मुक्ति के नहीं, बल्कि उन्हें पालतू बनाने के औज़ार हैं। मुक्ति के कर्म में उत्पीड़ितों की विचारपूर्ण सहभागिता के बिना ही उनकी मुक्ति के लिए प्रयास करना उन्हें ऐसी निर्जीव चीज़ें मान लेने के समान हैं, जिन्हें मानो जलते हुए मकान में से निकाल कर बचाना हो। ऐसा करना उन्हें अंधलोकवाद के गड्ढे में गिराना और ऐसे लोगों में बदलना है, जिनके साथ चालबाज़ी की जा सकती हो।

उत्पीड़ितों के लिए निहायत ज़रूरी है कि वे अपनी मुक्ति की सभी अवस्थाओं में स्वयं को पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक कार्य में संलग्न मनुष्यों के रूप में देखें। मनुष्य जब मनुष्यता और उसके ऐतिहासिक रूपों की अंतर्वस्तु को अलग करने की ग़लती नहीं करता तो चिंतन और कर्म उसके लिए अवश्य करणीय हो जाते हैं।

इस बात पर ज़ोर देना कि उत्पीड़ितों को अपनी ठोस स्थिति पर चिंतन करना चाहिए, आरामकुर्सी में पड़े-पड़े क्रांति करने के लिए कहना नहीं है। इसके विपरीत, चिंतन—सच्चा चिंतन—तो कर्म की ओर ले जाता है। दूसरी तरफ़, स्थिति द्वारा आवश्यक बना दिया गया कर्म सच्चा आचरण तभी बन सकता है, जब उसके परिणामों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर लिया जाए। इस अर्थ में आचरण उत्पीड़ितों का नया उद्देश्य है; और क्रांति, जो इस उद्देश्य के ऐतिहासिक क्षण का उद्घाटन करती है, तब तक नहीं हो सकती, जब तक वे अपने उद्देश्य के अनुसार सचेत रूप से उसमें शामिल नहीं होते। इसके बिना किया जाने वाला कर्म निरा सक्रियतावाद है।

लेकिन इस आचरण तक पहुंचने के लिए ज़रूरी है कि उत्पीड़ितों पर और उनकी विवेकशीलता पर भरोसा किया जाए। जिसके अंदर यह भरोसा नहीं होगा, वह उनसे संवाद और विचार-विमर्श नहीं कर सकेगा (या बंद कर देगा) और नारों, विज्ञप्तियों, एकालापों और हिदायतों का इस्तेमाल करने की ग़लती करने लगेगा। मुक्ति के उद्देश्य के प्रति सतही समर्पण करने वालों के साथ यह ख़तरा हमेशा बना रहता है।

उत्पीड़ितों के पक्ष में किया जाने वाला राजनीतिक कर्म सच्चे अर्थ में शिक्षाशास्त्रीय कर्म होना चाहिए, अतः यह कर्म उनसे अलग रह कर नहीं, बल्कि *उनके साथ* किया जाना चाहिए। मुक्ति के लिए काम करने वालों को उत्पीड़ितों की उस भावनात्मक पराधीनता का फ़ायदा हरगिज़ नहीं उठाना चाहिए, जो उन्हें घेरे रहने वाली प्रभुत्व की वास्तविक स्थिति का परिणाम होती है और जो उन्हें विश्व को वास्तविक रूप में नहीं देखने देती। उनकी पराधीनता का इस्तेमाल करके उन्हें और अधिक पराधीन बनाना तो उत्पीड़कों वाला तरीक़ा है।

स्वातंत्र्यवादी कर्म में इस पराधीनता को एक कमज़ोरी के रूप में समझा जाना चाहिए और चिंतन तथा कर्म के जरिए इसे स्वाधीनता में बदलने का प्रयास किया जाना चाहिए। लेकिन सर्वोत्तम सदाशयता वाला नेतृत्व भी किसी को उसकी स्वाधीनता उपहार के रूप में नहीं दे सकता। उत्पीड़ितों की मुक्ति चीज़ों की नहीं, मनुष्यों की मुक्ति है। अतः जहां यह सच है कि अपने ही प्रयासों से कोई स्वयं को मुक्त नहीं कर सकता, वहीं यह भी सच है कि दूसरे भी उसे मुक्त नहीं कर सकते। मनुष्यों को अर्द्ध-मानुषिक मान कर चलना उन्हें अमानुषिक ही बनाता है। मनुष्य जब उत्पीड़न के कारण पहले ही अमानुषिक बना दिए गए हों, उनकी मुक्ति की प्रक्रिया में अमानुषीकरण के तरीक़ों का इस्तेमाल हरगिज़ नहीं किया जाना चाहिए।

अतः क्रांतिकारी नेतृत्व द्वारा मुक्ति के कार्य में अपनाया जाने वाला सही तरीक़ा 'स्वातंत्र्यवादी प्रचार' *नहीं* है। यह भी संभव नहीं है कि नेतृत्व उत्पीड़ितों का विश्वास प्राप्त करने के लिए उनके मन में स्वतंत्रता में विश्वास रखने का विचार 'रोप' दे। सही तरीक़ा है संवाद। उत्पीड़ितों का यह दृढ़ विश्वास कि उन्हें अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए, उन्हें क्रांतिकारी नेतृत्व द्वारा दिया जाने वाला उपहार नहीं, बल्कि उनके अपने ही विवेकीकरण का परिणाम होता है।

क्रांतिकारी नेताओं को यह बात अवश्य समझनी चाहिए कि संघर्ष की आवश्यकता में उनका अपना दृढ़ विश्वास (जो क्रांतिकारी समझदारी का एक निर्णायक आयाम है) यदि सच्चा है तो वह भी उन्हें किसी और ने नहीं दिया था। यह दृढ़ विश्वास पुड़िया में बांध कर बेची जा सकने वाली चीज़ नहीं है। इसे तो चिंतन और कर्म की एकता से स्वयं अर्जित करना पड़ता है। एक ऐतिहासिक स्थिति में यथार्थ से नेताओं की अपनी संबद्धता ही उन्हें उस स्थिति की आलोचना करने तथा उसे बदलने की दिशा में ले आई थी।

इसी तरह उत्पीड़ितों को (जो तब तक संघर्ष से प्रतिबद्ध नहीं होते जब तक उसे स्वयं उचित और आवश्यक न मान लें, और जो ऐसी प्रतिबद्धता के अभाव में संघर्ष के लिए आवश्यक परिस्थितियां ही नहीं बनने देते) इस दृढ़ विश्वास तक वस्तुओं (ऑब्जेक्ट्स) के रूप में नहीं, बल्कि कर्ताओं (सब्जेक्ट्स) के रूप में पहुंचना

चाहिए। उनके लिए यह भी आवश्यक है कि वे उस परिस्थिति में, जो उन्हें घेरे रहती है और उन पर अपनी छाप छोड़ती है, आलोचनात्मक हस्तक्षेप करें। यह काम प्रचार से नहीं हो सकता। संघर्ष की आवश्यकता में दृढ़ विश्वास (जिसके बिना संघर्ष संभव ही नहीं) क्रांतिकारी नेतृत्व के लिए आवश्यक है (सच तो यह है कि नेतृत्व का निर्माण ही इस दृढ़ विश्वास से हुआ) तो उत्पीड़ितों के लिए भी आवश्यक है। अनावश्यक वह तभी हो सकता है, जब कोई व्यक्ति सामाजिक रूपांतरण उत्पीड़ितों के *साथ* नहीं, बल्कि उत्पीड़ितों *के लिए* करना चाहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि उत्पीड़ितों के साथ किया जाने वाला रूपांतरण ही सही है।[17]

इन बातों को कहने का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि क्रांति का चरित्र प्रमुख रूप से शिक्षाशास्त्रीय होता है। प्रत्येक युग के क्रांतिकारी नेताओं ने कहा है कि उत्पीड़ितों को यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि उन्हें अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष की ज़रूरत है। यह एक ज़ाहिर-सी बात है, लेकिन इसमें यह अंतर्निहित है कि ऐसा उत्पीड़ितों की शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है। अतः क्रांतिकारी नेताओं की इस बात में इस संघर्ष के शिक्षाशास्त्रीय पक्ष की पहचान अंतर्निहित है। लेकिन उनमें से कई नेता (संभवतः शिक्षाशास्त्र के विरुद्ध स्वाभाविक और समझ में आने लायक़ पूर्वग्रहों के कारण) उत्पीड़कों द्वारा अपनाए जाने वाले 'शैक्षिक' तरीक़ों का इस्तेमाल करने की ग़लती करते हैं। वे मुक्ति की प्रक्रिया में शिक्षाशास्त्रीय कर्म को नकारते हैं और इसकी जगह लोगों को समझाने-बुझाने के लिए प्रचार का इस्तेमाल करते हैं।

उत्पीड़ितों को यह बात अवश्य समझनी चाहिए कि जब वे मानुषीकरण के लिए संघर्ष करना स्वीकार करते हैं, तो उसी क्षण से वे उस संघर्ष के लिए अपनी पूरी ज़िम्मेदारी भी स्वीकार करते हैं। उन्हें यह अवश्य समझना चाहिए कि वे केवल भूख से मुक्ति पाने के लिए नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि फ्रॉम की पुस्तक 'दि हार्ट ऑफ मैन' के हवाले से कहें तो वे लड़ रहे हैं :

> "सृजन और निर्माण की स्वतंत्रता के लिए, चकित होने और साहस करने की स्वतंत्रता के लिए। ऐसी स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है कि आदमी सक्रिय और ज़िम्मेदार हो, न कि दास या मशीन का चालू पुर्ज़ा।"यह काफ़ी नहीं है कि मनुष्य दास नहीं हैं; यदि सामाजिक परिस्थितियां उन्हें स्वचालित यंत्र बनाए रखती हैं तो इसका परिणाम जीवन-प्रेम नहीं, बल्कि मृत्यु-प्रेम होगा।

उत्पीड़ित लोग मृत्यु की अभिपुष्टि करने वाले उत्पीड़न के वातावरण में ढले हैं, जो उनको अपने संघर्ष के द्वारा जीवन की अभिपुष्टि करने वाले मानुषीकरण की ओर ले जाने वाला रास्ता खोजना चाहिए। यह महज इससे नहीं होगा कि उन्हें खाने

को ज़्यादा मिले (हालांकि इसमें यह बात शामिल है कि उन्हें खाने को ज़्यादा मिले और उनका संघर्ष इसकी अनदेखी नहीं कर सकता)। उत्पीड़ितों के सर्वनाश का कारण ही यह है कि उनकी स्थिति ने उन्हें मनुष्यों से चीज़ों में बदल कर रख दिया है। अपनी मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वे चीज़ें न बने रहें और मनुष्यों की तरह लड़ें। यह एक आमूल-परिवर्तनवादी आवश्यकता है। वे ऐसा नहीं कर सकते कि चीज़ों के रूप में अपना संघर्ष शुरू करें और सोचें कि मनुष्य *बाद* में बन जाएंगे।

संघर्ष तब शुरू होता है, जब मनुष्य समझने लगते हैं कि उन्हें नष्ट किया गया है। प्रचार, प्रबंधन और चालबाज़ी तो प्रभुत्व के हथियार हैं। ये उनके पुनर्मानुषीकरण के औज़ार नहीं हो सकते। इसका एकमात्र प्रभावी औज़ार है, मनुष्य बनाने वाला शिक्षाशास्त्र, जिसके जरिए क्रांतिकारी नेतृत्व उत्पीड़ितों के साथ संवाद का एक स्थाई संबंध बनाता है। मनुष्य बनाने वाले शिक्षाशास्त्र में शिक्षा की पद्धति ऐसा औज़ार नहीं रहती, जिससे शिक्षक (यहां, क्रांतिकारी नेतृत्व) छात्रों (उत्पीड़ितों) के साथ कोई चालबाज़ी कर सकें, क्योंकि इसकी पद्धति स्वयं छात्रों की चेतना को व्यक्त करती है।

> पद्धति वास्तव में कर्मों में व्यक्त होने वाली चेतना का बाह्य रूप है, जो चेतना के आधारभूत तत्त्व *संकल्पशीलता* में बदलता है। चेतना का सार है विश्व से संपृक्ति, जो एक स्थाई और अपरिहार्य व्यवहार है। तदनुसार, चेतना सारतः किसी ऐसी चीज़ की 'ओर का रास्ता' है, जो इससे अलग, इसके बाहर तथा इसे घेरे रहने वाली चीज़ है, और जिसे यह अपनी उद्भावनात्मक क्षमता से समझती है। इस प्रकार यदि इसे शब्द के अत्यंत सामान्य अर्थ में परिभाषित किया जाए तो चेतना एक पद्धति है।[18]

अतः क्रांतिकारी नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि वह सह-संकल्पशील शिक्षा का व्यवहार करे। इसमें शिक्षक और छात्र (नेतृत्व और जनता) दोनों यथार्थ के प्रति संकल्पशील होते हैं। दोनों कर्ता होते हैं। दोनों मिल कर न केवल उस यथार्थ का अनावरण करते हैं, और इस प्रकार आलोचनात्मक ढंग से उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं, बल्कि उस ज्ञान के पुनर्सृजन में भी दोनों सह-संकल्पशील कर्ता होते हैं। साझे चिंतन और कर्म के जरिए वे ज्यों ही यह ज्ञान प्राप्त करते हैं, त्यों ही वे पाते हैं कि वे इसके स्थाई पुनर्सर्जक भी हैं। इस रूप में अपनी मुक्ति के संघर्ष में उत्पीड़ितों की उपस्थिति वैसी ही होगी, जैसे होनी चाहिए : छद्म सहभागिता वाली नहीं, बल्कि प्रतिबद्ध संलग्नता वाली।

टिप्पणियां

1. मूल्याश्रित दृष्टिकोण में नैतिक, सौंदर्यात्मक और धार्मिक—तीनों दृष्टिकोण शामिल होते हैं।
2. विद्रोह के समसामयिक आंदोलनों में, विशेष रूप से युवा विद्रोह के आंदोलनों में, यद्यपि अपने-अपने क्षेत्र की स्थानीय विशेषताएं अवश्य प्रतिबिंबित होती हैं, तथापि सारतः उनका मुख्य सरोकार मनुष्य और वे मनुष्य होते हैं, जो विश्व में और विश्व के साथ अस्तित्ववान हैं। इस सरोकार का अर्थ है : मनुष्यों का 'अस्तित्व' *क्या* है और *कैसा* है। ये आंदोलन चूंकि उपभोक्ता-सभ्यता को दोषपूर्ण मानते हैं, इसलिए हर तरह की नौकरशाही की भर्त्सना करते हैं; विश्वविद्यालयों के रूपांतरण की मांग करते हैं (जिसमें शिक्षक-छात्र संबंध की रूढ़ प्रकृति को बदलने और इस संबंध को यथार्थ के संदर्भ में रखने की मांग होती है); यथार्थ के ही रूपांतरण का प्रस्ताव करते हैं, ताकि विश्वविद्यालयों का नवीनीकरण हो सके; पुरानी व्यवस्थाओं और स्थापित संरचनाओं पर प्रहार करते हैं, ताकि मनुष्यों की अभिपुष्टि निर्णय के कर्ताओं के रूप में हो सके। इन सभी आंदोलनों में हमारे युग की शैली झलकती है, जो मानवकेंद्रित युग कम और मानवशास्त्रीय युग अधिक है।
3. 'आचरण' अंग्रेजी शब्द 'प्रैक्सिस' का अनुवाद है, जिसका अर्थ फ्रेरा के अनुसार "विश्व का रूपांतरण करने के लिए उस पर किया जाने वाला चिंतन और कर्म" है। हिंदी में इसके लिए कोई उपयुक्त शब्द न होने के कारण पुस्तक में सर्वत्र इसका अनुवाद 'आचरण' किया गया है, जो इस अर्थ के सबसे निकट पड़ता है।—अनुवादक
4. 'अंतर्विरोध' शब्द का प्रयोग परस्पर-विरोधी सामाजिक शक्तियों के द्वंद्वात्मक संघर्ष के अर्थ में किया गया है।—अनुवादक
5. स्वतंत्रता का भय उत्पीड़कों में भी पाया जाता है, हालांकि ज़ाहिर है, उसका रूप भिन्न होता है। उत्पीड़ित आज़ादी को गले लगाने से डरते हैं, जबकि उत्पीड़क उससे इसलिए डरते हैं कि इससे उनकी 'उत्पीड़न करने की आज़ादी' खो जाएगी।
6. मालिक की चेतना और उत्पीड़ितों की चेतना के द्वंद्वात्मक संबंध का विश्लेषण करते हुए हेगेल ने इसी पुस्तक में कहा है : "एक स्वाधीन है, और उसकी सारभूत प्रकृति स्वार्थी है; दूसरा पराधीन है और उसका सार यह है कि जीवन या अस्तित्व दूसरे के लिए है। पहला मालिक या प्रभु है, दूसरा दास है।"
7. "मुक्तिदाई कर्म में बोध और संकल्प का एक क्षण अवश्य आता है। यह कर्म उस क्षण से पहले भी किया जाता है और उसके बाद भी। पहले वह उस क्षण के लिए भूमिका बनाता है और बाद में उसे पूरा करके इतिहास के भीतर जारी रखता है। लेकिन ज़रूरी नहीं कि प्रभुत्व के कर्म में भी यह आयाम रहता हो, क्योंकि प्रभुत्व की संरचना अपनी ही यांत्रिक और असचेत क्रियाशीलता के जरिए स्वयं को बनाए रखती है।" जोसे लुई फियोरी की एक अप्रकाशित पुस्तक से, जिन्होंने कृपापूर्वक स्वयं को उद्धृत करने की अनुमति दी है।
8. "यह भौतिकवादी सिद्धांत कि मनुष्य परिस्थितियों और पालन-पोषण की देन होते हैं, और, इसलिए बदले हुए मनुष्य भिन्न परिस्थितियों तथा भिन्न पालन-पोषण की देन होते हैं, यह भूल जाता है कि मनुष्य ही परिस्थितियों को बदलते हैं, और, शिक्षक के लिए स्वयं भी शिक्षित होना ज़रूरी है।"—कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स की 'चुनी हुई रचनाएं'।
9. माओ की सांस्कृतिक क्रांति का आधारभूत पक्ष यही मालूम होता है।
10. इस कठोरता को उन नियंत्रणों से भिन्न समझना चाहिए, जो इसलिए लगाए जाने ज़रूरी होते

हैं कि भूतपूर्व उत्पीड़क पुरानी उत्पीड़नकारी व्यवस्था को फिर से क़ायम न कर सकें। यहां जिस कठोरता की बात की जा रही है, उसका संबंध उस क्रांति से है, जो अवरुद्ध होकर सड़ने लगती है और पुराने दमनकारी, नौकरशाही वाले राज्यतंत्र का इस्तेमाल करते हुए जन-विरोधी बन जाती है (जबकि इस तंत्र को, जैसा कि मार्क्स ने अनेक बार ज़ोर देकर कहा है, सख़्ती से दबाया जाना चाहिए)।

11. 'सामाजिक नियंत्रण के प्रबल रूपों' के विषय में देखिए हर्बर्ट मार्क्यूज की पुस्तकें 'वन डाइमेंशनल मैन' और 'ईरोस एंड सिविलाइजेशन'।
12. लेखक से बातचीत करते हुए एक किसान के शब्द।
13. लेखक से बातचीत करते हुए एक किसान के शब्द।
14. एक बातचीत में एक किसान ने कहा, "किसान के मन में मालिक का डर जन्म से ही बैठा रहता है।"
15. एक किसान से बातचीत।
16. ज़ाहिर है, ऐसा संवाद खुलेआम नहीं चलाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से केवल यह होगा कि उत्पीड़कों का गुस्सा भड़केगा और वे उत्पीड़ितों का पहले से भी ज़्यादा दमन करेंगे।
17. इन बातों की चर्चा चौथे अध्याय में विस्तार से की जाएगी।
18. अल्वारो वायीरा पिंटो द्वारा लिखी जा रही विज्ञान के दर्शन से संबंधित पुस्तक से उद्धृत। इस उद्धरण को मैं समस्या-उठाऊ शिक्षाशास्त्र (जिसे दूसरे अध्याय में प्रस्तुत किया जाएगा) को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं और प्रो. वायीरा पिंटो को धन्यवाद देना चाहता हूं कि उन्होंने पुस्तक के प्रकाशन से पहले ही मुझे उसका यह अंश उद्धृत करने की अनुमति प्रदान की।

दूसरा प्रकरण

स्कूल के अंदर का हो या बाहर का, किसी भी स्तर के शिक्षक-छात्र संबंध का सावधानी से विश्लेषण किया जाए तो पता चलता है कि इस संबंध का चरित्र मूलतः वर्णनात्मक है। इस संबंध में एक ओर वर्णनकारी कर्ता (शिक्षक) होता है और दूसरी ओर उसकी धैर्यवान, श्रवणकारी वस्तुएं (छात्र)। मूल्य हों या यथार्थ के प्रत्यक्ष आयाम, जिन चीज़ों का वर्णन किया जाता है, वे वर्णन की प्रक्रिया में निर्जीव और अश्मीभूत हो जाती हैं। शिक्षा वर्णन के रोग से पीड़ित है।

शिक्षक यथार्थ के विषय में इस तरह बोलता है, मानो वह (यथार्थ) कोई गतिहीन, स्थिर, ख़ानों में बंटी हुई और ऐसी चीज़ हो, जिसके विषय में भविष्यवाणी की जा सकती हो। या फिर वह किसी ऐसे विषय का प्रतिपादन करता है, जिसका छात्रों के अस्तित्वगत अनुभव से कोई संबंध नहीं होता। उसका काम है अपने वर्णन की अंतर्वस्तुओं से छात्रों को 'भर देना'। और वे अंतर्वस्तुएं यथार्थ से कटी हुई होती हैं—उस संपूर्णता से विच्छिन्न, जिसका वे अंश होती हैं और जो उन्हें सार्थक बनाती है। इस प्रक्रिया में शब्दों से उनका ठोसपन ग़ायब हो जाता है और वे ऐसा खोखला वाग्जाल बन जाते हैं, जो यथार्थ से अलग होता है और अलगाव पैदा करता है।

अतः इस वर्णनात्मक शिक्षा की प्रमुख विशेषता शब्दों की निनादिता होती है, न कि उनकी रूपांतरकारी शक्ति। ''चार चौके सोलह होते हैं; पारा की राजधानी बेलेम है।'' छात्र इन बातों को सुनता है, रटता है और यह जाने बिना इन्हें दोहराता रहता है कि 'चार चौके सोलह' का वास्तव में क्या अर्थ है, या 'पारा की राजधानी बेलेम है' में 'राजधानी' का असली मतलब क्या है; अर्थात् पारा के लिए बेलेम का और ब्राज़ील के लिए पारा का क्या अर्थ है।

वर्णन (जिसमें शिक्षक वर्णनकर्ता होता है) छात्रों को वर्णित वस्तु को यांत्रिक ढंग से रट लेने की ओर ले जाता है। इससे भी बुरी बात यह है कि वह छात्रों को 'पात्र' या बर्तन बना देता है, जिन्हें शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है। जो इन पात्रों को जितना ज़्यादा भर सके, वह उतना ही अच्छा शिक्षक। जो जितने ज़्यादा दब्बूपन के साथ स्वयं को भरने दें, वे उतने ही अच्छे छात्र।

इस प्रकार शिक्षा बैंक में पैसा जमा करने की भांति छात्रों में ज्ञान-राशि जमा

करने का काम बन जाती है, जिसमें शिक्षक जमाकर्ता होता है और छात्र जमादार होते हैं। इसमें शिक्षक संप्रेषण करने के बजाए विज्ञप्तियां जारी करता है। वह जिन चीज़ों को 'जमा करता' है, छात्र उन्हें धैर्यपूर्वक ग्रहण करते हैं, रटते हैं और दोहराते हैं। यह शिक्षा की 'बैंकीय अवधारणा' (बैंकिंग कानसेप्ट) है, जिसमें छात्रों की सक्रियता के लिए सिर्फ़ इतनी गुंजाइश होती है कि वे जमाओं को ग्रहण कर लें, फ़ाइल कर लें और संभाल कर रखे रहें। इस प्रकार यह तो सच है कि वे जिन चीज़ों को जमा रखते हैं, उनके संग्राहक और सूचीकार बनने का अवसर पाते हैं, लेकिन अंततः वे इस व्यवस्था में, जिसे (सर्वोत्तम शब्दों में भी) विभ्रांत व्यवस्था ही कहा जा सकता है, मनुष्य नहीं रहते और सृजनात्मकता, रूपांतरण तथा ज्ञान के अभाव में स्वयं ही फ़ाइल होकर रह जाते हैं। कारण यह है कि जिज्ञासा के बिना, चिंतन और कर्म से युक्त आचरण के बिना, मनुष्य सचमुच मानवीय नहीं बन सकते। ज्ञान होता है आविष्कार और पुनराविष्कार करने से; उस बेचैन, अधीर, सतत और आशायुक्त जिज्ञासा से, जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य विश्व में, विश्व के साथ और एक-दूसरे के साथ सक्रिय होते हैं।

शिक्षा की बैंकीय अवधारणा (बैंकिंग कानसेप्ट) में ज्ञान एक उपहार होता है, जो स्वयं को ज्ञानवान समझने वालों के द्वारा उनको दिया जाता है, जिन्हें वे नितांत अज्ञानी मानते हैं। दूसरों को परम अज्ञानी बताना उत्पीड़न की विचारधारा की विशेषता है। वह शिक्षा और ज्ञान को जिज्ञासा की प्रक्रिया नहीं मानती। शिक्षक अपने छात्रों के समक्ष स्वयं को एक आवश्यक विलोम के रूप में प्रस्तुत करता है; उन्हें परम अज्ञानी मान कर वह अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करता है। छात्र, हेगेलीय द्वंद्ववाद के दासों की भांति, अलगाव के शिकार होने के कारण अपने अज्ञान को शिक्षक के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने वाला समझते हैं—लेकिन इस फ़र्क़ के साथ कि दास तो अपनी वास्तविकता को जान लेता है (कि मालिक का अस्तित्व उसके अस्तित्व पर निर्भर है) लेकिन ये छात्र अपनी इस वास्तविकता को कभी नहीं जान पाते कि वे भी शिक्षक को शिक्षित करते हैं।

दूसरी तरफ़, स्वातंत्र्यवादी शिक्षा का उद्देश्य शिक्षक और छात्र के बीच सामंजस्य उत्पन्न करना होता है। शिक्षा का आरंभ शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान करते हुए ही होना चाहिए और यह तभी हो सकता है, जब अंतर्विरोध के दोनों ध्रुवों को मिला दिया जाए, ताकि दोनों एक ही साथ शिक्षक और छात्र बन जाएं।

यह समाधान शिक्षा की बैंकीय अवधारणा में न तो पाया जाता है और न पाया ही जा सकता है। इसके विपरीत, बैंकीय शिक्षा तो इस अंतर्विरोध को क़ायम रखती है। यहां तक कि वह समग्र रूप में उत्पीड़न को प्रतिबिंबित करने वाले निम्नलिखित रवैयों और रिवाज़ों के जरिए उसे बढ़ाती भी है :

1. शिक्षक पढ़ाता है और छात्र पढ़ाए जाते हैं।
2. शिक्षक सब कुछ जानता है और छात्र कुछ भी नहीं जानते।
3. शिक्षक सोचता है और छात्रों के बारे में सोचा जाता है।
4. शिक्षक बोलता है और छात्र सुनते हैं—चुपचाप।
5. शिक्षक अनुशासन लागू करता है और छात्र अनुशासित होते हैं।
6. शिक्षक अपनी मर्ज़ी का मालिक है, वह अपनी मर्ज़ी चलाता है और छात्रों को उसकी मर्ज़ी के मुताबिक चलना पड़ता है।
7. शिक्षक कर्म करता है और छात्र उसके कर्म के जरिए सक्रिय होने के भ्रम में रहते हैं।
8. शिक्षक पाठ्यक्रम बनाता है और छात्रों को (जिनसे पाठ्यक्रम बनाते समय कोई सलाह नहीं ली जाती) वही पढ़ना पड़ता है।
9. शिक्षक अपने पेशेवर अधिकार को ज्ञान का अधिकार समझता है (स्वयं को अपने विषय का अधिकारी विद्वान समझता है) और उस अधिकार को छात्रों की स्वतंत्रता के विरुद्ध इस्तेमाल करता है।
10. शिक्षक अधिगम की प्रक्रिया का कर्ता होता है और छात्र महज अधिगम की वस्तुएं।

आश्चर्य नहीं कि शिक्षा की बैंकीय अवधारणा में मनुष्यों को अनुकूलनीय और प्रबंधनीय माना जाता है। छात्र स्वयं को दी जाने वाली जितनी अधिक 'जमाओं' का संग्रह करते हैं, उतनी ही कम उनकी वह आलोचनात्मक चेतना विकसित हो पाती है, जो विश्व का रूपांतरण करने वालों के रूप में विश्व में उनके हस्तक्षेप का परिणाम होती है। स्वयं पर थोप दी गई निष्क्रियता की भूमिका को वे जितनी अधिक पूर्णता के साथ स्वीकार करते हैं, उतनी ही सरलता के साथ वे विश्व से—वह जैसा भी है—और यथार्थ के उस विखंडित दृष्टिकोण से, जो उनके अंदर जमा कर दिया गया होता है, स्वयं को अनुकूलित कर लेते हैं।

बैंकीय शिक्षा छात्रों की सृजनात्मक शक्ति को न्यूनतम कर देती है या समाप्त कर देती है और झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसलिए वह उत्पीड़कों का हित-साधन करती है, जो न तो यह परवाह करते हैं कि विश्व की वास्तविकता लोगों के सामने आए और न यह चाहते हैं कि उसका रूपांतरण हो। उत्पीड़क अपने 'लोकोपकारवाद' का इस्तेमाल एक लाभकारी स्थिति को बनाए रखने के लिए करते हैं। अतः वे, लगभग नैसर्गिक रूप से, शिक्षा में किए जाने वाले ऐसे किसी भी प्रयोग का विरोध करते हैं, जो छात्रों की आलोचनात्मक क्षमताओं को बढ़ाए और यथार्थ के एकांकी दृष्टिकोण से संतुष्ट न रह कर हमेशा उन संबंधों को देखने की कोशिश करे, जो एक बात को दूसरी बात से और एक समस्या को दूसरी समस्या से जोड़ते हैं।

वास्तव में उत्पीड़कों का हित, जैसा कि सिमोन द बुवा ने कहा है, इसमें होता है कि ''उत्पीड़ितों की चेतना को बदला जाए, न कि उनका उत्पीड़न करने वाली स्थिति को''; क्योंकि उत्पीड़ितों को जितना ही उस स्थिति से अनुकूलित होने की दिशा में ले जाया जाएगा, उतनी ही आसानी से उन पर प्रभुत्व जमाया और बनाए रखा जा सकेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पीड़क शिक्षा की बैंकीय अवधारणा को एक पैतृकवादी सामाजिक कर्म के तंत्र के साथ इस्तेमाल करते हैं, जिसके अंदर उत्पीड़ितों को 'कल्याण प्रापक' की श्रुतिमधुर उपाधि प्राप्त होती है। इस तंत्र में उत्पीड़ितों को एक वर्ग, समुदाय अथवा आम जनता के रूप में नहीं, बल्कि निजी मामलों के रूप में देखा जाता है और उनके साथ ऐसे सीमांतीय मनुष्यों का-सा व्यवहार किया जाता है, जो मानो एक 'अच्छे, संगठित और न्यायपूर्ण' समाज के सामान्य संगठन से विचलन करके स्वयं ही हाशिए पर चले गए हों। उत्पीड़ितों को स्वस्थ समाज की एक विकृति माना जाता है। अतः समाज का कर्तव्य यह बताया जाता है कि वह इन 'अक्षम और आलसी' लोगों की मानसिकता को बदले और इन्हें अपने नमूनों के मुताबिक़ ढाल कर समायोजित करे। इन सीमांतीय लोगों को उस स्वस्थ समाज में 'संघटित करना', 'शामिल करना' आवश्यक है, जिसका इन्होंने 'परित्याग' कर रखा है।

लेकिन सच यह है कि उत्पीड़ित लोग सीमांतीय अथवा हाशिए पर के लोग नहीं हैं। वे ऐसे मनुष्य नहीं हैं, जो समाज के 'बाहर' रहते हों। वे हमेशा भीतर रहे हैं—उस संरचना के भीतर, जिसने उन्हें 'दूसरों के लिए जीने वाला' बना रखा है। उनकी समस्या का समाधान उत्पीड़न की संरचना में उन्हें 'संघटित' करना नहीं, बल्कि उस संरचना को बदलना है, ताकि वे 'स्वाधीन प्राणी' बन सकें। निश्चय ही ऐसा बदलाव उत्पीड़कों के प्रयोजनों की जड़ खोदने वाला होगा। यही कारण है कि वे छात्रों के विवेकीकरण से डरते हैं और इस ख़तरे को टालने के लिए शिक्षा की बैंकीय अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं।

उदाहरण के लिए, प्रौढ़ शिक्षा में बैंकीय दृष्टिकोण छात्रों को यह कभी नहीं बताएगा कि वे यथार्थ पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करें। इसके बजाए वह ऐसे अत्यावश्यक प्रश्न उठाएगा कि 'रोजर ने बकरी को हरी घास डाली' या 'रोजर ने खरगोश को हरी घास डाली' और आग्रह करेगा कि छात्र इस बात को जान लें और याद कर लें। बैंकीय दृष्टि का 'मानववाद' मनुष्यों को स्वचालित यंत्र बनाने की कोशिश पर परदा डालता है—जो पूर्णतर मनुष्य बनने के उनके सत्तामूलक प्रयास का ही निषेध है।

बैंकीय दृष्टिकोण का उपयोग करने वाले लोग जान-बूझ कर या अनजाने ही (अनजाने इसलिए कि ऐसे असंख्य बैंक-क्लर्कनुमा शिक्षक होते हैं, जो यह नहीं समझते कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वह केवल अमानुषिक बनाने वाला काम है)

यह देखना भूल जाते हैं कि उनकी 'जमाओं' में यथार्थ के बारे में अंतर्विरोध भरे हुए हैं। लेकिन ये अंतर्विरोध छात्रों को, जो अभी तक निष्क्रिय थे, देर-सबेर स्वयं को पालतू बनाए जाने के विरुद्ध और यथार्थ को अपने वश में करने की दिशा में ले जा सकते हैं। अपने अस्तित्वगत अनुभव से वे इस सत्य को खोज सकते हैं कि उनके जीवन के वर्तमान ढंग और उनके पूर्णतर मनुष्य बनने के प्रयास में कभी सामंजस्य नहीं हो सकता। वे यथार्थ से अपने संबंधों के जरिए यह देख सकते हैं कि यथार्थ वास्तव में एक *प्रक्रिया* है, जो निरंतर बदलती रहती है। मनुष्य खोजी हैं और उनका सत्तामूलक उद्देश्य मानुषीकरण है, अतः आज नहीं तो कल वे उस अंतर्विरोध को जान सकते हैं, जिसमें बैंकीय शिक्षा उन्हें बनाए रखना चाहती है, और तब वे अपनी मुक्ति के संघर्ष में संलग्न हो सकते हैं।

लेकिन मानववादी और क्रांतिकारी शिक्षक इस संभावना के यथार्थ में परिणत हो जाने की प्रतीक्षा करता नहीं रह सकता। उसके प्रयास तो आरंभ से ही छात्रों के प्रयासों से मेल खाने वाले होने चाहिएं, ताकि वह और उसके छात्र आलोचनात्मक चिंतन और पारस्परिक मानुषीकरण के अन्वेषण में संलग्न हो सकें। उसके प्रयास मनुष्यों और उनकी सृजनात्मक शक्ति में गहन विश्वास से अनुप्राणित होने चाहिएं। इसके लिए उसे अपने छात्रों के साथ ऐसे संबंध बनाने चाहिएं कि वह उनका साझेदार हो सके।

बैंकीय अवधारणा में ऐसी साझेदारी के लिए कोई जगह नहीं—और उसमें इसके लिए जगह न होना ज़रूरी भी है, क्योंकि ऐसी साझेदारी से शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान होता है; शिक्षक जमाकर्ता, निर्देशक और पालतू बनाने वाला न रह कर छात्रों के बीच एक छात्र बन जाता है; और यह चीज़ उत्पीड़न की जड़ खोदने वाली तथा मुक्ति के उद्देश्य को पूरा करने वाली हो जाती हैं।

बैंकीय अवधारणा में यह मान्यता अंतर्निहित है कि मनुष्य और विश्व अलग-अलग हैं : मनुष्य विश्व में है, विश्व के या अन्य मनुष्यों के *साथ* नहीं। मनुष्य केवल दर्शक है, पुनर्सर्जक नहीं। इस दृष्टि के अनुसार मनुष्य सचेत प्राणी नहीं, बल्कि एक चेतना का स्वामी है; एक ख़ाली 'मस्तिष्क' है, जो निष्क्रिय रह कर बाह्य विश्व से आने वाली यथार्थ की 'जमाओं' को ग्रहण करता रहता है। उदाहरण के लिए मेरी मेज़, मेरी पुस्तकें, मेरा कॉफ़ी का प्याला आदि जो सभी वस्तुएं मेरे सामने हैं—मुझे घेरे रहने वाले विश्व के टुकड़ों के रूप में—ठीक वैसे ही मेरे 'अंदर' होंगी, जैसे इस समय मैं अपने अध्ययन-कक्ष के अंदर हूं। यह दृष्टि 'चेतना में प्रवेश्य' और 'चेतना में प्रविष्ट' के बीच कोई भेद नहीं करती। लेकिन यह भेद तात्त्विक है और अवश्य किया जाना चाहिए। जो वस्तुएं मुझे घेरे हुए हैं, वे महज मेरी चेतना में प्रवेश्य हैं, उसके भीतर स्थित नहीं हैं। मुझे उनका भान है, लेकिन वे मेरे भीतर नहीं हैं।

चेतना की बैंकीय धारणा का तर्क इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि शिक्षक की भूमिका विश्व को छात्रों के भीतर 'घुसाने' के तरीक़े का नियमन करने की है। उसका काम उस प्रक्रिया को संगठित करना है, जो पहले से ही स्वतःप्रवर्तित ढंग से चल रही है। इस प्रक्रिया में शिक्षक सूचना की उन 'जमाओं' से, जिन्हें वह सच्चा ज्ञान समझता है, छात्रों को 'भरता' रहता है।[1] इस प्रकार मनुष्य चूंकि विश्व को निष्क्रिय चीज़ों के रूप में 'ग्रहण' करते हैं, इसलिए शिक्षा उन्हें और ज़्यादा निष्क्रिय बनाती है तथा विश्व से अनुकूलित करती है। शिक्षित मनुष्य अनुकूलित मनुष्य होता है, क्योंकि वह विश्व के लिए अधिक 'फ़िट' होता है। यह अवधारणा व्यवहार में आने पर उत्पीड़कों के प्रयोजनों के लिए बड़े काम की होती है, क्योंकि उनका सुख-चैन इसी पर निर्भर करता है कि उनके द्वारा निर्मित विश्व में मनुष्य कितनी अच्छी तरह 'फ़िट' होते हैं और उसके बारे में कितने कम सवाल उठाते हैं।

प्रभुत्वशाली अल्पसंख्यक वर्ग अपने प्रयोजनों को पूरा करने का निर्देश बहुसंख्यक लोगों को देता है (और इस प्रकार उन्हें उनके अपने प्रयोजनों को पूरा करने के अधिकार से वंचित कर देता है)। बहुसंख्यक लोग स्वयं को उसके प्रयोजनों से जितना अधिक अनुकूलित करते हैं, उतनी ही अधिक आसानी से अल्पसंख्यक शासक वर्ग उन्हें निर्देश देता रह सकता है। बैंकीय शिक्षा का सिद्धांत और व्यवहार उसके इस उद्देश्य को बड़ी निपुणता से पूरा करता है। शब्दाडंबर वाले पाठ, पाठ्यक्रमों का ऊलजलूल निर्धारण[2] 'ज्ञान' के मूल्यांकन की पद्धतियां, शिक्षक और छात्र के बीच की दूरी, परीक्षा पास करने से संबंधित मापदंड—अर्थात् इस तैयार खुदा दृष्टि की हर चीज़ चिंतन को अनावश्यक बनाती है।

बैंक-क्लर्कनुमा शिक्षक इसी में अपनी सुरक्षा देखता है, लेकिन यह नहीं समझता कि उसकी इस अतिवार्द्धक्य वाली भूमिका में कोई सच्ची सुरक्षा नहीं है। सच्ची सुरक्षा के लिए तो दूसरों के *साथ* एकजुट होकर जीने का प्रयत्न करना आवश्यक है। शिक्षक अपने छात्रों पर न तो स्वयं को थोप सकता है, न उनके साथ महज सह-अस्तित्व बना कर रह सकता है। उसे अपने छात्रों के साथ एकजुट होना चाहिए और एकजुटता के लिए सच्चा संप्रेषण आवश्यक है। लेकिन बैंकीय अवधारणा को लेकर चलने वाला शिक्षक संप्रेषण से डरता है और उसे रोकता है।

लेकिन मानव-जीवन संप्रेषण से ही सार्थक बनता है। शिक्षक का चिंतन छात्रों के चिंतन की प्रामाणिकता से ही प्रमाणीकृत होता है। शिक्षक न तो अपने छात्रों के लिए चिंतन कर सकता है और न अपने विचारों को उन पर थोप सकता है। प्रामाणिक चिंतन, अर्थात् यथार्थ से सरोकार रखने वाला चिंतन, हाथी दांत की मीनारों के एकाकीपन में नहीं, संप्रेषण में ही संभव है। यदि यह सच है कि विचार विश्व पर किए गए कार्य से निकलने पर ही अर्थवान बनता है, तो छात्रों का

शिक्षकों के अधीन रहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बैंकीय शिक्षा चूंकि मनुष्यों को वस्तुओं के रूप में मान कर चलने की मिथ्या समझ से शुरू होती है, इसलिए वह 'जीवन-प्रेम' के विकास को बढ़ावा नहीं देती, बल्कि इसकी विपरीत चीज़ 'मृत्यु-प्रेम' पैदा करती है। फ्रॉम ने 'दि हार्ट ऑफ मैन' में कहा है :

> जीवन की विशेषता है संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक ढंग से होने वाली वृद्धि, लेकिन मृत्यु से प्रेम करने वाला व्यक्ति उस सबसे प्रेम करता है, जिसमें वृद्धि नहीं होती, जो यांत्रिक होता है। मृत्यु से प्रेम करने वाला व्यक्ति सजीव को निर्जीव में बदलने की इच्छा से, जीवन को यांत्रिक ढंग से देखने की इच्छा से, प्रेरित होता है; जैसे तमाम जीवित मनुष्य चीज़ें हों।...उसके लिए मूल्य अनुभव का नहीं, स्मृति का होता है; अस्तित्व का नहीं, स्वामित्व का होता है। मृत्यु से प्रेम करने वाला व्यक्ति किसी वस्तु से—चाहे वह फूल हो या मनुष्य—अपना संबंध तभी जोड़ पाता है, जब वह उसका स्वामी हो। अतः उसके स्वामित्व के लिए पैदा होने वाला ख़तरा स्वयं उसी के लिए ख़तरा बन जाता है। स्वामित्व समाप्त हो जाए तो विश्व से उसका संपर्क समाप्त हो जाता है।...उसे नियंत्रण से प्रेम होता है, और नियंत्रण करने की क्रिया में वह जीवन की हत्या करता है।

उत्पीड़न—अर्थात् अत्यधिक नियंत्रण—मृत्यु से प्रेम करना है। वह जीवन-प्रेम से नहीं, बल्कि मृत्यु-प्रेम से पोषित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित-साधन करती है, मृत्यु-प्रेमी होती है। चेतना के यांत्रिकतावादी, जड़, प्रकृतवादी और हवाई दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण वह छात्रों को मात्र ग्रहण करने वाली वस्तुओं में बदल देती है। वह चिंतन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, मनुष्यों को विश्व से समझौता करने के लिए प्रेरित करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करती है।

मनुष्य जब उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से कर्म करने के प्रयासों में असफल होकर हताश होते हैं; जब वे पाते हैं कि वे अपनी शक्ति और क्षमता का उपयोग करने में असमर्थ हैं; तो वे तकलीफ़ पाते हैं। फ्रॉम का कहना है कि "नपुंसकता से पैदा होने वाली इस तकलीफ़ की जड़ें इस तथ्य में हैं कि मानवीय संतुलन बिगड़ चुका है।" लेकिन कर्म करने में असमर्थ होना, जिससे मनुष्यों को तीव्र मनोव्यथा होती है, उन्हें अपनी नपुंसकता को त्यागने की ओर भी ले जाता है। और ऐसा वे कर सकते हैं :

> ...कर्म करने की (अपनी) क्षमता का पुनरुद्धार करने से। लेकिन क्या यह संभव है ? और संभव है, तो कैसे ? इसका एक तरीक़ा यह है कि एक

> शक्तिशाली व्यक्ति या समूह से तदाकार होकर उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया जाए। अन्य व्यक्ति के जीवन में की गई इस प्रतीकात्मक सहभागिता से कर्म करने का भ्रम तो होता है, लेकिन वास्तव में यह आत्मसमर्पण है और ऐसा करने से केवल यह होता है कि मनुष्य उनके अंग बन कर रह जाते हैं, जो कर्म करते हैं।

उत्पीड़ितों के इस व्यवहार के सबसे अच्छे उदाहरण शायद उन अंधलोकवादी प्रवृत्तियों में पाए जाते हैं, जिनमें वे चमत्कारी नेताओं से तदाकार होकर यह महसूस करने लगते हैं कि वे स्वयं सक्रिय और प्रभावी हो गए हैं। इस प्रकार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरने वाला उनका विद्रोह प्रभावी ढंग से कर्म करने की उनकी इच्छा से प्रेरित होता है। प्रभुत्वशाली अभिजन जानते हैं कि इसका एक ही इलाज है : और अधिक प्रभुत्व तथा दमन, जो स्वतंत्रता, व्यवस्था और सामाजिक शांति (अर्थात् अभिजनों की शांति) के नाम पर किया जाता है। इस प्रकार वे तर्कपूर्ण ढंग से—अर्थात् अपने दृष्टिकोण के अनुसार तर्कपूर्ण ढंग से—जैसा कि नीबुहर ने 'मॉरल मैन एंड इम्मॉरल सोसायटी' में कहा है, एक ही सांस में "मज़दूरों द्वारा की गई हड़ताल की हिंसा" की भर्त्सना कर सकते हैं और "उसी सांस में हड़ताल समाप्त कराने के लिए राज्य से हिंसा का प्रयोग करने के लिए भी कह सकते हैं।"

प्रभुत्व जमाने और क़ायम रखने के काम आने वाली शिक्षा छात्रों के अंदर प्रभु वर्ग की बातों पर झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है, जिसका विचारधारात्मक उद्देश्य (जो शिक्षकों को अक़्सर दिखाई नहीं देता) यह होता है कि छात्रों को उत्पीड़न की दुनिया के अनुकूल बनना सिखाया जाए। यह आरोप इस भोली आशा से नहीं लगाया जा रहा है कि महज इतने से ही प्रभुत्वशाली अभिजन अपने इस व्यवहार को छोड़ देंगे। इसका उद्देश्य सच्चे मानववादियों का ध्यान इस तथ्य की ओर खींचना है कि वे मुक्ति के प्रयास में बैंकीय शिक्षा की पद्धतियों का इस्तेमाल नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी पद्धतियां उनके इस प्रयास का ही निषेध करने वाली होती हैं। कोई क्रांतिकारी समाज भी उत्पीड़क समाज की इन पद्धतियों की विरासत को स्वीकार नहीं कर सकता। जो क्रांतिकारी समाज बैंकीय शिक्षा को अपनाता है, वह या तो दिग्भ्रमित समाज है, या मनुष्यों पर भरोसा न करने वाला समाज। दोनों ही स्थितियों में ऐसे समाज पर प्रतिक्रिया के प्रेत का ख़तरा मंडराता रहता है।

दुर्भाग्य से, मुक्ति का उद्देश्य लेकर चलने वाले लोग स्वयं भी उस वातावरण से घिरे रहते हैं और प्रभावित होते हैं, जो बैंकीय अवधारणा को उत्पन्न करता है। उन्हें अक़्सर इसके वास्तविक अर्थ का या इसकी अमानुषीकरणकारी शक्ति का बोध नहीं होता। अतः वे, विरोधाभासी ढंग से, अलगाव के इस औज़ार का

इस्तेमाल उस चीज़ के लिए करते हैं, जिसे वे मुक्ति का प्रयास समझते हैं। सच तो यह है कि कुछ 'क्रांतिकारी' बैंकीय शिक्षा को चुनौती देने वालों को भोले, स्वप्नजीवी और यहां तक कि प्रतिक्रियावादी भी घोषित कर देते हैं। लेकिन मनुष्यों की मुक्ति उन्हें अलगाव का शिकार बना कर नहीं हो सकती। सच्ची मुक्ति—जो मानुषीकरण की प्रक्रिया है—मनुष्यों में की जाने वाली एक और 'जमा' नहीं है। मुक्ति एक आचरण है : मनुष्यों द्वारा अपने विश्व का रूपांतरण करने के लिए उस पर किया जाने वाला चिंतन और कर्म। जो लोग सचमुच मुक्ति से प्रतिबद्ध हैं, वे न तो चेतना की उस यांत्रिक अवधारणा को स्वीकार कर सकते हैं, जिसके अनुसार चेतना एक ख़ाली बर्तन है जिसे भरा जाना है, और न वे मुक्ति के नाम पर प्रभुत्व की पद्धतियों (प्रचार, नारों—अर्थात् 'जमाओं') को अपना सकते हैं।

जो लोग सचमुच प्रतिबद्ध हैं, उन्हें बैंकीय अवधारणा को अवश्य ख़ारिज करना चाहिए और उसे उसकी संपूर्णता में ख़ारिज करना चाहिए। इसकी जगह उन्हें इस अवधारणा को अपनाना चाहिए कि मनुष्य सचेत प्राणी है और चेतना विश्व को समझने तथा बदलने की चेतना है। उनके लिए यह निहायत ज़रूरी है कि वे 'जमा करने' वाले शैक्षिक उद्देश्य को त्यागें और उसकी जगह मनुष्यों की समस्याओं को विश्व से उनके संबंधों की समस्याओं के रूप में उठाना शिक्षा का उद्देश्य मानें। 'समस्या-उठाऊ' शिक्षा चेतना के सार *संकल्पशीलता* को स्वीकार करते हुए विज्ञप्तियों को ख़ारिज करती है और संप्रेषण का मूर्त रूप होती है। वह चेतना की इस विशिष्ट विशेषता का प्रतीक है कि चेतना केवल वस्तुओं की बाह्य चेतना नहीं होती, बल्कि जास्परीय 'विभाजन' के रूप में स्वयं अपनी भी चेतना होती है—अर्थात् चेतना की चेतना।

मुक्तिदाई शिक्षा में सूचनाओं के हस्तांतरण नहीं होते, बल्कि संज्ञान (कॉगनीशन) के कर्म होते हैं। यह अधिगम की वह स्थिति है, जिसमें संज्ञेय वस्तु (संज्ञान के कर्म का अंत होने के बजाए) संज्ञाताओं के बीच एक माध्यम का काम करती है। संज्ञाताओं में एक ओर शिक्षक होता है, दूसरी ओर छात्र। तदनुसार, समस्या-उठाऊ शिक्षा सबसे पहले शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध के समाधान की मांग करती है। अन्यथा संज्ञाताओं के बीच संवादात्मक संबंध नहीं बन सकते, जो एक ही संज्ञेय वस्तु के बोध में परस्पर सहयोग कर सकने के लिए अनिवार्य हैं।

वास्तव में, समस्या-उठाऊ शिक्षा उन लंबवत सांचों (पैटर्न) को, जो बैंकीय शिक्षा की विशेषता होते हैं, तोड़ कर स्वतंत्रता का व्यवहार करने के अपने काम को तभी पूरा कर सकती है, जब वह उपर्युक्त अंतर्विरोध का समाधान कर सके। संवाद से शिक्षक 'छात्रों का शिक्षक' और छात्र 'शिक्षक के छात्र' नहीं रहते, बल्कि एक नया पद सामने आता है : छात्र-शिक्षकों के साथ शिक्षक-क्षात्र के साथ। अब शिक्षक महज वह नहीं रहता है 'जो पढ़ाता है', बल्कि छात्रों से संवाद करते समय

स्वयं भी उनसे पढ़ता है। दूसरी तरफ छात्र भी वे नहीं रहते 'जो पढ़ते हैं', बल्कि शिक्षक से संवाद करते समय पढ़ने के साथ-साथ पढ़ाते भी हैं। शिक्षक और छात्र, दोनों उस प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी हो जाते हैं, जिसमें सभी की वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया में 'अधिकार' पर आधारित तर्कों की कोई वैधता नहीं रहती, क्योंकि यहां अधिकारी को यदि काम करना है तो उसे स्वतंत्रता के *विरुद्ध* नहीं, बल्कि उसके *पक्ष* में होना पड़ेगा। यहां न तो कोई दूसरे को शिक्षित करता है, न स्वयं-शिक्षित होता है। यहां मनुष्य एक-दूसरे को शिक्षित करते हैं और उनके बीच में होता है विश्व, अर्थात् वे संज्ञेय वस्तुएं, जो बैंकीय शिक्षा में शिक्षक की *अपनी* वस्तुएं होती हैं।

बैंकीय अवधारणा में (जिसमें हर चीज़ की दो फांक करने की प्रवृत्ति होती है) शिक्षक के कर्म की दो अवस्थाएं मानी जाती हैं। पहली अवस्था में, जब वह अपने अध्ययन-कक्ष में या प्रयोगशाला में बैठकर छात्रों के लिए पाठ तैयार करता है, संज्ञेय वस्तु का संज्ञान करता है; दूसरी अवस्था में वह छात्रों के सामने उस वस्तु का प्रतिपादन करता है। छात्रों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे उस वस्तु को जानें, अपेक्षा यह की जाती है कि शिक्षक ने जो बातें बताई हैं, उन्हें याद कर लें। छात्र भी किसी संज्ञान-कर्म का अभ्यास नहीं करते, क्योंकि जिस वस्तु पर यह कर्म होना चाहिए, वह शिक्षक और छात्रों के बीच आलोचनात्मक चिंतन उत्पन्न करने का माध्यम नहीं होती, बल्कि शिक्षक की अपनी संपत्ति होती है। अतः 'ज्ञान और संस्कृति को सुरक्षित रखने' के नाम पर हमें एक ऐसी व्यवस्था मिलती है, जिसमें न तो सच्चा ज्ञान उपलब्ध होता है, न सच्ची संस्कृति।

समस्या-उठाऊ शिक्षा की पद्धति शिक्षक-छात्र की गतिविधि की दो फांक नहीं करती, क्योंकि शिक्षक एक जगह 'संज्ञानात्मक' और दूसरी जगह 'वर्णनात्मक' नहीं होता। वह हमेशा 'संज्ञानात्मक' होता है, चाहे वह शिक्षा की कोई परियोजना तैयार कर रहा हो या छात्रों से संवाद कर रहा हो। वह संज्ञेय वस्तुओं को अपनी निजी संपत्ति नहीं, बल्कि ऐसी वस्तु समझता है, जिस पर उसे और छात्रों को विचार करना है। छात्र—जो अब दब्बू श्रोता नहीं रहते—शिक्षक से संवाद करते हुए आलोचनात्मक सह-अनुसंधानकर्ता बन जाते हैं। शिक्षक छात्रों के विचारार्थ सामग्री प्रस्तुत करता है और जब वे उस पर अपने विचार व्यक्त करते हैं, वह उससे संबंधित अपने पूर्ववर्ती विचारों की पुनर्परीक्षा करता है। समस्या-उठाऊ शिक्षक की भूमिका, छात्रों के साथ मिल कर, ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने की होती है, जिनमें कट्टर विचार ('डोक्सा') के स्तर का ज्ञान तर्क ('लागोस') के स्तर के उच्चतर ज्ञान में बदले।

जहां बैंकीय शिक्षा सृजनात्मक शक्ति को कुंठित और सौंदर्यचेतना को अवरुद्ध करती है, वहां समस्या-उठाऊ शिक्षा में निरंतर यथार्थ का अनावरण होता

रहता है। जहां बैंकीय शिक्षा चेतना को *डूब* की दशा में बनाए रखने की कोशिश करती है, वहां समस्या-उठाऊ शिक्षा चेतना को *उभारने* तथा यथार्थ में *आलोचनात्मक हस्तक्षेप* करने का प्रयास करती है।

छात्र ज्यों-ज्यों स्वयं को विश्व में और विश्व के साथ रख कर देखने से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सामना करते हैं, त्यों-त्यों उन्हें उत्तरोत्तर अधिक चुनौती मिलती है और वे उसका सामना करना अपना कर्तव्य समझने लगते हैं। वे इस चुनौती का सामना केवल एक सैद्धांतिक प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि एक समूचे संदर्भ में अन्य समस्याओं से संबंधित चुनौती के रूप में करते हैं। इसलिए इसके परिणामस्वरूप बनने वाली उनकी समझ उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक होती जाती है। उसमें से अलगाव का तत्व निरंतर कम होता जाता है। जब वे इस चुनौती का जवाब देते हैं, उनके सामने नई चुनौतियां आती हैं, जिनसे नई सूझबूझ पैदा होती है; और छात्र धीरे-धीरे स्वयं को प्रतिबद्ध मानने लगते हैं।

स्वतंत्रता का व्यवहार करने वाली शिक्षा—प्रभुत्व का व्यवहार करने वाली शिक्षा के विपरीत—मनुष्य को अमूर्त्त, अलग-थलग, अकेला और विश्व से असंपृक्त मानने से इनकार करती है। वह विश्व को मनुष्यों से अलग कोई और यथार्थ मानने से भी इनकार करती है। प्रामाणिक चिंतन न तो मनुष्य को अमूर्त्त समझता है, न विश्व को मनुष्यों से रहित समझता है। वह मनुष्यों को विश्व से उनके संबंधों में समझता है। इन संबंधों में चेतना और विश्व, दोनों सहवर्ती होते हैं। चेतना न तो विश्व की पूर्ववर्ती होती है, न उसका अनुसरण करती है। सार्त्र ने लिखा है : जब व्यक्ति की चेतना सुषुप्त अवस्था में होती है तो उसके लिए बाहरी दुनिया भी सोई होती है। इस तरह चेतना से अलग होकर भी बाहरी दुनिया उससे जुड़ी है। चिली में हमारे एक संस्कृति मंडल में संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा पर चर्चा (एक कोडीकरण के आधार पर)[3] हो रही थी। चर्चा के बीच में ही एक किसान, जो बैंकीय प्रतिमानों के अनुसार परम अज्ञानी था, बोला, "अब मेरी समझ में आया कि मनुष्य के बिना कोई विश्व नहीं।" जब शिक्षक ने इसके जवाब में कहा कि "तर्क के लिए, मान लो, पृथ्वी के सभी मनुष्य मर जाएं, लेकिन पृथ्वी बची रहे; तमाम पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदियां, समुद्र, तारे आदि बचे रहें तो क्या यह सब विश्व नहीं होगा ?" किसान ने ज़ोर देकर कहा, "अरे, नहीं ! तब कोई यह कहने वाला ही नहीं होगा कि 'यह विश्व है'।"

किसान यह कहना चाहता था कि उस समय विश्व की चेतना नहीं होगी, जिसमें यह बात अनिवार्य रूप से शामिल है कि तब चेतना का विश्व भी नहीं होगा। 'मैं' का अस्तित्व 'मैं नहीं' के अस्तित्व के बिना संभव नहीं। बदले में 'मैं नहीं' का अस्तित्व भी 'मैं' के अस्तित्व पर निर्भर है। विश्व, जो चेतना को अस्तित्व में लाता है, उसी चेतना *का* विश्व हो जाता है। अतः सार्त्र की उपर्युक्त बात ठीक

है कि : जब व्यक्ति की चेतना सुषुप्त अवस्था में होती है तो उसके लिए दुनिया भी सोई हुई होती है।

मनुष्य स्वयं पर और साथ ही विश्व पर विचार करते हुए जब अपने बोध की परिधि का विस्तार करते हैं, वे उन प्रपंचों को भी देखने लगते हैं, जो पहले उनकी आंखों से ओझल रहते थे। हुस्सेर्ल ने लिखा है :

> बोध में, जिसे एक सुस्पष्ट अभिज्ञा के रूप में बोध कहा जा सके, मैं किसी वस्तु को, मसलन काग़ज़ को, ध्यान से देखता हूं। मैं उसे यह, यहां और अब के रूप में समझता हूं। समझना उस प्रत्येक वस्तु को छांट कर अलग करना है, जिसकी अनुभव में एक पृष्ठभूमि होती है। काग़ज़ के पास और इर्दगिर्द पुस्तकें, पेंसिलें, स्याही की दवात आदि पड़ी हैं, और एक अर्थ में मुझे इनका भी 'बोध होता है', क्योंकि ये मेरे 'अंतर्ज्ञान के क्षेत्र ' में निरंतर मौजूद हैं। लेकिन जब मैंने काग़ज़ पर ध्यान दिया था, इन चीज़ों पर ध्यान नहीं दिया था। अतः ये चीज़ें मेरी समझ में भी नहीं आईं। द्वितीयक अर्थ में भी नहीं। वे दिखाई तो पड़ीं, लेकिन छांट कर अलग नहीं की गईं, अपने-आप में कुछ नहीं मानी गईं। यदि 'अंतर्ज्ञान की क्रिया' में ध्यान देना पहले से ही शामिल है, तो किसी चीज़ का प्रत्येक बोध ऐसे पार्श्व अंतर्ज्ञानों से अथवा पार्श्व अभिज्ञा के ऐसे क्षेत्रों से संबंधित होगा, बशर्ते कि यह भी एक 'सचेत अनुभव' हो। अथवा, और भी संक्षेप में कहें तो, यह वस्तुपरक पृष्ठभूमि में, जिसका सहबोध किया जाता है, वास्तव में पड़ी हुई चीज़ों 'की चेतना' हो।

वह, जो वस्तुपरक रूप में मौजूद था, लेकिन गहरे अर्थों में जिसका बोध नहीं किया गया था (यदि सचमुच कोई बोध किया भी गया था तो), अब एक समस्या का रूप लेकर, और इसलिए एक चुनौती बन कर, 'अलग से' दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी 'पार्श्व अभिज्ञा' में से उसके तत्वों को अलग करके देखने लगते हैं और उन पर विचार करने लगते हैं। ये तत्व अब मनुष्य के विचार की वस्तु बन जाते हैं, और इस प्रकार, उनके कर्म तथा संज्ञान की वस्तु बन जाते हैं।

समस्या-उठाऊ शिक्षा में मनुष्य यह देखने वाली अपनी आलोचनात्मक बोध-शक्ति का विकास करते हैं कि उस विश्व में, *जिसमें* और *जिसके साथ* वे स्वयं को पाते हैं, वे कैसे जीते हैं। वे विश्व को एक स्थिर यथार्थ के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे यथार्थ के रूप में देखने लगते हैं, जो प्रक्रिया में है, जिसका रूपांतरण हो रहा है। हालांकि मनुष्य और विश्व के द्वंद्वात्मक संबंध इस पर निर्भर नहीं करते कि उनका बोध किस प्रकार किया जा रहा है (या उनका कोई बोध किया भी जा रहा है या नहीं), क्योंकि वे इस बोध से स्वतंत्र होते हैं। लेकिन यह

भी सच है कि मनुष्य कर्म का जो रूप अपनाते हैं, वह बड़ी हद तक इस पर निर्भर होता है कि वे विश्व में स्वयं को किस प्रकार देखते हैं। अतः शिक्षक-छात्र और छात्र-शिक्षक एक ही साथ स्वयं और विश्व पर विचार करते हैं और ऐसा करते समय वे चिंतन और कर्म को अलग नहीं करते। इस प्रकार वे चिंतन और कर्म के एक प्रामाणिक रूप की स्थापना करते हैं।

यहां एक बार फिर, शिक्षा की वे दोनों अवधारणाएं और उनके व्यवहार, जिनका हम विश्लेषण कर रहे हैं, आपस में टकराते हैं। बैंकीय शिक्षा (स्पष्ट कारणों से) यथार्थ के मिथकीकरण द्वारा उन तथ्यों को छिपाने की कोशिश करती है, जिनसे पता चलता है कि मनुष्य विश्व में कैसे जीते हैं; जबकि समस्या-उठाऊ शिक्षा का उद्देश्य मिथकों को हटा कर यथार्थ को सामने लाना है। बैंकीय शिक्षा संवाद को रोकती है; जबकि समस्या-उठाऊ शिक्षा संज्ञान के कर्म के लिए, जो यथार्थ का अनावरण करता है, संवाद को अपरिहार्य मानती है। बैंकीय शिक्षा छात्रों को सहायता की वस्तु मानती है; जबकि समस्या-उठाऊ शिक्षा उन्हें आलोचनात्मक ढंग से सोचने वाला बनाती है। बैंकीय शिक्षा सृजनात्मकता को निरुद्ध करती है तथा चेतना का विश्व से अलगाव करके चेतना की *संकल्पशीलता* को पालतू बनाती है (हालांकि वह उसे पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकती) और ऐसा करके वह मनुष्यों के पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक कर्तव्य को नकारती है। समस्या-उठाऊ शिक्षा सृजनात्मकता को अपना आधार बनाती है तथा यथार्थ पर सच्चा चिंतन और कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार मनुष्यों के पूर्णतर मनुष्य बनने के कर्तव्य में वह सहायक होती है। कारण यह है कि मनुष्य जिज्ञासा और सृजनात्मक रूपांतरण में संलग्न होने पर ही प्रामाणिक मनुष्य बन सकते हैं। कुल मिला कर बैंकीय सिद्धांत और व्यवहार जड़ता तथा स्थिरता की शक्तियों के रूप में मनुष्यों को ऐतिहासिक प्राणी मानने में असफल रहते हैं, जबकि समस्या-उठाऊ सिद्धांत और व्यवहार मनुष्य की ऐतिहासिकता को अपना प्रस्थान-बिंदु मानते हैं।

समस्या-उठाऊ शिक्षा मनुष्यों को ऐसे प्राणी मानती है, जो *संभवन* की प्रक्रिया में है। अर्थात् वे अभी अधूरे हैं, अपूर्ण हैं, और ऐसे यथार्थ के अंदर तथा उसके साथ रहते हैं, जो उन्हीं की तरह अधूरा और संभव होता हुआ यथार्थ है। यह सच है कि अन्य प्राणी भी अधूरे हैं, लेकिन वे ऐतिहासिक नहीं हैं। मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी है, जो अपने अधूरेपन को जानते हैं; अपनी अपूर्णता को समझते हैं। शिक्षा, जो नितांत मानवीय चीज़ है, इस अपूर्णता और इस अभिज्ञा से ही आरंभ होती है। मनुष्यों के अधूरे चरित्र और यथार्थ के रूपांतरणशील चरित्र के कारण ही यह आवश्यक होता है कि शिक्षा सतत चलती रहने वाली एक गतिविधि हो।

इस प्रकार शिक्षा आचरण (व्यवहार में) में निरंतर पुनर्निर्मित होती है। *स्वत्व*

के लिए उसका *संभवन* अनिवार्य है। इसकी 'अवधि' (बर्गसां ने जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है, उस अर्थ में) *स्थायित्व* और *परिवर्तन* के विरुद्धों की अन्योन्यक्रिया में पाई जाती है। बैंकीय पद्धति स्थायित्व पर ज़ोर देती है और प्रतिक्रियावादी हो जाती है; जबकि समस्या-उठाऊ शिक्षा—जो न तो 'सभ्य-शिष्ट' वर्तमान को स्वीकार करती है, न पूर्वनिश्चित भविष्य को—स्वयं को गतिशील वर्तमान से जोड़ती है और क्रांतिकारी बन जाती है।

समस्या-उठाऊ शिक्षा क्रांतिकारी भविष्यता है। अतः यह भविष्यसूचक है (अतएव आशावादी है) और मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति से मेल खाती है। यह इस बात की अभिपुष्टि करती है कि मनुष्य स्वयं के पार जाते हैं, आगे देखते हैं और आगे बढ़ते हैं। जड़ता उनके लिए मृत्यु के समान है। अतीत की ओर देखना उनके लिए यह समझने का साधन है कि वे क्या हैं और कौन हैं, ताकि इसे अधिक स्पष्टता के साथ समझ कर वे और ज़्यादा समझदारी के साथ भविष्य का निर्माण कर सकें। अतः यह शिक्षा उस आंदोलन से अपना तादात्म्य कायम करती है, जिसमें मनुष्य अपने अधूरेपन को जानने वाले और उसे दूर करने का प्रयास करने वाले प्राणियों के रूप में संलग्न होते हैं। वह एक ऐतिहासिक आंदोलन होता है, जिसका एक प्रस्थान-बिंदु होता है, जिसके कर्ता होते हैं, और जिसका एक उद्देश्य होता है।

इस आंदोलन का प्रस्तान-बिंदु स्वयं मनुष्य होते हैं। लेकिन मनुष्य चूंकि विश्व से अलग नहीं रहते, यथार्थ से अलग नहीं रहते, इसलिए इस आंदोलन का आरंभ मनुष्य-विश्व संबंध से होना आवश्यक है। तदनुसार, इसका प्रस्थान-बिंदु हमेशा 'आज और अभी' के मनुष्य होने चाहिएं, क्योंकि उनसे ही वह स्थिति बनती है, जिसमें वे डूबे हुए होते हैं, जिसमें से उन्हें ऊपर उठना होता है और जिसमें वे हस्तक्षेप करते हैं। इस स्थिति से आरंभ करके ही—जो यह भी निश्चित करती है कि वे इसका बोध कैसे करते हैं—वे आगे बढ़ना शुरू करते हैं। उनकी यह शुरूआत प्रामाणिक हो, इसके लिए आवश्यक है कि वे अपनी दशा को नियतिबद्ध और अपरिवर्तनीय दशा के रूप में न देखकर, बल्कि स्वयं को सीमित करने वाली दशा के रूप में ही देखें—और उसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार करें।

जहां बैंकीय पद्धति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्यों को अपनी स्थिति के प्रति भाग्यवादी बनाती है, वहां समस्या-उठाऊ पद्धति उसी स्थिति को उनके सामने एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करती है। ज्यों ही उनकी स्थिति उनके संज्ञान (बोध) की वस्तु बनने लगती है, त्यों ही उन्हें भाग्यवादी बनाने वाला भोला या जादुई क़िस्म का बोध दूर होने लगता है और यथार्थ का ऐसा बोध उसकी जगह लेने लगता है, जो यथार्थ की ही भांति स्वयं अपने को भी जानने में समर्थ होता है, और इस प्रकार यह बोध यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक ढंग से वस्तुपरक हो सकता है।

अपनी स्थिति की गहरी चेतना उस स्थिति को ऐसे ऐतिहासिक यथार्थ के

रूप में समझने में मनुष्यों को समर्थ बनाती है, जिसका रूपांतरण हो सकता है। इस बोध के कारण आत्मसमर्पण की भावना की जगह उनमें रूपांतरण तथा अन्वेषण की प्रेरणा उत्पन्न होती है, उनको महसूस होता है कि इस पर उनका नियंत्रण है। यदि मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी के रूप में अन्य मनुष्यों के साथ अन्वेषण के आंदोलन में संलग्न हों और वह आंदोलन उनके नियंत्रण में न हो, तो यह उनकी मनुष्यता के विरुद्ध होगा (और है)। ऐसी कोई भी स्थिति, जिसमें कुछ मनुष्य अन्य मनुष्यों को अन्वेषण की प्रक्रिया में संलग्न होने से रोकते हों, हिंसा की स्थिति है। इसमें यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कौन-से साधन इस्तेमाल किए जाते हैं; महत्त्वपूर्ण यह है कि मनुष्यों को अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता से वंचित कर देना उन्हें वस्तुओं में बदल देना है; और यह हिंसा है।

अन्वेषण के इस आंदोलन का लक्ष्य मानुषीकरण होना चाहिए, जो मनुष्य का ऐतिहासिक कर्तव्य है। लेकिन पूर्ण मनुष्यता प्राप्त करने का प्रयास अकेले-अकेले या व्यक्तिवादी ढंग से नहीं किया जा सकता। इसलिए उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों के शत्रुतापूर्ण संबंधों में यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। कोई भी तब तक प्रामाणिक रूप से मानवीय नहीं हो सकता, जब तक वह दूसरों को मनुष्य बनने से रोकता है। व्यक्तिवादी ढंग से *अधिक* मानवीय बनने का मतलब है स्वार्थपूर्ण ढंग से *अधिक का स्वामी बनना,* जो अमानुषीकरण का ही एक रूप है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय वही हो सकता है, जिसके पास कुछ न हो। मानवीय होने के लिए मनुष्यों को बहुत कुछ का स्वामी होना चाहिए, लेकिन इसीलिए ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोगों का *स्वामित्व* दूसरों के *स्वामित्व* में बाधक बने। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग, जो अधिक के स्वामी हैं, बहुत-से लोगों को कुचलने की शक्ति को बढ़ाने के लिए अपने स्वामित्व को बढ़ाएं और दूसरों के स्वामित्व में बाधक बनें।

समस्या-उठाऊ शिक्षा एक मानववादी तथा मुक्तिदाई आचरण के रूप में इस बात को आधारभूत मान कर चलती है कि प्रभुत्व के अंतर्गत दबे कुचले मनुष्यों को अपनी मुक्ति के लिए अवश्य लड़ना चाहिए। इसी उद्देश्य से यह शिक्षा शिक्षकों और छात्रों को इस योग्य बनाती है कि वे अधिकारवाद और अलगाव पैदा करने वाले बुद्धिवाद पर विजय पाकर शैक्षिक प्रक्रिया के कर्ता बनें। यह शिक्षा मनुष्यों को इस योग्य भी बनाती है कि वे यथार्थ के अपने मिथ्या बोध पर विजय पाएं। इस शिक्षा के कारण विश्व प्रवंचनापूर्ण शब्दों में वर्णन करने की वस्तु नहीं रह जाता, बल्कि मनुष्यों के उस रूपांतरकारी कर्म की वस्तु बन जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनका मानुषीकरण होता है।

समस्या-उठाऊ शिक्षा उत्पीड़कों का हित-साधन नहीं करती। वह ऐसा कर ही नहीं सकती। कोई उत्पीड़नकारी व्यवस्था इसकी इजाज़त नहीं दे सकती कि

उत्पीड़ित लोग पूछने लगें : ऐसा क्यों ? इस शिक्षा को व्यवस्थित रूप से तो कोई क्रांतिकारी समाज ही लागू कर सकता है, लेकिन इस पद्धति को लागू करने से पहले क्रांतिकारी नेताओं के हाथों में पूरी सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। वे क्रांति की प्रक्रिया में ही इसे लागू कर सकते हैं। और यह आवश्यक भी है। इसलिए आवश्यक है कि वे क्रांति की प्रक्रिया में ऐसा नहीं कर सकते कि *बाद में* क्रांतिकारी ढंग की शिक्षा लागू करने के इरादे से, अंतरिम उपाय के रूप में, बैंकीय पद्धति को इस्तेमाल कर लें और अभी तो काम चलाना है, कहकर इसका औचित्य सिद्ध करें। उन्हें आरंभ से ही क्रांतिकारी होना चाहिए; अर्थात् संवादात्मक होना चाहिए।

टिप्पणियां

1. यह अवधारणा उससे मेल खाती है, जिसे सार्त्र ने 'पाचकीय' या 'पोषकीय' अवधारणा कहा है। इसमें छात्रों का 'पेट भरने' के लिए उन्हें ज्ञान 'पिलाया' जाता है।
2. उदाहरण के लिए, कुछ शिक्षक पाठ्य सामग्री तैयार करते समय यह निर्धारित करते हैं कि अमुक पुस्तक पृष्ठ 10 से 15 तक पढ़ी जाए। और ऐसा वे छात्रों की 'सहायता' के लिए करते हैं।
3. देखिए तीसरा अध्याय—अनुवादक।

तीसरा प्रकरण

संवाद एक मानवीय परिघटना (फेनोमेना) है। इस रूप में जब हम उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं, तब हमें एक ऐसी चीज़ का पता चलता है, जो उसका सार है। यह चीज़ है *शब्द*। लेकिन शब्द संवाद को संभव बनाने वाला एक उपकरण मात्र नहीं, उससे कुछ अधिक भी है। अतः यह पता लगाना ज़रूरी है कि शब्द किन तत्वों से मिल कर बनता है। शब्द के दो आयाम होते हैं : चिंतन और कर्म। ये दोनों शब्द के अंदर ऐसी आमूल-परिवर्तनवादी अन्योन्यक्रिया में रहते हैं कि इनमें से एक को अंशतः भी त्याग दिया जाए तो दूसरा तुरंत क्षतिग्रस्त हो जाता है। ऐसा कोई सच्चा शब्द नहीं, जो शब्द के साथ ही कर्म न हो।[1] अतः एक सच्चा शब्द बोलना विश्व का रूपांतरण करना है।[2]

शब्द के संघटक तत्वों को ज़बर्दस्ती अलग कर दिया जाए तो वह अप्रामाणिक हो जाता है। अप्रामाणिक शब्द यथार्थ का रूपांतरण करने में समर्थ नहीं रहता। जब किसी शब्द को उसके कर्म वाले आयाम से वंचित कर दिया जाता है तो चिंतन स्वयमेव क्षतिग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार शब्द एक निरर्थक बकबक में, *शब्दाडंबर* में, एक अलगावग्रस्त और अलगावकारी 'प्रलाप' में बदल जाता है। वह खोखला शब्द बन जाता है, जो विश्व की भर्त्सना नहीं कर सकता, क्योंकि रूपांतरण की प्रतिबद्धता के बिना भर्त्सना असंभव है, और कर्म के बिना कोई रूपांतरण नहीं होता।

दूसरी तरफ़, यदि चिंतन को छोड़कर तथा उसको नुकसान पहुंचा कर केवल कर्म पर ज़ोर दिया जाए तो शब्द *सक्रियतावाद* में बदल जाता है, जिसका अर्थ है कर्म के लिए कर्म, जो सच्चे आचरण का निषेध करके संवाद को असंभव बनाता है। अतः कर्म को चिंतन से या चिंतन को कर्म से अलग करने वाला कोई भी दो फांक वाला विभाजन अस्तित्व के अप्रामाणिक रूपों को जन्म देकर चिंतन के अप्रामाणिक रूपों को जन्म देता है, जो उस विभाजन को और मजबूत बनाते हैं।

मानवीय अस्तित्व चुप नहीं रह सकता, लेकिन मिथ्या शब्दों से उसका पोषण नहीं किया जा सकता। उसका पोषण उन सच्चे शब्दों से ही किया जा सकता है, जिनसे मनुष्य विश्व का रूपांतरण करते हैं। मानवीय रूप में अस्तित्ववान होने का अर्थ है विश्व को कोई नाम देना, उसे बदलना। एक बार जब उसे कोई नाम दिया

जाए तो विश्व अभिधान (नामकरण) करने वालों के सामने पुनः प्रस्तुत होता है और इस बार एक समस्या के रूप में सामने आता है। इसके बाद उसे पुनः एक नया *नाम देने* की ज़रूरत पड़ती है। मनुष्य ख़ामोशी में नहीं, बल्कि शब्द में, कार्य में, कर्म और चिंतन में निर्मित होते हैं।[3]

एक सच्चा शब्द बोलना—जो कार्य है, आचरण है—विश्व का रूपांतरण करना है। लेकिन उस शब्द को बोलना कुछ थोड़े-से लोगों का विशेषाधिकार नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। परिणामतः कोई व्यक्ति सच्चे शब्द को अकेला नहीं बोल सकता—न ही वह उस शब्द को किसी और *के लिए* बोल सकता है। जो दूसरों से उनके शब्द छीन लेता है, वह निर्देश के रूप में तो, सच्चा शब्द बोला ही नहीं जा सकता।

संवाद उन मनुष्यों के बीच होने वाली मुठभेड़ है, जिनकी मध्यस्थता विश्व करता है और जो विश्व को नाम देने के लिए एक-दूसरे का सामना करते हैं। अतः जो विश्व को नाम देना चाहते हों और जो उसे नाम न देना चाहते हों, ऐसे लोगों के बीच संवाद नहीं हो सकता। संवाद उन लोगों के बीच भी नहीं हो सकता, जिनमें एक तरफ़ दूसरों को अपना शब्द बोलने का अधिकार न देने वाले हों, और दूसरी तरफ़ वे, जिनसे अपना शब्द बोलने का अधिकार छीन लिया गया हो। अपना शब्द बोलना मनुष्य का आद्य अधिकार है। जिन मनुष्यों से यह अधिकार छीन लिया गया है, उन्हें सबसे पहले अपने इस अधिकार को पुनः प्राप्त करना चाहिए और अमानुषिक बनाने वाले इस आक्रमण को जारी रहने से रोकना चाहिए।

यदि अपना शब्द बोल कर मनुष्य विश्व को नाम देते हैं और इस प्रकार विश्व का रूपांतरण करते हैं, तो संवाद स्वयं एक ऐसा तरीक़ा बन जाता है, जिसमें मनुष्य अपने मनुष्य होने का अर्थ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार संवाद एक अस्तित्वगत आवश्यकता है। और चूंकि संवाद एक मुठभेड़ है, जिसमें संवादकर्ताओं के संयुक्त चिंतन और कर्म उस विश्व को संबोधित होते हैं, जिसका रूपांतरण और मानुषीकरण होना है, इसलिए संवाद को न तो किसी एक व्यक्ति के विचारों को अन्य व्यक्तियों में 'जमा' करने के काम में सीमित किया जा सकता है और न ही यह विचारों का वह सामान्य आदान-प्रदान हो सकता है, जिसमें बहस करने वाले लोग विचारों का 'उपभोग' करते हैं। संवाद वह वाद-विवाद भी नहीं है, जिसमें भाग लेने वाले लोग न तो विश्व को कोई नाम देने के लिए प्रतिबद्ध हों, न सत्य की खोज के लिए प्रतिबद्ध, बल्कि अपने-अपने सत्य को दूसरों पर थोपना चाहते हों। चूंकि संवाद उन लोगों की मुठभेड़ है, जो विश्व को नाम देना चाहते हैं, इसलिए यह स्थिति हरगिज़ ऐसी नहीं होनी चाहिए कि कुछ लोग दूसरों के निमित्त विश्व को नाम देने का काम करें। संवाद एक सृजन-कर्म है। इसे एक मनुष्य पर दूसरे मनुष्य द्वारा प्रभुत्व जमाने का धूर्ततापूर्ण औज़ार कतई नहीं होना चाहिए। प्रभुत्व

संवाद में भी अंतर्निहित होता है, लेकिन वह विश्व पर संवादकर्ताओं का प्रभुत्व होता है, क्योंकि मनुष्यों की मुक्ति के लिए उस विश्व पर विजय प्राप्त की जानी है।

लेकिन विश्व और मनुष्यों के प्रति गहरे प्रेम के बिना संवाद संभव नहीं। विश्व को नाम देना सृजन और पुनर्सृजन का कर्म है, जो प्रेम से अनुप्राणित हुए बिना नहीं किया जा सकता।[4] प्रेम संवाद का आधार होने के साथ-साथ स्वयं संवाद है। इस प्रकार यह अनिवार्यतः उत्तरदाई कर्ताओं का काम है, और यह प्रभुत्व के किसी संबंध में संभव नहीं। प्रभुत्व तो प्रेम में रोग उत्पन्न करता है, जो शासक में परपीड़न के रूप में, और शासित में आत्मपीड़न के रूप में सामने आता है। चूंकि प्रेम भय का नहीं, साहस का कर्म है, इसलिए प्रेम करना अन्य मनुष्यों से प्रतिबद्ध होना है। उत्पीड़ित कहीं के भी हों, प्रेम का कर्म उनके उद्देश्य के प्रति, मुक्ति के उद्देश्य के प्रति, प्रतिबद्धता है। और चूंकि यह प्रतिबद्धता प्रेममय होती है, इसलिए संवादात्मक होती है। जैसे वीरता का कर्म भावुकता से संभव नहीं, वैसे ही प्रेम भी भावुकतापूर्ण नहीं हो सकता। जैसे स्वतंत्रता के कर्म चालबाज़ी से संभव नहीं, वैसे ही प्रेम भी किसी तरह की चालबाज़ी का बहाना नहीं होना चाहिए। प्रेम के कर्म से, स्वतंत्रता के अन्य कर्मों का जन्म होना चाहिए, अन्यथा वह प्रेम नहीं है। उत्पीड़न की स्थिति ने प्रेम को असंभव बना दिया है, अतः प्रेम की वापसी उत्पीड़न की स्थिति को समाप्त करने से ही हो सकती है। यदि मैं विश्व से प्रेम नहीं करता, यदि मैं जीवन से प्रेम नहीं करता, यदि मैं मनुष्यों से प्रेम नहीं करता, तो मैं संवाद कैसे कर सकता हूं ?

दूसरी तरफ़ संवाद विनम्रता के बिना भी संभव नहीं है। विश्व को नाम देना, जिसके द्वारा मनुष्य निरंतर विश्व की पुनर्रचना करते हैं, हेकड़ी के साथ किया जाने वाला कर्म नहीं हो सकता। संवाद में मनुष्यों की मुठभेड़, सीखने और करने के साझे प्रयास के लिए होती है, अतः यदि दोनों पक्षों में (या एक में) विनम्रता नहीं है, तो संवाद टूट जाएगा। यदि मैं दूसरों को हमेशा अज्ञानी बताऊं और अपने अज्ञान को न देखूं, तो मैं संवाद कैसे कर सकता हूं ? यदि मैं स्वयं को दूसरों से अलग समझूं—उन्हें महज 'वे' समझूं और उनमें अपने जैसे 'मैं' न देख पाऊं, तो मैं संवाद कैसे कर सकता हूं ? यदि मैं यह मान कर चलूं कि विश्व को नाम देना अभिजन वर्ग (इलीट क्लास) का काम है और जनता इतिहास में आई हुई एक विकृति है, जिससे बचना चाहिए, तो मैं संवाद कैसे कर सकता हूं ? अथवा, यदि मैं दूसरों के द्वारा किए जाने वाले योगदान की तरफ़ से आंखें बंद कर लूं—यहां तक कि वह मुझे बुरा लगे—और मैं विस्थापित हो जाने की आशंका से स्वयं को सताया हुआ और कमज़ोर महसूस करूं, तो मैं संवाद कैसे शुरू कर सकता हूं ? आत्मतुष्टि और संवाद का कोई मेल नहीं। जिन लोगों में विनम्रता नहीं होती (या

जो अपनी विनम्रता खो चुके हैं) वे जनता के पास नहीं आ सकते, उसके साथ विश्व को नाम देने में साझेदार नहीं हो सकते। यदि कोई स्वयं को हर किसी की तरह नश्वर नहीं समझता, तो दूसरों से मुठभेड़ करने के बिंदु तक पहुंचना उसके लिए बहुत मुश्किल है। इस बिंदु पर न तो कोई सर्वथा अज्ञानी होता है और न कोई पूर्ण ज्ञानी; यहां तो ऐसे मनुष्य होते हैं, जो पहले से अधिक जानने और सीखने के लिए मिल जुलकर प्रयास करते हैं।

संवाद के लिए एक और चीज़ ज़रूरी है : मनुष्य में उत्कट विश्वास, निर्माण और पुनर्निर्माण की उसकी शक्ति में विश्वास, सृजन और पुनर्सृजन की उसकी शक्ति में विश्वास, पूर्णतर मनुष्य बनने के उसके कर्तव्य में विश्वास (जो किसी अभिजन वर्ग का विशेषाधिकार नहीं, बल्कि सभी मनुष्यों का जन्मसिद्ध अधिकार है)। मनुष्य में विश्वास संवाद के लिए एक पूर्वसिद्ध आवश्यकता है। 'संवादात्मक मनुष्य' अन्य मनुष्यों से प्रत्यक्ष भेंट होने से पहले ही उन पर विश्वास करता है। लेकिन उसका यह विश्वास कोई भोला विश्वास नहीं होता। 'संवादात्मक मनुष्य' आलोचनात्मक होता है। वह जानता है कि यद्यपि मनुष्य अलगाव की एक ठोस स्थिति में सृजन और रूपांतरण कर सकते हैं, फिर भी वे अपनी शक्ति का इस्तेमाल करने में कमज़ोर हो सकते हैं। लेकिन इस संभावना से मनुष्य में उसका विश्वास नष्ट नहीं होता, बल्कि यह संभावना उसे एक चुनौती-सी लगती है, जिसे स्वीकार करना उसे ज़रूरी लगता है। उसे पक्का यक़ीन होता है कि सृजन और रूपांतरण की शक्ति किसी ठोस स्थिति में बाधित भले ही हो जाए, उसमें पुनः जन्म लेने की प्रवृत्ति होती है। और उसका पुनर्जन्म हो सकता है—अपने-आप या मुफ़्त में नहीं, मुक्ति के लिए किए जाने वाले संघर्ष में और उस संघर्ष के जरिए। उसका पुनर्जन्म होता है दास श्रम को हटा कर उसकी जगह जीवन को सरस बनाने वाले विमुक्त श्रम के आगमन की प्रक्रिया में। इस विश्वास के बिना मनुष्य में संवाद एक ढोंग है, जो अनिवार्यतः स्वयं को पितातुल्य जताने की चालबाज़ी में बदल जाता है।

प्रेम, विनम्रता और विश्वास पर आधारित संवाद एक समस्तरीय संबंध बन जाता है, जिसका तार्किक परिणाम होता है संवादकर्ताओं में एक-दूसरे पर भरोसा। यदि संवाद; प्रेममय, विनम्र और विश्वास से परिपूर्ण संवाद, ऐसे आपसी भरोसे का वातावरण नहीं बनाता जो विश्व को नाम देने में लगे हुए लोगों की साझेदारी को उत्तरोत्तर अधिक घनिष्ठ बनाए, तो अपने-आप में यह एक अंतर्विरोध होगा। ऐसा हो ही नहीं सकता। ज़ाहिर है कि इसके विपरीत, बैंकीय पद्धति वाली शिक्षा के संवाद-विरोधी वातावरण में यह भरोसा ग़ायब होता है। संवाद के लिए मनुष्य में विश्वास एक पूर्वसिद्ध आवश्यकता है और भरोसा संवाद से पैदा होता है। यदि ऐसा नहीं हो रहा है, तो इसका कारण यह होगा कि संवाद की पूर्व शर्तें पूरी नहीं

हुई हैं। मिथ्या प्रेम, झूठी विनम्रता और दुर्बल विश्वास से भरोसा पैदा नहीं होता। भरोसे के लिए ज़रूरी है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष को अपने सच्चे और ठोस इरादों का सबूत दे। यदि उस पक्ष के शब्द उसके कर्मों से मेल नहीं खाते तो भरोसा पैदा नहीं हो सकता। कहना कुछ और, करना कुछ और—अर्थात् अपने ही शब्दों को गंभीरता से न लेना—दूसरों को आप पर भरोसा करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। जनवाद की महिमा गाना और जनता को बोलने न देना एक ढोंग है। मानववाद पर भाषण देना और मनुष्य का निषेध करना एक झूठ है।

संवाद आशा के बिना भी संभव नहीं। आशा की जड़ें मनुष्यों के अधूरेपन में होती हैं, जहां से वे एक अनवरत खोज में आगे बढ़ते हैं। यह पूर्णता की खोज है, जो अकेले-अकेले नहीं, अन्य मनुष्यों के साथ मिल-जुलकर ही की जा सकती है। आशारहित होना ख़ामोशी का एक रूप है, शब्द को नकारने और उससे पलायन करने का एक रूप है। अन्यायपूर्ण व्यवस्था से उत्पन्न होने वाला अमानुषीकरण हताशा नहीं, बल्कि आशा पैदा करता है, जो अन्याय द्वारा नकारी गई मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के अनवरत प्रयास की ओर ले जाती है। मगर यह आशा हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाने और प्रतीक्षा करते रहने से पैदा नहीं हो सकती। प्रतीक्षा मैं तभी कर सकता हूं, जब संघर्षरत रहूं, आशा से प्रेरित रहूं, मन में उम्मीद रख कर संघर्ष करता रहूं। पूर्णतर मनुष्य बनने की आकांक्षा वाले मनुष्यों की मुठभेड़ के रूप में होने वाला संवाद आशाहीनता के वातावरण में संभव ही नहीं। यदि संवाद के सहभागियों को यह लगे कि उनकी कोशिशें निष्फल जाएंगी, तो उनकी यह मुठभेड़ खोखली और निष्फल होगी; नौकरशाही वाली एक उबाऊ और थकाऊ चीज़ बन जाएगी।

अंततः सच्चा संवाद आलोचनात्मक चिंतन के बिना भी संभव नहीं। आलोचनात्मक चिंतन ऐसा चिंतन है, जिसमें विश्व और मनुष्यों के बीच कोई द्विभाजन नहीं किया जाता और दोनों की अविभाज्य एकजुटता को पहचाना जाता है। यह ऐसा चिंतन है, जिसमें यथार्थ को कोई स्थिर चीज़ नहीं माना जाता, बल्कि उसे रूपांतरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। यह ऐसा चिंतन है, जो स्वयं को कर्म से अलग नहीं करता। वह किसी शाश्वत सत्य की खोज में कर्म से पलायन करने के बजाए स्वयं को अल्पकालिकता में डुबोता रहता है, और इसमें शामिल जोख़िमों को निर्भय होकर उठाता है। आलोचनात्मक चिंतन उस भोले चिंतन से बिलकुल भिन्न होता है, जो समझता है कि "ऐतिहासिक समय एक बोझ है, अतीत के अनुभवों और उपलब्धियों का स्तरीकरण है,"[5] जिससे वर्तमान को सामान्यीकृत तथा 'सभ्य-शिष्ट' बनकर उभरना चाहिए। भोले चिंतक के लिए महत्त्वपूर्ण है मनुष्यों के सतत मानुषीकरण के लिए यथार्थ का सतत रूपांतरण। पियरे फर्टर के शब्दों में :

> अब हमारा लक्ष्य किसी प्रतिश्रुत शाश्वतता से चिपके रह कर अल्पकालिकता की जोख़िमों से बचना नहीं हो सकता। अब हमें शाश्वतता को अल्पकालिक बनाना होगा।...समष्टि मेरे सामने किसी ऐसे असीम के रूप में नहीं आती, जो अपनी भारी-भरकम उपस्थिति को मुझ पर थोपे और मैं सोचूं कि मैं इसके अनुकूल बनने के अलावा कुछ नहीं कर सकता। मैं उसे एक ऐसी व्याप्ति के रूप में देखता हूं; एक ऐसे प्रभाव-क्षेत्र के रूप में देखता हूं, जो मेरे द्वारा किए गए कर्म से अपना रूपाकार ग्रहण करता है।

भोले चिंतन के लिए मनुष्य का लक्ष्य है किसी आश्वस्तिदायक स्थान पर मज़बूती से चिपके रहना और उससे तालमेल बनाए रखना। वह अल्पकालिकता को नकारता है, लेकिन इस प्रकार वह स्वयं को ही नकारता है।

संवाद ही, जिसके लिए आलोचनात्मक चिंतन आवश्यक होता है, आलोचनात्मक चिंतन पैदा करता है। संवाद के बिना कोई संप्रेषण नहीं होता, और संप्रेषण के बिना कोई सच्ची शिक्षा नहीं हो सकती। शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान करने वाली शिक्षा में शिक्षक और छात्र, दोनों उस वस्तु का संज्ञान करते हैं, जो उनके बीच मध्यस्थता करती है। इस प्रकार शिक्षा का संवादात्मक चरित्र स्वतंत्रता का व्यवहार है। उसका यह चरित्र उस समय सामने नहीं आता, जब शिक्षक-छात्र एक शैक्षिक स्थिति में छात्र-शिक्षकों से मिलते हैं। दरअसल, वह तब सामने आना शुरू करता है, जब शिक्षक-छात्र स्वयं से पूछता है कि छात्र-शिक्षकों से उसका संवाद *किस विषय में* होगा। संवाद की अंतर्वस्तु की चिंता वास्तव में शिक्षा की कार्यक्रम-अंतर्वस्तु की चिंता है।

बैंकीय शिक्षा वाले संवाद-विरोधी शिक्षक के लिए अंतर्वस्तु का प्रश्न केवल उस कार्यक्रम से संबंधित होता है, जिसके बारे में उसे छात्रों को बताना है; और इस प्रश्न का उत्तर वह अपना कार्यक्रम बना कर देता है। संवादात्मक और समस्या-उठाऊ शिक्षा वाले शिक्षक-छात्र के लिए शिक्षा की कार्यक्रम-अंतर्वस्तु छात्रों को दिया जाने वाला कोई उपहार नहीं होती। उसके लिए वह सूचना के टुकड़ों के रूप में छात्रों के भीतर जमा करके उन पर थोपी जाने वाली चीज़ भी नहीं होती। उसके लिए वह किसी चीज़ की संगठित, व्यवस्थित और विकसित 'पुनर्प्रस्तुति' होती है, जो उस चीज़ के बारे में और अधिक जानना चाहने वालों के लिए की जाती है।[6]

प्रामाणिक शिक्षा का क्रियान्वयन 'ख' *के लिए* 'क' के द्वारा या 'ख' *के बारे में* 'क' के द्वारा नहीं, बल्कि 'क' और 'ख' *के साथ* होता है। उसमें विश्व मध्यस्थ होता है—एक ऐसा विश्व, जो दोनों पक्षों को प्रभावित करता है, दोनों को चुनौती देता है। इससे दोनों के मत या विचार बनते हैं। इन विचारों में चिंताएं होती हैं, संदेह होते हैं, आशाएं या निराशाएं होती हैं। अतः इन विचारों में ऐसे मूलविषय

(थीम्स) अंतर्निहित रहते हैं, जिनके आधार पर शैक्षिक कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का निर्माण किया जा सकता है। वह भोला मानववाद, जो 'अच्छे आदमी' का आदर्श मॉडल (प्रतिरूप) पैदा करना चाहता है, वास्तविक मनुष्यों की ठोस, अस्तित्वगत, वर्तमान स्थिति की अनदेखी कर देता है। प्रामाणिक मानववाद, पियरे फर्टर के शब्दों में, "हमारी पूर्ण मनुष्यता की अभिज्ञा को, एक शर्त और एक ज़िम्मेदारी के रूप में, एक स्थिति और एक योजना के रूप में, उभरने देता है। "हम श्रमिकों के पास—चाहे वे शहरी मज़दूर हो या ग्रामीण किसान[7]—बैंकीय शैली में उन्हें 'ज्ञान देने' के लिए नहीं जा सकते। हम स्वनिर्मित शैक्षिक कार्यक्रम के अनुसार उन पर 'अच्छे आदमी' का मॉडल थोपने के लिए भी नहीं जा सकते। बहुत-सी राजनीतिक और शैक्षिक योजनाएं इसीलिए असफल हुई हैं कि उन्हें बनाने वालों ने उन्हें यथार्थ संबंधी अपने निजी विचारों के अनुसार बनाया और इस बात का ज़रा भी ध्यान नहीं रखा कि ये योजनाएं कथित रूप से जिनके लिए हैं, वे (मात्र उनके कर्म की वस्तुएं नहीं) मनुष्य है और एक *स्थिति विशेष में जीने वाले मनुष्य हैं।*

सच्चे मानववादी शिक्षक और प्रामाणिक क्रांतिकारी के लिए कर्म की वस्तु अन्य मनुष्य नहीं, बल्कि वह यथार्थ होता है, जिसका रूपांतरण अन्य मनुष्यों के साथ मिल-जुलकर किया जाना है। ये तो उत्पीड़क ही होते हैं, जो मनुष्यों को वस्तु मानकर उन पर इस उद्देश्य से कर्म करते हैं कि उन्हें उस यथार्थ से तालमेल बनाए रखने का पाठ पढ़ाया जा सके, जिसे यथावत बनाए रखा जाना है। लेकिन, दुर्भाग्य से, क्रांतिकारी नेता भी अपने क्रांतिकारी कर्म के लिए जनता का समर्थन पाने की इच्छा से अक़्सर बैंकीय शिक्षा का तरीक़ा अपना लेते हैं और शैक्षिक कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का निर्माण 'ऊपर से नीचे की ओर' या लंबवत ढंग से करते हैं। वे शहरी या ग्रामीण जनता के पास ऐसी योजनाएं लेकर जाते हैं, जो विश्व के बारे में उनके अपने विचारों से तो मेल खाती हैं, लेकिन जनता के विचारों से मेल नहीं खातीं।[8] वे भूल जाते हैं कि उनका मूल उद्देश्य लोगों को अपने पक्ष में 'जीत लेना' नहीं, बल्कि उन लोगों के साथ-साथ उनकी अपहृत मनुष्यता की वापसी के लिए लड़ना है। लोगों को अपने पक्ष में 'जीत लेने' का मुहावरा क्रांतिकारी नेताओं की शब्दावली का नहीं, बल्कि उत्पीड़कों की शब्दावली का हिस्सा है। क्रांतिकारियों की भूमिका लोगों को जीत लेने की नहीं, बल्कि उनके साथ मिल कर उन्हें और स्वयं को मुक्त करने की है।

प्रभुत्वशाली अभिजन अपनी राजनीतिक गतिविधि में बैंकीय अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं। इसके जरिए वे उत्पीड़ितों की 'डूबी हुई' चेतना की दशा से मेल खाने वाली उनकी निष्क्रियता को बढ़ाते हैं। वे उत्पीड़ितों की निष्क्रियता का लाभ उठा कर उनकी चेतना को ऐसे नारों से 'भर' देते हैं, जो उनमें पहले से भी अधिक 'स्वतंत्रता का भय' उत्पन्न करते हैं। यह व्यवहार सच्चे मुक्तिदाई कर्म से

मेल नहीं खाता, जो उत्पीड़कों के नारों को एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करता है और उन नारों को अपने भीतर से 'निकाल फेंकने' में उत्पीड़ितों की मदद करता है। आख़िर मानववादियों का काम यह तो नहीं है कि वे अपने नारों को उत्पीड़कों के नारों से लड़ाएं और इसके लिए उत्पीड़ितों को परीक्षण का आधार बनाएं। इस प्रकार तो उत्पीड़ितों का काम केवल यह हो जाता है कि पहले वे एक समूह के नारों को अपने अंदर 'बसाएं' और फिर दूसरे समूह के नारों को। मानववादियों का काम है उत्पीड़ितों को इस तथ्य से अवगत कराना कि उत्पीड़कों को अपने भीतर 'बसाए' रहने के कारण जब तक वे दोहरे प्राणी बने रहेंगे, तब तक वास्तविक मनुष्य नहीं बन पाएंगे।

इस काम में यह बात शामिल है कि क्रांतिकारी नेता जनता के निकट उसके 'उद्धार' का संदेश देने न जाएं, बल्कि उसके साथ संवाद करने जाएं, जिससे वे जान सकें कि लोगों की *वस्तुपरक स्थिति* क्या है, और यह भी कि उस स्थिति की उनकी *अभिज्ञा* क्या है। अर्थात् लोग स्वयं को और विश्व को, जिसके अंदर और जिसके साथ वे रहते हैं, कैसे देखते हैं और इस देखने (बोध) के विभिन्न स्तर क्या हैं। लोग विश्व को कैसे देखते हैं, इसका ध्यान रखे बिना जो शैक्षिक या क्रांतिकारी कार्यक्रम चलाया जाएगा, उससे सकारात्मक परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। ऐसे कार्यक्रम के पीछे इरादे चाहे जितने नेक हों, वह एक सांस्कृतिक आक्रमण ही होगा।[9]

शैक्षिक या राजनीतिक कर्म के लिए बनाए जाने कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का संघटन करते समय सबसे पहले जनता की आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करने वाली वर्तमान, अस्तित्वगत और ठोस स्थिति को देखा जाना चाहिए। कुछ बुनियादी अंतर्विरोधों का उपयोग करते हुए हमें इस अस्तित्वगत, ठोस, वर्तमान स्थिति को लोगों के सामने एक ऐसी समस्या के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, जो उनको चुनौती देती हो और उनसे जवाब मांगती हो—सिर्फ़ बौद्धिक स्तर का जवाब नहीं, बल्कि कर्म के स्तर का जवाब।[10]

हमें वर्तमान स्थिति पर महज भाषण कभी नहीं देना चाहिए। हमें लोगों को ऐसे कार्यक्रम कभी नहीं देने चाहिएं, जिनका उनकी चिंताओं, संदेहों, आशाओं और भय से कोई संबंध न हो, या बहुत कम संबंध हो; क्योंकि ऐसे कार्यक्रम कभी-कभी उत्पीड़ित चेतना के भय को वस्तुतः और बढ़ा देते हैं। हमारी भूमिका न तो यह है कि हम विश्व के बारे में अपना निजी विचार लोगों को बताएं, न यह कि अपना विचार उन पर थोपने की कोशिश करें। हमारी भूमिका तो यह है कि उनके और अपने विचारों के बारे में उनसे संवाद करें। हमें यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि विश्व के बारे में उनका विचार, जो उनके कर्म में विभिन्न प्रकार से व्यक्त होता है, विश्व में उनकी *स्थिति* को प्रतिबिंबित करता है। उस शैक्षिक या

राजनीतिक कर्म में, जो इस स्थिति को आलोचनात्मक ढंग से नहीं समझता, यह ख़तरा रहता है कि या तो वह बैंकीय शिक्षा में बदल जाएगा, या 'बियाबान में उपदेश' बन कर रह जाएगा।

अक़्सर ऐसा होता है कि शिक्षक और राजनेता बोलते हैं तो उनकी बातें लोगों की समझ में नहीं आतीं। कारण यह है कि उनकी भाषा उन मनुष्यों की ठोस स्थिति से सुर नहीं मिला पाती, जिन्हें वे संबोधित करते हैं। इसीलिए उनकी बातें महज एक अलगावग्रस्त और अलगावकारी वक्तृता बन कर रह जाती हैं। शिक्षक या राजनेता की भाषा (और यह बात उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होती जा रही है कि राजनेताओं को भी शिक्षक–शब्द के व्यापकतम अर्थ में शिक्षक–होना चाहिए) जनता की भाषा की भांति ही विचार के बिना जीवित नहीं रह सकती; और उस संरचना के बिना, जो भाषा और विचार का संदर्भ होती है, न भाषा जीवित रह सकती है, न विचार जीवित रह सकते हैं। प्रभावशाली संप्रेषण के लिए शिक्षकों और राजनेताओं को उन संरचनात्मक परिस्थितियों को अवश्य समझना चाहिए, जिनमें जनता की भाषा और विचार द्वंद्वात्मक रूप से निर्मित होते हैं।

शैक्षिक कार्यक्रम की अंतर्वस्तु प्राप्त करने के लिए हमें मनुष्यों के बीच मध्यस्थता करने वाले यथार्थ की ओर तथा शिक्षकों और जनता द्वारा किए जाने वाले उस यथार्थ के बोध की ओर अवश्य देखना चाहिए। जनता के पास 'उत्पादक मूल विषयों' ('जेनरेटिव थीम्स') का विशाल तंतुजाल होता है, जिसे मैंने 'मूल विषयों की समष्टि' ('थीमेटिक यूनिवर्स')[11] का नाम दिया है। स्वतंत्रता के व्यवहार के रूप में शिक्षा संवाद से आरंभ होती है और संवाद आरंभ होता है 'मूलविषयों की समष्टि' के अनुसंधान से। अतः इस अनुसंधान की पद्धति भी संवादात्मक ही होनी चाहिए। इससे उत्पादक मूलविषयों को खोजने का अवसर तो मिलता ही है, इन मूलविषयों से संबंधित जनता की अभिज्ञा को उद्दीपित करने का अवसर भी मिलता है। संवादात्मक शिक्षा के मुक्तिदाई उद्देश्य की संगति में, इस अनुसंधान की वस्तु मनुष्य नहीं (मानो मनुष्य शरीर-रचना संबंधी खंड-विखंड हो) बल्कि वह विचार-भाषा है, जिसका प्रयोग मनुष्य यथार्थ की ओर संकेत करने के लिए करते हैं। इस अनुसंधान की वस्तु उस बोध के विभिन्न स्तर हैं, जिन पर मनुष्य यथार्थ का अवबोधन करते हैं। और इस अनुसंधान की वस्तु है विश्व के संबंध में लोगों की दृष्टि, जो उनके उत्पादक मूलविषयों का स्रोत होती है।

'उत्पादक मूलविषय' ठीक-ठीक क्या है, इसे स्पष्ट करने (जिससे यह भी स्पष्ट होगा कि 'न्यूनतम मूलविषयक समष्टि' क्या है) से पहले मुझे कुछ प्रारंभिक बातें कह देना आवश्यक लग रहा है। उत्पादक मूलविषय की अवधारणा न तो कोई मनमाना आविष्कार है और न कोई ऐसी कामचलाऊ परिकल्पना, जिसे सिद्ध करना पड़े। यदि यह कोई सिद्ध की जाने वाली परिकल्पना होती तो आरंभिक

अनुसंधान में मूलविषयों का स्वरूप निश्चित करने की आवश्यकता न होती, बल्कि पहले मूलविषयों के अस्तित्व या अनस्तित्व का ही पता लगाया जाता। वैसा होने पर मूलविषय को उसकी सारगर्भिता, उसकी अर्थवत्ता, उसकी बहुलता, उसके रूपांतरणों (देखिए मेरी पुस्तक 'कल्चरल एक्शन फॉर फ्रीडम') और उसके ऐतिहासिक संघटन को समझने से पहले हमें सर्वप्रथम यह सत्यापित करना पड़ता कि यह कोई वस्तुपरक तथ्य है या नहीं। तभी हम इसे समझने के लिए आगे बढ़ सकते थे। हालांकि इसके प्रति आलोचनात्मक संदेह का रुख़ सही है, फिर भी लगता है कि उत्पादक मूलविषय की वास्तविकता को सत्यापित करना संभव है—किसी के निजी अस्तित्वगत अनुभव के आधार पर ही नहीं, बल्कि मनुष्य-विश्व संबंध और मनुष्यों के अस्तित्वगत अनुभव में अंतर्निहित संबंधों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने के जरिए भी।

इस बात पर कुछ और ध्यान दिया जाना चाहिए। जानी-पहचानी-सी बात है, फिर भी इसे याद कर लेना उचित होगा कि समस्त अपूर्ण प्राणियों में मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है, जो अपने कर्मों को ही नहीं, अपने-आप को भी अपने चिंतन की वस्तु बना सकता है। मनुष्य की यह क्षमता उसे पशुओं से भिन्न बनाती है। पशु स्वयं को अपनी गतिविधि से अलग नहीं कर सकते। मनुष्य और पशु का यह भेद ऊपर से बड़ा फालतू-सा लगता है, लेकिन गहराई से देखें तो इसी भेद में हमें वे चौहद्दियां दिखाई पड़ेंगी, जो इन दोनों के अपने-अपने जीवन की व्याप्ति में इनके कर्म को सीमित करती हैं। चूंकि पशुओं की गतिविधि उनका अपना ही एक विस्तार होती है, इसलिए उस गतिविधि के परिणाम को भी उनसे अलग नहीं किया जा सकता : पशु न तो अपने कोई उद्देश्य निर्धारित कर सकते हैं और न ही प्रकृति में कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर सकते हैं, जो स्वयं प्रकृति से परे हो। फिर, इस गतिविधि के 'निर्णय' भी उनके अपने नहीं, बल्कि उनकी नस्ल या प्रजाति के होते हैं। तदनुसार, पशु मूलतः 'अपने-आप में प्राणी' हैं।

पशु अनैतिहासिक होते हैं, क्योंकि वे अपने लिए कोई निर्णय नहीं ले सकते; स्वयं को और अपनी गतिविधि को अपने चिंतन की वस्तु नहीं बना सकते; अपने लिए कोई उद्देश्य निर्धारित नहीं कर सकते; वे एक ऐसे विश्व में 'डूबे' रहते हैं, जिसे वे कोई अर्थ नहीं दे सकते; वे एक ऐसे सर्वाश्लेषी वर्तमान में रहते हैं, जिसमें कोई 'आज' या 'कल' नहीं होता। यदि 'विश्व' शब्द को उसके बिलकुल ठीक अर्थ में लिया जाए तो पशुओं का अनैतिहासिक जीवन किसी 'विश्व' में नहीं होता, क्योंकि पशु के लिए विश्व उसके 'मैं' से अलग कोई 'मैं नहीं' बनकर उससे अलग नहीं हो सकता। मानवीय विश्व, जो ऐतिहासिक है, 'अपने-आप में प्राणी' के लिए एक टेक या टिके रहने की जगह मात्र है। पशुओं के लिए वह एक समाकृति है, जो उनका सामना तो करती है, लेकिन कोई चुनौती नहीं देती। उससे वे महज

उत्तेजित होते हैं। उनका जीवन जोखिम उठाने वाला जीवन नहीं है, क्योंकि उन्हें पता ही नहीं चलता कि वे जोखिम उठा रहे हैं। उनके लिए जोख़िम चिंतन के आधार पर अनुभूत चुनौतियां नहीं हैं, क्योंकि वे उन संकेतों को सिर्फ 'ग्रहण' करते हैं, जिनसे जोख़िमों का पता चलता है। इस तरह उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रियाओं की ज़रूरत नहीं होती।

परिणामस्वरूप, पशु स्वयं को प्रतिबद्ध नहीं कर सकते। उनकी अनैतिहासिक स्थिति उन्हें इसकी इजाज़त नहीं देती कि वे अपने जीवन को 'अपने हाथ में ले सकें'। चूंकि वे उसे अपने हाथ में नहीं ले सकते, उसके लिए स्वयं ज़िम्मेदार नहीं हो सकते, इसलिए वे उसका निर्माण भी नहीं कर सकते। जब वे उसका निर्माण नहीं करते तो उसका रूपांतरण भी नहीं कर सकते। वे यह भी नहीं जान सकते कि जीवन ने उन्हें नष्ट कर दिया है, क्योंकि वे अपने आश्रय देने वाले विश्व का विस्तार एक अर्थपूर्ण, प्रतीकात्मक विश्व के रूप में नहीं कर सकते। ऐसा विश्व जिसमें संस्कृति होती है और इतिहास होता है। परिणामस्वरूप, जिस प्रकार मनुष्य विश्व को मानवीय अथवा अमानवीय बनाते हैं, पशु स्वयं को 'पाशविक' बनाने के लिए विश्व रूपी अपनी समाकृति को 'पाशविक' नहीं बनाते—न ही वे स्वयं को 'अपाशविक' बनाते हैं। वे जंगल में भी 'अपने-आप में प्राणी' होते हैं—वैसे ही पशुवत, जैसे चिड़ियाघर में।

इससे बिलकुल भिन्न, मनुष्य अपनी गतिविधि से और उस विश्व से, जिसमें वे रहते हैं, अवगत होते हैं। वे अपने लिए उद्देश्य निर्धारित करते हैं और उनके अनुसार काम करते हैं। वे अपने निर्णय स्वयं लेते हैं और उनकी यह निर्णय-क्षमता स्वयं उनके अंदर, विश्व से उनके संबंधों में, और अन्य मनुष्यों से उनके संबंधों में निहित होती है। वे विश्व का रूपांतरण करते हैं और इसके द्वारा विश्व को अपनी सृजनात्मक उपस्थिति से अनुप्राणित करते हैं। पशुओं की भांति वे केवल जीवित नहीं रहते, बल्कि अस्तित्ववान होते हैं;[12] और उनका अस्तित्व ऐतिहासिक होता है। पशुओं का कोई 'विश्व' नहीं होता, केवल एक 'अवलंब' होता है, जिस पर वे टिके होते हैं, और उनका यह 'अवलंब' (आधार) कालरहित होता है, समतल होता है, सर्वत्र एक-सा होता है, जिस पर वे अपना जीवन जी डालते हैं। मनुष्य एक ऐसे विश्व में अस्तित्ववान होते हैं, जिसका वे निरंतर पुनर्सृजन और रूपांतरण करते हैं। पशुओं के लिए 'यहां' सिर्फ़ एक प्राकृतिक आवास है, जिसके संपर्क में वे रहते हैं; मनुष्यों के लिए 'यहां' का अर्थ एक भौतिक स्थान नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक स्थान है।

ठीक-ठीक कहें तो पशु के लिए 'यहां', 'अब', 'वहां', 'आने वाले कल' और 'बीते हुए कल' का कोई अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि आत्मचेतना के अभाव में उसका जीवन पूर्णतः निश्चित है। पशु 'यहां', 'अब' या 'वहां' द्वारा थोपी गई

सीमाओं के पार नहीं जा सकते; इन पर विजय नहीं पा सकते।

लेकिन मनुष्य *सचेत प्राणी* होने के कारण चूंकि स्वयं से और इस प्रकार विश्व से अवगत होते हैं, इसलिए सीमाबद्धता और अपनी निजी स्वतंत्रता के द्वंद्वात्मक संबंध में अस्तित्ववान रहते हैं। जब वे विश्व को स्वयं से अलग करके उसे अपने चिंतन और कर्म की वस्तु बनाते हैं, स्वयं को अपनी गतिविधियों से अलग करके देखते हैं, विश्व और अन्य मनुष्यों से अपने संबंधों के बीच अपने निर्णयों का केंद्र स्वयं को बनाते हैं, तो स्वयं को सीमित करने वाली स्थितियों पर विजय प्राप्त करते हैं। मनुष्य जब इन 'प्रतिबंधक-स्थितियों'[13] को बंधनों के रूप में, अपनी मुक्ति के मार्ग में उपस्थित बाधाओं के रूप में, देख लेते हैं तो ये स्थितियां अपनी पृष्ठभूमि में से साफ उभर कर सामने आ जाती हैं और एक प्रदत्त यथार्थ के ठोस ऐतिहासिक आयामों के रूप में अपने वास्तविक चरित्र को खोल देती हैं। मनुष्य इन्हें चुनौतियों के रूप में स्वीकार करते हैं और इनका जवाब अपने उन कर्मों से देते हैं, जिन्हें वायीरा पिंटो 'प्रतिबंध के कर्म' कहते हैं। ये वे कर्म हैं, जो 'प्रदत्त' को निष्क्रिय रूप से स्वीकार करने के बजाए उसका निषेध करने तथा उस पर विजय प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं।

इस प्रकार 'प्रतिबंधक स्थितियां' अपने-आप में आशाहीनता का वातावरण उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं। वे हमें किस रूप में प्रभावित करती हैं, यह इस पर निर्भर है कि एक प्रदत्त ऐतिहासिक क्षण में हम उन्हें कैसे देखते हैं। अर्थात् वे हमें तोड़े जा सकने वाले बंधनों के रूप में दिखाई देती हैं या अलंघ्य बाधाओं के रूप में। चूंकि आलोचनात्मक बोध कर्म के रूप में होता है, इसलिए उससे आशा और आत्मविश्वास का वह वातावरण बनता है, जो मनुष्यों को प्रतिबंधक स्थितियों पर विजय प्राप्त करने की दिशा में ले जाता है। प्रतिबंधक स्थितियां जिस ठोस ऐतिहासिक यथार्थ में पाई जाती हैं, उस पर कर्म करने से ही उन पर विजय पाई जा सकती है। जब यथार्थ का रूपांतरण किया जाता है और इन स्थितियों को पार कर लिया जाता है, तो पुनः ऐसी नई स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, जो बदले में नए प्रतिबंधक कर्मों का आह्वान करती हैं।

पशुओं के अवलंब-जगत में कोई प्रतिबंधक स्थितियां नहीं होतीं, क्योंकि उसका चरित्र अनैतिहासिक होता है। इसी प्रकार पशुओं में प्रतिबंधक कर्म करने की क्षमता भी नहीं होती। वैसी क्षमता के लिए विश्व के प्रति एक निर्णायक रुख़ आवश्यक होता है, जिसका अर्थ है : विश्व का रूपांतरण करने के लिए विश्व को स्वयं से अलग करके देखना और उसे अपने चिंतन एवं कर्म की वस्तु बनाना। पशु अपने अवलंब से जैव रूप में जुड़े रहते हैं, इसलिए वे स्वयं और विश्व में कोई भेद नहीं कर पाते। तदनुसार, पशु ऐतिहासिक प्रतिबंधक स्थितियों से सीमित नहीं होते, बल्कि समूचे अवलंब से सीमित होते हैं। और पशुओं के लिए उपयुक्त

भूमिका यह नहीं है कि वे अपने अवलंब से अपना संबंध जोड़ें (ऐसा करने पर तो अवलंब विश्व बन जाएगी), उनकी उपयुक्त भूमिका है स्वयं को उसके अनुकूल बनाना। इस प्रकार पशु जब कोई घोंसला, छत्ता या बिल बनाते हैं तो किसी ऐसी चीज़ का 'उत्पादन' नहीं करते, जो प्रतिबंधक कर्मों; अर्थात् रूपांतरकारी अनुक्रियाओं, का परिणाम हो। उनकी उत्पादक गतिविधि एक शारीरिक ज़रूरत पूरी करने के लिए होती है और यह ज़रूरत चुनौतीपूर्ण नहीं, केवल उत्तेजक होती है। मार्क्स ने 1844 की पांडुलिपियों में लिखा है कि "एक पशु के उत्पाद का सीधा संबंध उसके भौतिक शरीर से होता है, जबकि मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक अपने उत्पाद का सामना करता है।"

उत्पादन का एक संदर्भ होता है और उत्पाद उसे अर्थ का आयाम देकर विश्व बनाते हैं। लेकिन संदर्भ को अर्थ का आयाम देकर विश्व बनाने वाले उत्पाद वे ही होते हैं, जो किसी प्राणी की गतिविधि का परिणाम होते हैं, किंतु जिनका सीधा संबंध उसके भौतिक शरीर से नहीं होता (यद्यपि उन पर उसके भौतिक शरीर की छाप हो सकती है)। इस प्रकार का उत्पादन करने वाला प्राणी अनिवार्यतः स्वयं से अवगत होगा। वह 'अपने-आप में' प्राणी नहीं, बल्कि 'अपने लिए प्राणी' होगा, अर्थात् स्वाधीन प्राणी होगा। यह प्राणी उस विश्व में, जिससे वह स्वयं को जोड़ता है, *'होने की प्रक्रिया'* में ही *'हो'* सकता है। ठीक इसी तरह, यदि यह प्राणी नहीं होगा तो विश्व भी नहीं होगा।

पशुओं और मनुष्यों में फ़र्क़ यह है कि पशु (क्योंकि उनकी गतिविधि में प्रतिबंधक कर्म नहीं होते) स्वयं से मुक्त उत्पादों को उत्पन्न नहीं कर सकते, जबकि मनुष्य विश्व पर किए जाने वाले अपने कर्म से संस्कृति और इतिहास के परिमंडल की रचना कर सकते हैं। इस प्रकार दोनों में फ़र्क़ यह है कि पशु नहीं, मनुष्य ही *आचरण* करने वाले प्राणी हैं। मनुष्य स्वयं ही आचरण हैं, क्योंकि आचरण वास्तव में यथार्थ का रूपांतरण करने वाला चिंतन और कर्म है, और यही ज्ञान तथा सृजन का स्रोत है। पशुओं की गतिविधि आचरण रहित होती है, अतः सृजनात्मक नहीं होती; जबकि मनुष्य की रूपांतरकारी गतिविधि सृजनात्मक होती है।

रूपांतरकारी और सृजनात्मक प्राणियों के रूप में ही मनुष्य यथार्थ से अपने स्थाई संबंध बनाते हैं और इस प्रकार भौतिक चीजों को ही नहीं, अर्थात् प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली चीज़ों को ही नहीं, बल्कि सामाजिक संस्थाओं, विचारों और अवधारणाओं को भी उत्पन्न करते हैं।[14] अपने निरंतर जारी रहने वाले आचरण से मनुष्य साथ-साथ इतिहास भी बनाते चलते हैं और ऐतिहासिक-सामाजिक प्राणी बन जाते हैं। पशुओं में समय की चेतना नहीं होती, लेकिन मनुष्यों में होती है और उससे वे समय को त्रि-आयामी बना कर अतीत, वर्तमान और भविष्य में बांटते

हैं। इससे इतिहास बनता है, जो मनुष्यों का इतिहास होता है, क्योंकि वह उनके सृजन-कर्मों से बनता है। यह इतिहास रूपांतरण की सतत प्रक्रिया में विकसित होता है, जिसमें युगीन इकाइयां मूर्त रूप धारण करती हैं। ये युगीन इकाइयां समय की कोई बंद अवधियां अथवा ऐसे ख़ाने नहीं हैं, जिनमें मनुष्य क़ैद हो जाते हों। यदि ऐसा होता तो इतिहास न होता, क्योंकि इतिहास की आधारभूत शर्त है उसकी निरंतरता। युगीन इकाइयां तो इतिहास की निरंतरता की गतियों को परस्पर संबद्ध करती हैं।[15]

किसी युग की विशेषता होती है विचारों, अवधारणाओं, आशाओं, संदेहों, मूल्यों और चुनौतियों की वह द्वंद्वात्मक अन्योन्यक्रिया, जिसमें ये सब चीज़ें अपने विरुद्धों से संघर्ष करती हुई अपनी परिपूर्णता की दिशा में बढ़ने का प्रयास करती है। इनमें से बहुत-से विचारों, मूल्यों, अवधारणाओं और आशाओं का, तथा मनुष्य के पूर्ण मानुषीकरण में आने वाली बाधाओं का भी, जो ठोस निरूपण होता है, उससे युग के मूलविषय संघटित होते हैं। इन मूलविषयों में ऐसे अन्य मूलविषय भी अंतर्निहित होते हैं, जो विरोधी या इनके सर्वथा विपरीत होते हैं। लेकिन उनसे भी पता चलता है कि उस युग के कार्यभार क्या थे, जिन्हें पूरा किया जाना था। इस प्रकार ऐतिहासिक मूलविषय (हिस्टोरिकल थीम्स) कभी अलग-थलग, स्वाधीन, संबंधहीन या स्थिर नहीं होते। वे निरंतर अपने विरुद्धों से द्वंद्वात्मक अन्योन्यक्रिया करते हुए एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। ये मूलविषय मनुष्य-विश्व संबंध के अलावा और कहीं भी नहीं पाए जा सकते। किसी युग के अन्योन्यक्रियारत मूलविषयों का सम्मिश्रित समूह ही 'मूलविषयों की समष्टि' (थिमैटिक यूनिवर्स) है।

मनुष्य जब द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध में इस 'मूलविषयों की समष्टि' (यूनिवर्स आफ थीम्स) से टकराते हैं तो वे भी उतने ही अंतर्विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनमें से कुछ बनी-बनाई संरचनाओं को बनाए रखने का काम करते हैं, तो दूसरे उन्हें बदलने का। मूलविषय यथार्थ की अभिव्यक्ति होते हैं, अतः यथार्थ में जैसे अंतर्विरोध होते हैं, वैसे ही इन मूलविषयों में आपसी विरोध होते हैं। जब यह विरोध गहराता है तो मूलविषय मिथकों का रूप धारण करने लगते हैं और यथार्थ का भी मिथकीकरण होने लगता है। इससे अविवेक और संकीर्णतावाद का वातावरण बनता है। यह वातावरण मूलविषयों को उनके गंभीर अर्थों से रिक्त और उनकी गतिशीलता से, जो उनकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है, वंचित कर दिए जाने का ख़तरा पैदा करता है। ऐसी स्थिति में मिथक गढ़ने वाला अविवेक स्वयं एक आधारभूत मूलविषय बन जाता है। इसका विरोधी मूलविषय होता है विश्व के प्रति एक आलोचनात्मक और गतिशील दृष्टिकोण, जो यथार्थ पर पड़े परदे हटाने, मिथकीकरण के मुखौटे उतारने और मानवीय कार्यभार को संपूर्णतः संपन्न करने का प्रयास करता है, जिसका अर्थ होता है मनुष्यों की मुक्ति के लिए यथार्थ का

स्थाई रूपांतरण।

अंतिम विश्लेषण में ये *मूलविषय*[16] *प्रतिबंधक स्थितियों* में अंतर्विष्ट होते हैं और प्रतिबंधक-स्थितियां इनमें अंतर्विष्ट रहती हैं। इनमें निहित कार्यभार प्रतिबंधक कर्मों की मांग करते हैं। जब प्रतिबंधक स्थितियां मूलविषयों को छिपा लेती हैं और उनका बोध स्पष्ट रूप से नहीं हो पाता, तो उनके अनुरूप कार्यभार पूरे करना—अर्थात् ऐतिहासिक कर्म के रूप में अनुक्रिया करना—मनुष्यों के लिए न तो प्रामाणिक रूप में संभव हो पाता है, न आलोचनात्मक रूप में। इस स्थिति में मनुष्य प्रतिबंधक स्थितियों के पार जाकर यह नहीं देख पाते कि इन स्थितियों के परे—और इनके विरुद्ध—एक ऐसी संभाव्यता मौजूद है, जिसे अभी तक परखा नहीं गया है।

संक्षेप में, प्रतिबंधक स्थितियों में दोनों प्रकार के लोग होते हैं : एक वे, जिन्हें ये स्थितियां प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में लाभ पहुंचाती हैं, और दूसरे वे, जिन्हें ये स्थितियां निषिद्ध और सीमित करती हैं। यदि वे लोग, जिन्हें ये स्थितियां निषिद्ध या सीमित करती हैं, इन स्थितियों को अस्तित्व और अनस्तित्व के सीमांत के रूप में न देख कर 'होने' और 'अधिक मानवीय होने' के सीमांत के रूप में देख लेते हैं, तो वे इस बोध में अंतर्निहित 'अनपरखी संभाव्यता' तक पहुंचने के लिए उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक होकर इस दिशा में कार्य करने लगते हैं। दूसरी तरफ़, जो लोग वर्तमान प्रतिबंधक स्थिति से लाभान्वित होते हैं, उस अनपरखी संभाव्यता को एक ऐसी ख़तरनाक प्रतिबंधक स्थिति मानते हैं, जिसे वास्तविकता में हरगिज़ नहीं बदलने देना चाहिए; और वे यथास्थिति बनाए रखने का काम करते हैं। अतः एक ऐतिहासिक परिस्थिति में मुक्तिदाई कर्मों के लिए आवश्यक है कि वे उत्पादक मूलविषयों के अनुरूप तो हों ही, इसका भी ध्यान रखें कि इन्हें किस ढंग से देखा जा रहा है। इस आवश्यकता में एक और आवश्यकता अंतर्निहित है : अर्थपूर्ण मूलविषयों का अनुसंधान।

जननशील (जेनरेटिव) मूलविषय संकेंद्रित वृत्तों में, सामान्य से विशिष्ट की ओर जाते हुए, मिल सकते हैं। बृहत्तम युगीन इकाई में—जिसमें महाद्वीपीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय आदि विभिन्न प्रकार की इकाइयां तथा उप-इकाइयां शामिल होती हैं—सार्वभौमिक चरित्र वाले मूलविषय पाए जाते हैं। मेरे विचार से हमारे युग का आधारभूत मूलविषय *प्रभुत्व* है। इसी में इसका विरोधी मूलविषय भी शामिल है कि *मुक्ति* हमारा लक्ष्य होना चाहिए। यही वह यंत्रणादाई 'मूलविषयित्व' है, जो हमारे युग को मानवशास्त्रीय चरित्र प्रदान करता है (जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है)। मानुषीकरण के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए, जिसकी पहली शर्त है कि अमानुषिक बनाने वाले उत्पीड़न को मिटाया जाए, उन प्रतिबंधक स्थितियों को पार करना परम आवश्यक है, जिनमें मनुष्यों को चीज़ों में बदलकर रख दिया जाता है।

अपेक्षाकृत छोटे वृत्तों के अंदर हम उन समाजों से संबंधित विशिष्ट मूलविषय और प्रतिबंधक स्थितियां पाते हैं (ये समाज किसी एक महाद्वीप पर हो सकते हैं और अलग-अलग महाद्वीपों पर भी), जो इन मूलविषयों तथा प्रतिबंधक स्थितियों के चलते कई चीज़ों में ऐतिहासिक रूप से समान होते हैं। उदाहरण के लिए, पिछड़ापन, जिसे पराधीनता के संबंध से अलग करके नहीं देखा जा सकता, तीसरी दुनिया के समाजों की विशिष्ट प्रतिबंधक स्थिति है। इस प्रतिबंधक स्थिति में यह कार्यभार अंतर्निहित है कि इन 'वस्तु' समाजों (आब्जेक्ट सोसाइटीज) और 'केंद्रीय' समाजों (मेट्रोपोलिटैन सोसाइटीज) के अंतर्विरोधी संबंध को बदल कर ठीक किया जाए। इस कार्यभार में तीसरी दुनिया के लिए अनपरखी संभाव्यता निहित है।

अपेक्षाकृत व्यापक युगीन इकाई के अंदर किसी समाज विशेष में सार्वभौमिक, महाद्वीपीय अथवा ऐतिहासिक रूप से एक जैसे मूलविषयों के अलावा उसके अपने विशिष्ट मूलविषय भी होते हैं; उसकी अपनी विशिष्ट प्रतिबंधक स्थितियां भी होती हैं। और भी अपेक्षाकृत छोटे वृत्तों में मूलविषयों की विविधता किसी एक ही समाज के भीतर पाई जा सकती है। यह समाज क्षेत्रों तथा उप-क्षेत्रों में बंटा होता है, जो संपूर्ण समाज से जुड़े होते हैं। उदाहरण के लिए, एक ही राष्ट्रीय इकाई में 'असमकालीनता के सहअस्तित्व' (को-एक्जीस्टेंस ऑफ नॉन कांटेपोरैनियस) का अंतर्विरोध पाया जा सकता है।

इन उप-इकाइयों के अंदर राष्ट्रीय मूलविषयों (नेशनल थीम) को उनके सच्चे अर्थों में देखा भी जा सकता है और नहीं भी देखा जा सकता है। हो सकता है, उन्हें *महसूस* ही किया जा सकता हो, या कभी-कभी यह भी संभव न हो। लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सकता कि उप-इकाइयों में कोई मूलविषय (थीम) हो ही नहीं। अगर किसी ख़ास इलाके के लोगों को कोई जननशील मूलविषय नज़र नहीं आता, या विकृत रूप में दिखाई पड़ता है, तो इससे उत्पीड़न की प्रतिबंधक-स्थिति ही सामने आएगी, जिसमें मनुष्य अभी तक डूबे हुए होंगे।

आम तौर पर एक अधीनीकृत चेतना (डोमिनेट कानशसनेंस), जो अभी तक किसी प्रतिबंधक स्थिति का बोध संपूर्णता में नहीं कर पाई है, केवल उसके उपोत्पाद को समझती है और उसी उपोत्पाद में अवरोधक बल स्थानांतरित कर देती है, जो प्रतिबंधक स्थिति का गुणधर्म है।[17] जननशील मूलविषयों के अनुसंधान के लिए यह तथ्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों को जब अपने यथार्थ की आलोचनात्मक समझ नहीं होती, वे उसे खंड-खंड रूप में समझते हैं और उन खंडों को भी संपूर्ण यथार्थ से अंतःक्रिया करने वाले संघटक तत्वों के रूप में नहीं देखते, अतः वे उस यथार्थ को जान नहीं पाते। उसे जानने के लिए उन्हें अपने प्रस्थान-बिंदु को उलट देना पड़ेगा। अर्थात् उन्हें संदर्भ को उसकी संपूर्णता में देखना पड़ेगा, ताकि बाद में वे उसके संघटक तत्वों को अलग-अलग समझ सकें और इस

विश्लेषण के जरिए संपूर्ण का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट बोध कर सकें।

मूलविषयों के अनुसंधान की पद्धति और समस्या-उठाऊ शिक्षा, दोनों के लिए ऐसा करना समान रूप से उपयुक्त है कि व्यक्तिं के संदर्भात्मक यथार्थ के महत्त्वपूर्ण आयामों को प्रस्तुत करके उनका विश्लेषण किया जाए। इससे व्यक्ति को अपने यथार्थ के विभिन्न तत्वों की पारस्परिक क्रिया को समझना संभव होगा। इसी के दौरान महत्त्वपूर्ण आयामों को, जो परस्पर क्रिया करने वाले हिस्सों से बनते हैं, संपूर्ण यथार्थ के आयामों के रूप में देखना चाहिए। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण अस्तित्वगत आयाम के आलोचनात्मक विश्लेषण से प्रतिबंधक स्थिति के प्रति एक नया, आलोचनात्मक रुख़-रवैया बन सकता है। इससे यथार्थ के बोध और समझ में रह जाने वाली कमियां दूर हो जाती हैं, ग़लतियां ठीक हो जाती हैं, और उसमें एक नई गहराई आ जाती है। इस प्रकार जब मूलविषयों की न्यूनतम समष्टि (अर्थात् परस्पर क्रिया करते हुए जननशील मूलविषयों) में शामिल किसी जननशील मूलविषय का अनुसंधान विवेकीकरण की पद्धति के साथ किया जाता है, तो यह अनुसंधान मनुष्यों की आलोचनात्मक चिंतन के रूप से—जिससे वे अपने विश्व पर विचार कर रहे हैं—परिचित कराता है, या कराने लगता है।

लेकिन जब मनुष्यों को यथार्थ सघन, अभेद्य और आच्छादक दिखाई देता हो तो यह अनिवार्य हो जाता है कि अनुसंधान को अमूर्तन के जरिए आगे बढ़ाया जाए। इसका अर्थ यह नहीं कि मूर्त को अमूर्त्त में बदल दिया जाए (जो उसकी द्वंद्वात्मक प्रकृति का निषेध करेगा)। इसका अर्थ यह है कि मूर्त और अमूर्त्त, दोनों तत्वों को ऐसे विरुद्धों के रूप में बनाए रखा जाए, जो चिंतन के कर्म में द्वंद्वात्मक रूप से अंतःसंबंधित होते हैं। विचार की इस द्वंद्वात्मक गति का आदर्श उदाहरण एक ठोस, अस्तित्वगत, 'कोडित' (कोडेड) स्थिति के विश्लेषण में मिलता है।[18] उसके अवकोडन (डिकोडिंग) में अंश से पूर्ण की ओर जाना और पूर्ण से पुनः अंशों की ओर लौटना आवश्यक होता है, जो बदले में यह मांग करता है कि कर्ता स्वयं को वस्तु में (अर्थात् कोडित ठोस अस्तित्वगत स्थिति में) पहचाने और वस्तु को ऐसी स्थिति समझे, जिसमें वह स्वयं को अन्य कर्ताओं के साथ पाता है। यदि अवकोडन अच्छी तरह किया जाए तो मूर्त से अमूर्त्त की ओर तथा अमूर्त्त से मूर्त की ओर जाने-आने की यह गति, जो कोडित स्थिति के विश्लेषण में होती है, अमूर्त्त को उस मूर्त के आलोचनात्मक बोध में बदल देती है, जो अब पहले जैसा सघन और अभेद्य यथार्थ नहीं रह गया होता है।

जब किसी व्यक्ति के सामने कोई कोडित (संकेत रूप में पेश की गई) अस्तित्वगत स्थिति (मसलन एक फ़ोटोग्राफ़ या रेखाचित्र, जो अमूर्तन के जरिए अस्तित्वगत यथार्थ की मूर्तता तक ले जाता है) प्रस्तुत की जाती है, तो वह उसकी 'चीरफाड़' (यथार्थ को उसके चित्र से अलग) करना चाहता है। अवकोडन की

प्रक्रिया में इससे मिलती-जुलती स्थिति को हम 'स्थिति का वर्णन' कहते हैं, जिससे असंबद्ध पूर्ण के अंशों में होने वाली पारस्परिक क्रिया की खोज में सुविधा होती है। यह पूर्णता (कोडित स्थिति), जो पहले केवल धुंधले रूप में समझी गई थी, उस समय अर्थ ग्रहण करने लगती है, जब इस पर कई आयामों से विचार किया जाता है। लेकिन चूंकि कोडन (संकेत रूप में चित्रित करना) एक अस्तित्वगत स्थिति का निरूपण है, अवकोडनकर्ता (यानी संकेत का खुलासा करने वाला) में निरूपण से आगे बढ़ कर उस मूर्त स्थिति तक जाने की प्रवृत्ति होती है, जिसमें और जिसके साथ वह स्वयं को पाता है। इस प्रकार अवधारणा के स्तर पर इस चीज़ की व्याख्या संभव हो जाती है और यथार्थ अब एक अंधी गली न रह कर अपना सच्चा आकार ग्रहण कर लेता है—अर्थात् एक ऐसी चुनौती बन जाता है, जिसका जवाब मनुष्यों को अवश्य देना चाहिए कि ऐसी हालत में विभिन्न व्यक्ति उस वस्तुपरक यथार्थ के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार क्यों करने लगते हैं।

अवकोडन की सभी अवस्थाओं में मनुष्य अपनी विश्व संबंधी दृष्टि प्रकट करते हैं और वे जिस ढंग से विश्व के बारे में सोचते हैं, जिस ढंग से उसका सामना करते हैं—भाग्यवादी ढंग से, गतिशील ढंग से या स्थिर ढंग से—उस ढंग में उनके जननशील मूलविषय पाए जा सकते हैं। यदि कोई समूह मूर्त रूप में जननशील मूलविषयों को व्यक्त नहीं करता—जिससे ऐसा लग सकता है कि उसके पास उत्पादक मूलविषय है ही नहीं—तो इसे इसी रूप में स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि बात इससे बिलकुल उलटी भी हो सकती है। अर्थात् उस समूह के पास एक बड़ा ही नाटकीय मूलविषय हो सकता है : *ख़ामोशी का मूलविषय*। ख़ामोशी का मूलविषय प्रतिबंधक स्थितियों के दुर्दमनीय बल के आगे मूक रह जाने की संरचना का संकेत देता है।

मैं इस बात पर पुनः जोर देना आवश्यक समझता हूं कि जननशील मूलविषय न तो यथार्थ से कटे हुए मनुष्यों में पाया जा सकता है, न मनुष्यों से कटे हुए यथार्थ में। 'निर्जन प्रदेश' में तो और भी नहीं। उसे मनुष्य-विश्व संबंध में ही समझा जा सकता है। जननशील मूलविषय के अनुसंधान का मतलब है यथार्थ के बारे में मनुष्य के चिंतन और यथार्थ पर किए गए मनुष्य के कर्म का—अर्थात् उसके आचरण का—अनुसंधान करना। इसीलिए इस अनुसंधान की प्रस्तावित पद्धति यह मांग करती है कि अनुसंधाताओं और जनता को (जिसे आमतौर पर अनुसंधान की वस्तु माना जाता है) *सह-अनुसंधाता* के रूप में काम करना चाहिए। मनुष्य अपने मूलविषयों की खोज के बारे में जितना सक्रिय रुख़ अपनाएंगे, उतना ही वे यथार्थ की अपनी आलोचनात्मक अभिज्ञा को गहन बना पाएंगे, और उन मूलविषयों को अक्षर-अक्षर पढ़ते हुए यथार्थ को अधिगत करते जाएंगे।

कुछ लोग सोच सकते हैं कि जनता को उसके अपने अर्थपूर्ण मूलविषयों के

अनुसंधान में अनुसंधाता के रूप में शामिल करना उचित नहीं होगा, क्योंकि उसकी घुसपैठ के प्रभाव से (ध्यान दीजिए, जिस जनता को अपनी शिक्षा में सबसे ज़्यादा रुचि है—या होनी चाहिए—उसी को 'घुसपैठ करने वाली' बताया जाता है !) अनुसंधान के परिणाम 'दूषित' हो जाएंगे और इससे अनुसंधान की वस्तुपरकता नष्ट हो जाएगी। इस दृष्टिकोण में बड़े गलत ढंग से यह मान कर चला जाता है कि मूलविषयों का अस्तित्व अपने मौलिक तथा वस्तुपरक रूप में मनुष्यों से बाहर कहीं होता है—मानो मूलविषय *चीज़ें* हों। वास्तव में, मूलविषयों का अस्तित्व मनुष्यों में, विश्व से मनुष्यों के संबंधों में, ठोस तथ्यों के संदर्भ में होता है। एक ही वस्तुपरक तथ्य विभिन्न युगीन उप-इकाइयों में जननशील मूलविषयों के विभिन्न सम्मिश्रित समूहों को सामने ला सकता है। इसीलिए एक प्रदत्त वस्तुपरक तथ्य में, मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले उस तथ्य के बोध में और जननशील मूलविषयों में एक संबंध होता है।

अर्थपूर्ण मूलविषयों की अभिव्यक्ति स्वभावतः मनुष्यों द्वारा की जाती है, और यदि मूलविषयों द्वारा इंगित वस्तुपरक तथ्य का उनका बोध बदल जाता है, तो उस अभिव्यक्ति का प्रदत्त क्षण पहले वाले क्षण से भिन्न होगा। अनुसंधाता के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है, पहले उस प्रस्थान-बिंदु को खोज निकालना, जिस पर मनुष्यों ने 'प्रदत्त' का मानसदर्शन किया था, और तब यह सत्यापित करना कि अनुसंधान की प्रक्रिया के दौरान मनुष्यों के यथार्थ-बोध के ढंग में कोई परिवर्तन हुआ है या नहीं। (अनुसंधान की प्रक्रिया के दौरान यथार्थ, निश्चय ही, नहीं बदलता। यदि इस बीच मनुष्यों का यथार्थ-बोध बदल जाता है तो इससे अनुसंधान की वैधता पर कोई आंच नहीं आती।)

हमें यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि अर्थपूर्ण मूलविषयों में अंतर्निहित आशंकाएं, इरादे और उद्देश्य *मानवीय* आकांक्षाएं, इरादे और उद्देश्य होते हैं। उनका अस्तित्व कहीं 'बाहर' किन्हीं स्थिर चीज़ों के रूप में नहीं होता, क्योंकि *वे घटित हो रहे होते हैं*। वे उतने ही ऐतिहासिक होते हैं, जितने स्वयं मनुष्य। अतः वे मनुष्यों से अलग बोधगम्य नहीं होते। इन मूलविषयों को समझना दोनों को समझना है : उन मनुष्यों को समझना, जिनमें वे मूर्तिमान होते हैं; और उस यथार्थ को भी समझना, जिसकी ओर वे संकेत करते हैं। लेकिन ठीक इसी कारण से कि इन मूलविषयों को मनुष्यों से अलग करके समझना संभव नहीं है, यह आवश्यक है कि उन्हें भी समझा जाए। इस प्रकार मूलविषयों का अनुसंधान यथार्थ के और अपने, दोनों के बोध का साझा प्रयास बन जाता है, और इस तरह वह इसे शैक्षिक प्रक्रिया का अथवा मुक्तिदाई चरित्र वाले सांस्कृतिक कर्म का आरंभ-बिंदु बना देता है।

अनुसंधान को ख़तरा इससे नहीं है कि अनुसंधान की वस्तु कहलाने वाली

जनता सहअनुसंधाता बन कर विश्लेषण के परिणामों को 'दूषित' कर देगी। इसके विपरीत, असली ख़तरा इस बात में है कि अनुसंधान अर्थपूर्ण मूलविषयों का न होकर कहीं जनता का ही न होने लगे। अर्थात् जनता को कहीं अनुसंधान की वस्तु न मानना जाने लगे। चूंकि यह अनुसंधान एक ऐसे शैक्षिक कार्यक्रम को विकसित करने का आधार है, जिसमें शिक्षक-छात्र और छात्र-शिक्षक एक समान वस्तु के अपने संज्ञान को संयुक्त करते हैं, इसलिए यह अनुसंधान भी उसी तरह कर्म के आदान-प्रदान पर आधारित होना चाहिए।

मूलविषयों का अनुसंधान, जो मानवीय क्षेत्र में घटित होता है, यांत्रिक कार्य में नहीं बदला जा सकता। वह खोज की, ज्ञान की और इस प्रकार सृजन की प्रक्रिया के रूप में यह मांग करता है कि अनुसंधाता अर्थपूर्ण मूलविषयों को परस्पर जोड़ने में समस्याओं के एक-दूसरे में व्याप्त होने का पता लगाएं। अनुसंधान उस समय सर्वाधिक शैक्षिक होगा, जब वह सर्वाधिक आलोचनात्मक होगा; और सर्वाधिक आलोचनात्मक वह तब होगा, जब वह यथार्थ के आंशिक या 'केंद्रीकृत' दृष्टिकोण की संकीर्ण रूपरेखाओं से बच कर *संपूर्ण* यथार्थ को समझने के प्रयास में लगा रहेगा। इस प्रकार अर्थपूर्ण मूलविषयों की तलाश की प्रक्रिया में मूलविषयों को जोड़ने वाली कड़ियों का ध्यान रखना भी आवश्यक है। इसका अर्थ है, इन मूलविषयों को समस्याओं के रूप में उठाना, और उनके ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संदर्भ का ध्यान रखना।

जिस तरह शिक्षक स्वयं जनता *के लिए* कोई कार्यक्रम सविस्तार प्रतिपादित नहीं कर सकता, उसी तरह अनुसंधाता भी अपने द्वारा पूर्वनिश्चित बिंदुओं से आरंभ करके मूलविषयों की समष्टि का अनुसंधान करने जाते समय उसके 'मार्ग-विवरण' का सविस्तार प्रतिपादन नहीं कर सकता। जनता की सहायता का उद्देश्य लेकर चलने वाली शिक्षा और इसी उद्देश्य से किए जाने वाले अनुसंधान, दोनों को शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में 'सहानुभूतिशील' होना चाहिए। अर्थात् दोनों के लिए यह आवश्यक है कि जनता से संवाद करें और निरंतर 'संभवन' की जटिलता में देखे गए यथार्थ के अनुभव में उससे साझेदारी करें।

वह अनुसंधाता परिवर्तन से डरने वाला आदमी है जो वैज्ञानिक वस्तुपरकता के नाम पर जीवित को निर्जीव में, 'संभव होते हुए' को 'जो है' में और जीवन को मृत्यु में बदल देता है। वह परिवर्तन से इनकार तो नहीं करता, लेकिन परिवर्तन चाहता भी नहीं। अतः वह परिवर्तन में जीवन का चिह्न नहीं देखता, बल्कि मृत्यु और क्षय के चिह्न देखता है। वह परिवर्तन का अध्ययन करना तो चाहता है, लेकिन उसे विस्तार और गहराई देने के लिए नहीं, बल्कि उसे रोकने के लिए। लेकिन परिवर्तन को मृत्यु का चिह्न मानने में और अगम्य प्रतिमानों तक पहुंचने के लिए जनता को अनुसंधान की निष्क्रिय वस्तु मानने में वह अपने ही चरित्र को

प्रकट करता है। यह जीवन को नष्ट करने वाले का चरित्र होता है।

मैं पुनः कहता हूं : मूलविषयों के अनुसंधान में जनता के चिंतन का अनुसंधान शामिल है और यह चिंतन यथार्थ को मिल-जुलकर खोजने वाले मनुष्यों में और उन्हीं के बीच घटित होता है। मैं *दूसरों के लिए* या *दूसरों के बिना* नहीं सोच सकता, न ही दूसरे *मेरे लिए* सोच सकते हैं। भले ही जनता का चिंतन भोलेपन या अंधविश्वासों से भरा हुआ हो, वह उसे तभी बदल सकती है, जब वह कर्म करते हुए अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करती है। यह प्रक्रिया दूसरे के विचारों को आत्मसात कर लेने की नहीं, बल्कि जनता द्वारा अपने ही विचारों के आधार पर कर्म करने और अपने ही विचारों के जनन की प्रक्रिया है।

मनुष्य 'एक स्थिति में' मनुष्य होते हैं। इस रूप में वे स्वयं को देश-काल की ऐसी परिस्थितियों में बद्धमूल पाते हैं, जो उन पर अपनी छाप डालती हैं, लेकिन जिन पर वे भी अपनी छाप डालते हैं। वे अपनी 'स्थितीयता' ('सिचुएशनैलिटी') पर उसी हद तक विचार करते हैं, जिस हद तक वह उन्हें स्वयं पर कर्म करने की चुनौती देती है। मनुष्यों का *होना* एक स्थिति में *होना* है। और वे उतना ही *अधिक होंगे,* जितना अपने अस्तित्व पर आलोचनात्मक ढंग से न केवल चिंतन करेंगे, बल्कि उस पर आलोचनात्मक ढंग से कर्म भी करेंगे।

मानवीय स्थिति पर किया जाने वाला चिंतन अस्तित्व की बुनियादी शर्त ही पर किया जाने वाला चिंतन है, और यह बुनियादी शर्त है, आलोचनात्मक चिंतन, जिसके जरिए मनुष्य एक-दूसरे को 'एक स्थिति' में खोज पाते हैं। प्रतिबद्धता केवल तभी संभव है, जब यह स्थिति उन्हें सघन और आच्छादित कर लेने वाले यथार्थ के रूप में या एक दुखदायी अंधी गली के रूप में दिखनी बंद हो जाती है और वे उस स्थिति को एक वस्तुपरक-समस्यामूलक स्थिति के रूप में देखने लगते हैं। ज्यों-ज्यों यथार्थ का अनावरण होता जाता है, मनुष्य अपनी *डूब* में से उभरते जाते हैं और *हस्तक्षेप* करने की क्षमता अर्जित करते जाते हैं। यथार्थ में *हस्तक्षेप* स्वयं एक ऐतिहासिक बोध है। इस प्रकार वह *उभरने* से एक कदम आगे बढ़ने की अवस्था है। यह स्थिति के विवेकीकरण का परिणाम है। विवेकीकरण बोध-वृत्ति का गहन होना है, जो हर प्रकार के *उभरने* की विशेषता है।

मूलविषयों का प्रत्येक अनुसंधान, जो ऐतिहासिक बोध को गहन बनाता है, इस प्रकार वास्तव में शैक्षिक होता है, क्योंकि समस्त प्रामाणिक शिक्षा चिंतन का अनुसंधान करती है। शिक्षक और जनता जितना ही जनता के चिंतन का अनुसंधान करते हैं—और इस प्रकार संयुक्त रूप से शिक्षित होते हैं—उतना ही अधिक वे अनुसंधान को जारी रखते हैं। समस्या-उठाऊ शिक्षा की अवधारणा में शिक्षा और मूलविषयों का अनुसंधान एक ही प्रक्रिया के सिर्फ़ दो भिन्न क्षण हैं।

शिक्षा की बैंकीय पद्धति की संवाद-विरोधी और संप्रेषणहीन 'जमाओं' से

बिलकुल भिन्न समस्या-उठाऊ शिक्षा की कार्यक्रम-अंतर्वस्तु—जो अपनी संवादात्मकता में सर्वोत्कृष्ट है—छात्रों की उस विश्व-दृष्टि से निर्मित और संघटित होती है, जिसमें उनके अपने जननशील मूलविषय विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार यह अंतर्वस्तु निरंतर अपना विस्तार करती रहती है और नई होती रहती है। संवादात्मक शिक्षक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से संबंधित शिक्षकों और शिक्षाशास्त्रियों की विविध विषयों वाली टीम में काम करता है। वह मूलविषयों की उस समष्टि पर काम करता है, जो टीम के सभी सदस्यों द्वारा किए गए अनुसंधान से उद्घाटित होती है। उसका काम होता है मूलविषयों की उस समष्टि को उन लोगों के समक्ष 'पुनर्प्रस्तुत' करना, जो पहले उसे उन्हीं से मिली होती है। यह 'पुनर्प्रस्तुति' वह व्याख्यान के रूप में नहीं करता, बल्कि मूलविषयों की उस समष्टि को समस्या के रूप में उठा कर करता है।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए, एक समूह को यह ज़िम्मेदारी दी जाती है कि वह किसी खेतिहर इलाक़े में, जहां निरक्षरता का प्रतिशत बहुत ज़्यादा है, प्रौढ़ शिक्षा की एक योजना का संयोजन करे। योजना में काम दो चरणों में होना है : पहले एक साक्षरता अभियान, फिर एक उत्तर-साक्षरता अभियान। पहले चरण में समस्या-उठाऊ शिक्षा 'जननशील शब्द' का पता लगाती है और उसका अनुसंधान करती है। दूसरे चरण में वह 'जननशील मूलविषय' का पता लगाती है और उसका अनुसंधान करती है। लेकिन उदाहरण के तौर पर यहां हम केवल जननशील मूलविषयों के अनुसंधान की ही चर्चा करेंगे।

आइए, यहां हम सिर्फ जननशील अथवा सार्थक मूल विषयों के अनुसंधान पर विचार करें।[19] अनुसंधाता जब यह निश्चय कर लेते हैं कि उन्हें किस क्षेत्र में काम करना है और वे गौण स्रोतों से उसका प्रारंभिक परिचय प्राप्त कर लेते हैं, तब अनुसंधान की पहली अवस्था का आरंभ होता है। आरंभ में कठिनाइयां और जोख़िम होते हैं, जैसा कि मानव-समाज में किसी भी कार्य को आरंभ करते समय होता है। हालांकि ये कठिनाइयां और जोख़िम उस क्षेत्र के लोगों से पहला संपर्क होने पर हमेशा प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी ये एक हद तक सामान्य ही होते हैं। इस पंहले संपर्क में अनुसंधाताओं के लिए आवश्यक होता है कि वे वहां के लोगों की एक महत्त्वपूर्ण संख्या को एक अनौपचारिक बैठक के लिए राज़ी करें, जिसमें वे उन्हें यह बता सकें कि उस क्षेत्र में उनके आने का उद्देश्य क्या है। इस बैठक में वे लोगों को यह समझाते हैं कि अनुसंधान का कारण क्या है, वह कैसे किया जाएगा, और उसका क्या उपयोग होगा। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि आपसी समझदारी और भरोसे के बिना यह अनुसंधान असंभव होगा। यदि बैठक में भाग लेने वाले लोग अनुसंधान और उसके बाद की प्रक्रिया से[20] सहमत हो जाते हैं, तो अनुसंधाता उन्हीं लोगों में से स्वयंसेवक मांगते हैं, जो उनके सहायकों के रूप

में काम करेंगे। ये स्वयंसेवक उस क्षेत्र के जीवन के बारे में क्रमशः कई जानकारियां एकत्र करेंगे। लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होगा अनुसंधान में इन स्वयंसेवकों का सक्रिय रूप से उपस्थित रहना।

इसी बीच अनुसंधाता स्वयं क्षेत्र में जा-जाकर लोगों से भेंट करना शुरू कर देते हैं। वे वहां के लोगों पर ज़बर्दस्ती स्वयं को थोपते नहीं, बल्कि ऐसे सहानुभूतिशील प्रेक्षकों के रूप में काम करते हैं, जिनका रवैया चीज़ों को देखने और समझने का होता है। यह तो सामान्य-सी बात है कि अनुसंधाता क्षेत्र में कुछ ऐसे मूल्यों के साथ आते हैं, जो उनके बोध को प्रभावित करते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे मूलविषयों के अनुसंधान को उन मूल्यों को दूसरों पर थोपने के साधन में बदल दें। यहां जनता के मूलविषयों का अनुसंधान किया जाता है। अनुसंधाताओं के मूल्यों का एक ही आयाम है, जिसके बारे में आशा की जा सकती है कि जनता उसमें साझेदारी करेगी। वह है विश्व का आलोचनात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान (यहां यह मान लिया गया है कि अनुसंधाताओं में यह गुण होता है) जिसमें यथार्थ का अनावरण करने के लिए उस तक पहुंचने की सही पद्धति शामिल है। और आलोचनात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान को थोपा नहीं जा सकता। इस प्रकार मूलविषयों का अनुसंधान आरंभ से ही एक शैक्षिक प्रयास होता है; एक सांस्कृतिक कर्म होता है।

लोगों से अपनी भेंटों के दौरान अनुसंधाता उस क्षेत्र के बारे में, जिसका अध्ययन वे कर रहे हैं, अपना आलोचनात्मक 'लक्ष्य' निर्धारित करते हैं। इसमें वह क्षेत्र उनके लिए मानो एक विशाल, अद्वितीय और जीवंत 'कोड' (संकेत) होता है और उनका उद्देश्य उसका अवकोडन करना या उस संकेत का अर्थ निकालना। वे क्षेत्र को एक संपूर्णता मानते हैं और क्रमशः प्रत्येक भेंट में स्वयं को प्रभावित करने वाले उसके आंशिक आयामों का विश्लेषण करके उसकी 'चीरफाड़' करते हैं। इस प्रक्रिया से उनकी इस समझ का विस्तार होता है कि संपूर्णता के विभिन्न अंश किस प्रकार आपस में क्रिया करते हैं। इससे उन्हें बाद में उस संपूर्णता में गहराई से प्रवेश करने में मदद मिलेगी।

अवकोडन की इस अवस्था के दौरान अनुसंधाता उस क्षेत्र के जीवन के कुछ *क्षणों* का अवलोकन करते हैं—कभी प्रत्यक्ष रूप से, तो कभी वहां के लोगों से अनौपचारिक बातचीत के जरिए। वे अपनी कापियों में सब कुछ दर्ज़ करते चलते हैं, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से महत्त्वहीन प्रतीत होने वाली चीज़ें भी होती हैं, जैसे : लोगों के बोलने का ढंग क्या है, उनकी जीवन-शैली कैसी है, चर्च में वे कैसा व्यवहार करते हैं और काम पर होने के समय उनका कैसा व्यवहार है। वे लोगों की बोली भी रिकॉर्ड करते हैं : उनकी अभिव्यक्तियों को, उनकी शब्दावली को, उनके वाक्य-विन्यास को उनके उच्चारण को नहीं, बल्कि उनके विचार की संरचना के

ढंग को)।[21]

अनुसंधाताओं के लिए अनिवार्य है कि वे क्षेत्र का अवलोकन विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में करें, जैसे खेतों में मज़दूर कैसे काम करते हैं, स्थानीय सभा की बैठकें कैसे होती हैं (यह नोट करते हुए कि बैठक में भाग लेने वालों का व्यवहार कैसा होता है, उसमें वे कैसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं, अधिकारियों और सदस्यों के बीच कैसे संबंध हैं), स्त्रियों और नौजवानों की भूमिकाएं क्या हैं, फ़ुर्सत के वक़्त लोग क्या करते हैं, उनके खेल-कूद क्या-क्या हैं, अपने घरों में लोग किस तरह बातचीत करते हैं (यह नोट करते हुए कि पति-पत्नी तथा माता-पिता और बच्चों के बीच कैसे संबंध हैं)। क्षेत्र के प्रारंभिक सर्वेक्षण के दौरान वहां की कोई गतिविधि ऐसी नहीं रहनी चाहिए, जिस पर ध्यान न दिया गया हो।

प्रत्येक अवलोकन भेंट के बाद अनुसंधाता को एक रपट लिखनी चाहिए और पूरी टीम को उस पर बहस करनी चाहिए, जिससे पेशेवर अनुसंधाताओं और स्थानीय सहायकों, दोनों की प्रारंभिक खोजों का मूल्यांकन किया जा सके। सहायकों की भागीदारी को सुविधाजनक बनाने के लिए ये मूल्यांकन बैठकें क्षेत्र में ही होनी चाहिएं।

मूल्यांकन बैठकें अद्वितीय जीवंत कोड का अवकोडन करने के क्रम में दूसरी अवस्था की सूचक हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अवकोडन निबंध में यह बताता है कि उसने किसी घटना या स्थिति को कैसे देखा या कैसे महसूस किया। उसका विवरण अन्य अवकोडकों के लिए एक चुनौती होता है, क्योंकि वह उसी यथार्थ को उनके समक्ष पुनः प्रस्तुत करता है, जिसे वे स्वयं ध्यान से देख रहे होते हैं। उस समय वे दूसरों के द्वारा उस पर किए गए 'विचार' के जरिए अपने द्वारा किए गए पहले के 'विचार' पर 'पुनर्विचार' करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अवकोडक द्वारा किया गया यथार्थ का विश्लेषण सभी को, संवादात्मक रूप में, वापस उस असंबद्ध 'पूर्ण' की ओर ले जाता है, जो पुनः एक बार 'संपूर्णता' बन जाता है और अनुसंधाताओं से एक नया मूल्यांकनकारी विश्लेषण करने का आह्वान करता है, जिसके बाद फिर एक नई मूल्यांकनकारी तथा आलोचनात्मक बैठक होगी। क्षेत्र के निवासियों के प्रतिनिधि अनुसंधान करने वाली टीम के सदस्य के रूप में सभी गतिविधियों में भाग लेते हैं।

अनुसंधाताओं का समूह जितना ही अधिक 'पूर्ण' के अंशों को अलग-अलग करके उन्हें पुनः जोड़ने का काम करता है, उतना ही अधिक वह उन मुख्य और गौण अंतर्विरोधों के नाभिकों (न्यूक्ली) के निकट पहुंचता है, जिनसे उस क्षेत्र के लोग उलझे होते हैं। अनुसंधाता अंतर्विरोधों के इन नाभिकों (केंद्रों) का पता लगा कर इस अवस्था में भी अपने शैक्षिक कर्म के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु को संगठित कर सकते हैं। वस्तुतः ये अंतर्विरोध अगर उस अंतर्वस्तु में प्रतिबिंबित होंगे तो उसमें

सार्थक मूलविषय अवश्य ही होंगे। यह बात आराम से कही जा सकती है कि इन अवलोकनों के आधार पर किए गए कर्म की सफलता की संभावना 'ऊपर से आने वाले' निर्णयों के आधार पर किए जाने वाले कर्म की तुलना में कहीं अधिक होगी। लेकिन अनुसंधाताओं को इस संभावना के मोह में नहीं पड़ना चाहिए। बुनियादी बात यह है कि उन्हें अंतर्विरोधों (जिनमें एक बृहत्तर युगीन इकाई के रूप में मुख्य अंतर्विरोध भी शामिल हैं) के इन नाभिकों (केंद्रों) के आरंभिक बोध से शुरूआत करते हुए यह अध्ययन करना है कि इन अंतर्विरोधों के बारे में क्षेत्र के निवासियों की जानकारी (बोध) का स्तर क्या है।

आभ्यंतरिक रूप से ये अंतर्विरोध प्रतिबंधक (नियामक) स्थितियों से बनते हैं। इनमें मूलविषय होते हैं, जो कार्यभारों की ओर इंगित करते हैं। लोग यदि इन प्रतिबंधक स्थितियों में जकड़े हुए हैं और स्वयं को इनसे अलग नहीं कर पा रहे हैं, तो इन स्थितियों के संदर्भ में उनका मूलविषय होगा *भाग्यवाद,* और इस मूलविषय में अंतर्निहित कार्यभार होगा *उन्हें उनके ऐतिहासिक कार्यभार से अवगत कराना।* इस प्रकार यद्यपि प्रतिबंधक स्थितियां वस्तुपरक यथार्थ हैं, जो अपने अतिक्रमण की आवश्यकता उत्पन्न करती हैं, फिर भी अनुसंधाता का काम उनसे निपटना नहीं, बल्कि लोगों के साथ मिल-जुलकर यह पता लगाना है कि इन स्थितियों से लोग कहां तक अवगत हैं।

ठोस यथार्थ के रूप में एक प्रतिबंधक (नियामक) स्थिति विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में (यहां तक कि एक ही क्षेत्र के उप-क्षेत्र के लोगों में भी) काफ़ी विरोधी मूलविषयों और कार्यभारों को जन्म दे सकती है। अतः अनुसंधाताओं का बुनियादी सरोकार वह होना चाहिए, जिसे लूसिए गोल्डमान ने 'वास्तविक चेतना' और 'संभावित चेतना' कहा है।

वास्तविक चेतना उन बहुविध अवरोधों और भटकावों का परिणाम होती है, जो अनुभूतिमूलक यथार्थ के विभिन्न घटकों द्वारा विरोध में खड़े कर दिए जाते हैं और संभावित चेतना के द्वारा ही समझे जा सकते हैं।

वास्तविक चेतना जनता की वर्तमान चेतना है, जिसे अभी अविकसित चेतना कह सकते हैं। यह उस 'अनपरखी संभाव्यता' का बोध नहीं कर पाती, जो प्रतिबंधक या नियामक स्थितियों के परे उपस्थित रहती है। लेकिन 'वास्तविक चेतना' के स्तर पर रहते हुए उस अनपरखी संभाव्यता तक पहुंचा भले ही न जा सके, उसे 'परीक्षण कर्म' (टैस्टिंग एक्शन) के जरिए समझा अवश्य जा सकता है। परीक्षण कर्म उसकी अब तक देखी न जा सकी व्यवहार्यता को सामने ले आता है। अनपरखी संभाव्यता और वास्तविक चेतना का वही संबंध है, जो परीक्षण कर्म और संभावित चेतना का। गोल्डमान जिसे 'वास्तविक चेतना' कहते हैं, वह आंद्रे निकोलाई के 'जाने हुए साध्य समाधानों' और 'वर्तमान में व्यवहृत समाधानों' से

मिलती-जुलती है। गोल्डमान की 'संभावित चेतना' की अवधारणा निकोलाई के 'अनजाने साध्य समाधानों' से (और हमारी 'अनपरखी संभाव्यता' से) मिलती-जुलती है। तदनुसार, यह तथ्य कि अनुसंधाता अनुसंधान की पहली अवस्था में ही अंतर्विरोधों के सम्मिश्रण को लगभग समझ लेते हैं, उन्हें यह अधिकार नहीं देता कि वे शैक्षिक कर्म के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का ढांचा तैयार करने लगें। यथार्थ का यह बोध अभी उनका ही है, जनता का नहीं।

अंतर्विरोधों के सम्मिश्रण को समझ लेने पर अनुसंधान की दूसरी अवस्था आरंभ होती है। हमेशा एक टीम की तरह काम करते हुए अनुसंधाता इनमें से कुछ अंतर्विरोधों को मूलविषयों के अनुसंधान में काम आने वाले कोडीकरण तैयार करने के लिए चुन लेंगे। कोडीकरण (रेखाचित्र या फ़ोटोग्राफ़)[22] चूंकि अवकोडकों के आलोचनात्मक विश्लेषण में मध्यस्थता करने वाली वस्तु होते हैं, इसलिए इन्हें दृश्य सामग्री तैयार करने के प्रचलित सिद्धांतों से भिन्न सिद्धांतों के अनुसार तैयार करना चाहिए।

पहली ज़रूरत यह है कि इन कोडीकरणों में अनिवार्यतः उन लोगों की परिचित स्थितियों का निरूपण होना चाहिए, जिनके मूलविषयों की जांच पड़ताल की जा रही है। इससे वे उन स्थितियों को (और इस प्रकार उनसे अपने संबंध को) आसानी से पहचान लेंगे। सहभागियों के सामने ऐसे यथार्थ के चित्र कभी नहीं प्रस्तुत किए जाने चाहिएं (अर्थात् न तो अनुसंधान की प्रक्रिया में और न बाद की अवस्था में, जब अर्थपूर्ण मूलविषयों को कार्यक्रम की अंतर्वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है) जो उनका परिचित यथार्थ न हो। हालांकि अपरिचित यथार्थ के चित्र प्रस्तुत करना भी एक द्वंद्वात्मक तरीक़ा है, क्योंकि अपरिचित यथार्थ का विश्लेषण करने वाले लोग उसकी तुलना अपने यथार्थ से कर सकते हैं और दोनों की सीमाओं का पता लगा सकते हैं, फिर भी यह तरीक़ा तब तक नहीं अपनाया जा सकता, जब तक इससे पहले कि वह बुनियादी प्रक्रिया पूरी न हो जाए, जो सहभागियों की 'डूब' की दशा के कारण आवश्यक होती है। बुनियादी प्रक्रिया यह है कि लोग अपने ही यथार्थ का विश्लेषण करते हुए अपने पहले वाले विकृत बोधों से अवगत हो जाएं और इसके जरिए यथार्थ के नए बोध तक आ पहुंचे।

कोडीकरण तैयार करने के लिए एक इतनी ही आधारभूत आवश्यकता यह भी है कि उनके मूलविषयों का नाभिक (केंद्रक) न तो बहुत ज़्यादा स्पष्ट हो और न बहुत ज्यादा अस्पष्ट। यदि वह बहुत ज़्यादा स्पष्ट होगा तो महज प्रचार बन कर रह जाएगा, क्योंकि प्रकटतः पूर्वनिश्चित अंतर्वस्तु का कथन करने के अलावा उसका कोई वास्तविक अवकोडन होगा ही नहीं। यदि वह बहुत ज़्यादा अस्पष्ट होगा तो उसमें यह जोख़िम रहेगी कि वह कहीं एक पहेली या अनुमान का खेल न बन जाए। चूंकि कोडीकरणों में अस्तित्वगत स्थितियों का निरूपण होता है,

इसलिए उन्हें अपनी जटिलता में सरल होना चाहिए और अवकोडन की विविध संभावनाएं प्रस्तुत करनी चाहिएं, ताकि वे प्रचार की मत-आरोपण वाली प्रवृत्तियों से बचे रह सकें। कोडीकरण नारे नहीं हैं; वे संज्ञेय वस्तुएं हैं; वे ऐसी चुनौतियां हैं, जिन्की ओर अवकोडकों के आलोचनात्मक चिंतन को प्रेरित किया जाना चाहिए।

अवकोडन की प्रक्रिया में विश्लेषण की विविध संभावनाएं प्रस्तुत करने के लिए कोडीकरण 'मूलविषयक पंखे' की तरह के बनाए जाने चाहिएं। (अर्थात् उनमें से मूलविषय उसी तरह खुल कर सामने आना चाहिए, जिस तरह खुलने और बंद होने वाला हाथ का पंखा खुलता है।) अवकोडक जब उन पर विचार करें तो उन्हें अन्य मूलविषयों की दिशा में खुलना चाहिए। उनका यह खुलना (जो मूलविषयों की अंतर्वस्तु के बहुत ज़्यादा स्पष्ट या बहुत ज़्यादा अस्पष्ट होने पर नहीं होता) मूलविषयों और उनके विरुद्धों के बीच मौजूद द्वंद्वात्मक संबंधों के बोध के लिए अपरिहार्य है। तदनुसार, किसी अस्तित्वगत स्थिति को प्रतिबिंबित करने वाले कोडीकरणों में एक संपूर्णता वस्तुपरक ढंग से संघटित होनी चाहिए। उसके तत्वों को परस्पर ऐसी अंतर्क्रिया अवश्य करनी चाहिए कि वे आपस में मिल कर एक पूर्णता प्राप्त करें।

अवकोडन की प्रक्रिया में सहभागी अपने मूलविषयों को मूर्त रूप देते हैं और इस प्रकार विश्व की अपनी 'वास्तविक चेतना' को स्पष्ट रूप से सामने लाते हैं। ऐसा करते समय वे देखने लगते हैं कि इस समय वे जिस स्थिति का विश्लेषण कर रहे हैं, उसका अनुभव करते समय उन्होंने स्वयं क्या किया था, और इस प्रकार वे 'अपने पूर्ववर्ती बोध' तक पहुंच जाते हैं। इस बोध को उपलब्ध कर लेने से वे यथार्थ को भिन्न रूप में देखने लगते हैं। अपने बोध के क्षितिजों का विस्तार कर लेने से वे अपनी 'पृष्ठभूमि बोध' में यथार्थ के इन दोनों आयामों के बीच के द्वंद्वात्मक संबंधों को ज़्यादा आसानी से खोज लेते हैं।

कोडीकरण तैयार करने के लिए यह भी आवश्यक है कि जहां तक संभव हो, उनमें अंतर्विरोधों का निरूपण किया जाए, और उसमें वे दूसरे अंतर्विरोध भी 'समाविष्ट' हों, जो अध्ययनांतर्गत क्षेत्र के अंतर्विरोधों की एक व्यवस्था बनाते हों।[23] जब ये 'समावेशी' कोडीकरण बनाए जाएं, उनके अंदर मौजूद अन्य अंतर्विरोधों को भी कोडित किया जाना चाहिए। पहले वाले अंतर्विरोधों का अवकोडन दूसरे वाले अंतर्विरोधों के अवकोडन के द्वारा द्वंद्वात्मक रूप में स्पष्ट होगा।

इस संबंध में हमारी पद्धति के लिए एक बड़ा मूल्यवान योगदान गैब्रियेल बोडे ने किया है, जो चिली के एक युवा प्रशासनिक अधिकारी हैं और चिली सरकार की अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्था 'इंस्टीट्यूट डि डेज़ारोल्लो एग्रोपेकुआरिओ' (इनडाप)[24]

में कार्यरत हैं। उत्तर-साक्षरता की अवस्था में इस पद्धति का उपयोग करते हुए बोडे ने देखा कि चर्चा में किसान तभी रुचि लेते हैं, जब कोडीकरण उनकी अनुभूत आवश्यकताओं से सीधे संबंधित होते हैं। कोडीकरण में कोई विचलन होता, या शिक्षक द्वारा अवकोडन से संबंधित बहस को अन्य क्षेत्रों में ले जाने की कोशिश की जाती, तो वे चुप और उदासीन हो जाते। दूसरी तरफ़, उन्होंने देखा कि कोडीकरण[25] जब उनकी अनुभूत आवश्यकताओं पर केंद्रित होता था, तब भी किसान चर्चा पर व्यवस्थित रूप से ध्यान केंद्रित नहीं कर पाते थे और बहस इस तरह बिखर जाती थी कि संश्लेषण तक कभी नहीं पहुंचती थी। यह भी होता था कि वे अपनी अनुभूत आवश्यकताओं और उनके प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कारणों में कोई संबंध प्रायः कभी नहीं देख पाते थे। कहा जा सकता है कि वे अपनी आवश्यकताओं को उत्पन्न करने वाली प्रतिबंधक स्थिति के परे की अनपरखी संभाव्यता को नहीं देख पाते थे।

तब बोडे ने विभिन्न स्थितियों के युगपत अनुमान (प्रोजेक्शन) का प्रयोग करने का निश्चय किया और इसी तकनीक में उनके योगदान का मूल्य निहित है। आरंभ में वे किसी अस्तित्वगत स्थिति के बड़े सरल कोडीकरण का अनुमान लगाते हैं। वे अपने पहले कोडीकरण को 'तात्त्विक' कहते हैं। इसमें बुनियादी नाभिक का निरूपण किया जाता है और यह मूलविषयों के पंखे की तरह खुल कर 'सहायक' कोडीकरणों तक फैल जाता है। जब तात्त्विक कोडीकरण का अवकोडन किया जाता है, शिक्षक उसके बिंब को सहभागियों के लिए एक संदर्भ के रूप में दिखाना जारी रखता है और उसके पास ही अन्य सहायक कोडीकरणों का क्रमशः प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) करता जाता है, जो तात्त्विक कोडीकरण से सीधे संबंधित होते हैं। इसके माध्यम से वह विश्लेषण में सहभागियों की स्पष्ट रुचि बनाए रखता है और उन्हें एक संश्लेषण तक पहुंचने में समर्थ बना देता है।

गैब्रियेल बोडे की महान उपलब्धि यह है कि तात्त्विक और सहायक कोडीकरणों की द्वंद्वात्मकता के जरिए वे सहभागियों में *संपूर्णता* की समझ संप्रेषित करने में सफल हुए हैं। वे लोग, जो पहले यथार्थ में *डूबे हुए* थे और अपनी आवश्यकताओं को महज *महसूस* करते थे, यथार्थ से उभर आते हैं और अपनी आवश्यकताओं के *कारणों* को देखने लगते हैं। इस प्रकार वे वास्तविक चेतना के स्तर के परे जा सकते हैं और संभावित चेतना के स्तर तक अधिक तेज़ी से पहुंच सकते हैं।

जब कोडीकरण तैयार हो जाते हैं और जब शिक्षकों की अंतर्विषयी (इंटर डिसिटिलनरी) टीम के द्वारा उनके मूलविषयों से संबंधित समस्त संभव पक्षों का अध्ययन कर लिया जाता है, तब अनुसंधाता क्षेत्र में वापस जाकर 'मूलविषयी अनुसंधान मंडलों' में अवकोडन करने वाले संवाद शुरू करते हैं। यह अनुसंधान

की तीसरी अवस्था होती है।[26] इन बहसों को, जिनमें पहले वाली अवस्थाओं में तैयार की गई सामग्री का अवकोडन किया जाता है, टेप कर लिया जाता है, ताकि बाद में अंतर्विषयी शिक्षकों की टीम इनका विश्लेषण कर सके।[27] इन बैठकों में तीन विशेषज्ञ भाग लेते हैं : एक विशेषज्ञ तो वह अनुसंधाता ही होता है, जो अवकोडन संयोजक के रूप में काम करता है; शेष दो में से एक मनोविज्ञानी होता है और एक समाजविज्ञानी। उनका काम है अवकोडकों की महत्त्वपूर्ण (और ऊपर से महत्त्वपूर्ण न लगने वाली) प्रतिक्रियाओं को नोट करना तथा उनका लेखा तैयार करना।

अवकोडन की प्रक्रिया में संयोजक के लिए निहायत ज़रूरी है कि वह लोगों की बातें न केवल सुने, बल्कि कोडित अस्तित्वगत स्थिति को तथा उनके उत्तरों को समस्याओं के रूप में उठाकर उन्हें चुनौती भी दे। 'मूलविषयी अनुसंधान मंडलों' के सहभागी इस पद्धति की विरेचनकारी शक्ति के कारण अपने बारे में, विश्व के बारे में और दूसरों के बारे में ऐसी बहुत-सी भावनाएं और राय प्रकट करते हैं, जिन्हें भिन्न परिस्थितियों में वे शायद कभी प्रकट न करते।

सेंटियागो में किए गए मूलविषयों के अनुसंधानों में से एक में ऐसा हुआ कि चाल में रहने वाले मज़दूरों की एक टोली ने एक दृश्य पर चर्चा की, जिसमें एक शराबी सड़क पर जा रहा है और तीन नौजवान कोने में खड़े बात कर रहे हैं। टोली के सहभागियों ने टिप्पणी की कि "उनमें से केवल वही एक आदमी उत्पादक और अपने देश के लिए उपयोगी है, जो नशे में धुत्त है। वह दिन भर कम मज़दूरी पर काम करके घर लौट रहा है। वह अपने बाल-बच्चों के बारे में चिंतित है, क्योंकि वह उनकी ज़रूरतें पूरी नहीं कर सकता। इनमें से वही एक मज़दूर है। वह एक अच्छा मज़दूर है और हमारी ही तरह पियक्कड़ है।"

अनुसंधाता[28] का इरादा शराबनोशी के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने का था। यदि उसने अपने द्वारा तैयार की हुई प्रश्नावली सहभागियों के सामने प्रस्तुत की होती तो वह उनसे इस तरह की प्रतिक्रियाएं नहीं निकलवा सकता था। अगर उनसे सीधे-सीधे पूछा जाता कि वे शराब पीते हैं या नहीं, तो वे यहां तक भी कह सकते थे कि उन्होंने तो शराब कभी चखी भी नहीं। लेकिन एक अस्तित्वगत स्थिति (यथार्थ स्थिति) के कोडीकरण पर टिप्पणी करते हुए वे उस स्थिति को पहचान गए, उसमें स्वयं को भी पहचान गए, और उन्होंने वही कहा, जो उन्होंने वास्तव में महसूस किया।

उनके द्वारा कही गई बातों के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। एक तरफ़, वे कम मज़दूरी पाने, शोषित अनुभव करने और नशे में धुत्त होने के संबंध को शब्दों में व्यक्त करते हैं—नशे में धुत्त होने को वे यथार्थ से पलायन के रूप में, कुछ न कर पाने से पैदा होने वाली हताशा पर विजय पाने के प्रयास के रूप में, और अंततः

स्वयं को ही नष्ट करने वाले एक समाधान के रूप में व्यक्त करते हैं। दूसरी तरफ़, वे इस आवश्यकता को व्यक्त करते हैं कि पियक्कड़ को ऊंची नज़र से देखा जाए। "वह अकेला आदमी है, जो अपने देश के लिए उपयोगी है, क्योंकि वह काम करता है, दूसरे तो बकवास करते हैं।" पियक्कड़ की प्रशंसा करने के बाद सहभागी उससे अपना तादात्म्य कायम करते हैं—मज़दूरों के रूप में, जो खुद भी शराब पीते हैं, लेकिन "अच्छे मज़दूर हैं"।

इसके मुक़ाबले एक नैतिकतावादी शिक्षक[29] की असफलता की कल्पना कीजिए, जो शराबनोशी को दुर्गुण मान कर उसके विरुद्ध उपदेश देता है और सद्गुण के उदाहरण के रूप में कोई ऐसी चीज़ प्रस्तुत करता है, जो इन लोगों के लिए सद्गुण की सूचक नहीं है। इस मामले में, और दूसरे मामलों में भी, सबसे अच्छा तरीक़ा स्थिति के प्रति उनमें विवेक पैदा करने का है, जो मूलविषयों के अनुसंधान में आरंभ से ही अपनाया जाना चाहिए। (ज़ाहिर है, विवेक पैदा करने का काम किसी स्थिति के महज आत्मपरक बोध के स्तर पर आकर रुक नहीं जाता, बल्कि कर्म के द्वारा मनुष्यों को अपने मानुषीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार करता है।)

मुझे एक और अनुभव, इस बार खेत-मज़दूरों के साथ, हुआ। हमने कपड़े पर बनाया गया एक चित्र प्रदर्शित किया, जिसमें यह दिखाया गया था कि खेतों में काम हो रहा है। पूरे सत्र में तीन स्थितियों पर चर्चा हुई, लेकिन किसानों के सामने दृश्य लगातार वही रहा। नतीजा : तीनों स्थितियों पर चर्चा करते समय एक ही बात सामने आती रही : खेत-मज़दूरों की मज़दूरी बढ़नी चाहिए और इसके लिए उन्हें मिल-जुलकर अपनी यूनियन बनानी चाहिए।

अब कल्पना कीजिए कि एक शिक्षक ने इन लोगों के लिए *अपना* शैक्षिक कार्यक्रम बनाया है, जिसमें ऐसे 'हितकारी' पाठ शामिल हैं, जिन्हें पढ़ कर आदमी सीखता है कि "पानी कुएं में है" ! लेकिन शिक्षा और राजनीति में हमेशा ठीक ऐसा ही होता है, क्योंकि इस बात को समझा ही नहीं जाता कि शिक्षा की प्रकृति संवादात्मक है और संवाद मूलविषयों के अनुसंधान से शुरू होता है।

जब मंडलों में अवकोडन का काम पूरा हो जाता है, अनुसंधान की अंतिम अवस्था आरंभ होती है, जिसमें अनुसंधाता अब तक प्राप्त परिणामों का व्यवस्थित अंतर्विषयी अध्ययन करते हैं। अवकोडन सत्रों में टेप की गई सामग्री को सुनते हुए और मनोविज्ञानी तथा समाजविज्ञानी द्वारा नोट की गई चीज़ों का अध्ययन करते हुए अनुसंधाता उन सत्रों में कही गई बातों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में मौजूद मूलविषयों की सूची बनाना शुरू करते हैं। इन मूलविषयों का वर्गीकरण विभिन्न समाजविज्ञानों के अनुसार किया जाना चाहिए। वर्गीकरण का अर्थ यह नहीं है कि जब कार्यक्रम बनाया जाए तो मूलविषय अलग-अलग कोटियों से संबंधित नज़र

आएं। इसका अर्थ केवल यह है कि वे समाजविज्ञान की जिस शाखा से संबंधित हैं, वह उन पर विशेष रूप से ध्यान दे। उदाहरण के लिए, विकास का मूलविषय अर्थशास्त्र से विशेष रूप से संबंधित होते हुए भी केवल अर्थशास्त्र से संबंधित नहीं है। इस मूलविषय पर समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और सामजिक मनोविज्ञान द्वारा भी ध्यान दिया जाएगा (ये क्षेत्र सांस्कृतिक परिवर्तन और मूल्यों तथा दृष्टिकोणों में होने वाले बदलाव के प्रश्नों से जुड़े हैं और ये प्रश्न विकास के दर्शन के लिए भी समान रूप से प्रासंगिक हैं)। विकास का संबंध राजनीतिविज्ञान (जो विकास संबंधी निर्णयों का क्षेत्र है) और शिक्षा आदि से भी है। अतः इस पर राजनीतिविज्ञान और शिक्षाशास्त्र द्वारा भी ध्यान दिया जाएगा। इस प्रकार मूलविषयों को संकुचित दृष्टि से कभी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि उनकी तो विशेषता ही संपूर्णता है। यह तो सचमुच बड़ा ही दयनीय होगा कि जिन मूलविषयों का अनुसंधान यथार्थ के विभिन्न आयामों के अंतर्वेशन की पूरी समृद्धि में किया गया हो, उनके साथ बाद में ऐसा बरताव किया जाए कि उनकी समृद्धि (और इस प्रकार उनकी शक्ति भी) विशिष्टताओं की अतिनियमनिष्ठता के नाम पर नष्ट हो जाए।

मूलविषयों का सीमांकन हो जाने पर प्रत्येक विशेषज्ञ अंतर्विषयी टीम के समक्ष अपने मूलविषय के 'विश्लेषण' (ब्रेक डाउन) के लिए एक परियोजना प्रस्तुत करता है। इसके जरिए विशेषज्ञ मूलविषय के उन आधारभूत नाभिकों की तलाश करता है, जिनमें 'अधिगम इकाइयां' होती हैं। ये नाभिक पूर्वापर क्रम बना कर मूलविषय का एक व्यापक चित्र प्रस्तुत करते हैं। जब किसी परियोजना पर चर्चा की जाती है, दूसरे विशेषज्ञ उस पर अपनी राय और सुझाव देते हैं। ये सुझाव परियोजना में और/या उन संक्षिप्त निबंधों में शामिल किए जा सकते हैं, जो मूलविषय पर लिखे जाने होते हैं। इन निबंधों में संदर्भ-संकेत भी जोड़े जाते हैं। ये निबंध उन शिक्षक-छात्रों के प्रशिक्षण के लिए, जिनको 'संस्कृति मंडलों' में काम करना होता है, बड़ी मूल्यवान सामग्री होते हैं।

अर्थपूर्ण मूलविषयों के विश्लेषण के इस प्रयास के दौरान टीम कुछ ऐसे मूलविषयों को शामिल करने की ज़रूरत महसूस करेगी, जो पहले के अनुसंधान में सीधे जनता द्वारा नहीं सुझाए गए हैं, लेकिन आधारभूत हैं। ऐसे मूलविषयों को शामिल करना आवश्यक सिद्ध हुआ है और यह शिक्षा के संवादात्मक चरित्र से मेल भी खाता है। यदि शैक्षिक कार्यक्रमों का निर्माण संवादात्मक है तो शिक्षक-छात्रों को भी उन मूलविषयों को शामिल करने का अधिकार है, जो पहले नहीं सुझाए गए हैं। मैं इस प्रकार के मूलविषयों को 'क़ब्ज़ेदार मूलविषय' कहता हूं, क्योंकि इनका काम वही है, जो किवाड़ में चूल या क़ब्ज़े का होता है। वे या तो दो मूलविषयों को जोड़ने का काम करते हैं, ताकि दोनों के बीच की छूटी हुई

ख़ाली जगह भर जाए, या वे सामान्य कार्यक्रम की अंतर्वस्तु और जनता की विश्वदृष्टि के बीच के संबंध का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। अतः इनमें से किसी मूलविषय को मूलविषयी इकाइयों के आरंभ में रखा जा सकता है।

इन क़ब्ज़ेदार मूलविषयों में से एक है संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा। यह मूलविषय विश्व में और विश्व के साथ मनुष्यों की भूमिका को इस रूप में स्पष्ट करता है कि मनुष्य अनुकूलित होने वाले प्राणी नहीं, बल्कि रूपांतरण करने वाले प्राणी हैं।[30]

जब मूलविषयों के विश्लेषण का काम पूरा हो जाता है,[31] तब उनके 'कोडीकरण' की अवस्था आती है, जिसमें प्रत्येक मूलविषय तथा उसके निरूपण के लिए संप्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम चुना जाता है। कोडीकरण सरल या जटिल कैसा भी हो सकता है। सरल कोडीकरण में या तो दृश्य (चित्रात्मक या लेखाचित्रीय) और स्पृश्य माध्यमों का उपयोग किया जाता है, या श्रव्य माध्यम का, जिसमें विविध प्रकार के माध्यम होते हैं।[32] चित्रात्मक या लेखाचित्रीय माध्यम का चयन कोडीकृत सामग्री पर ही नहीं, इस पर भी निर्भर करता है कि जिन व्यक्तियों के साथ संप्रेषण किया जाना है, वे शिक्षित हैं या अशिक्षित।

मूलविषयों का कोडीकरण हो जाने के बाद, शिक्षा के लिए सहायक सामग्री (फ़ोटोग्राफ़, स्लाइडें, फ़िल्म-पट्टियां, पोस्टर, पठन-सामग्री आदि) तैयार की जाती है। टीम कुछ मूलविषयों को या उनके कुछ पक्षों को बाहर के विशेषज्ञों के पास भेज कर उनसे संबंधित उनके साक्षात्कार भी रिकॉर्ड करा सकती है।

उदाहरण के लिए विकास के मूलविषय को लें। टीम भिन्न-भिन्न चिंतन प्रणालियों वाले दो या दो से अधिक अर्थशास्त्रियों से संपर्क करती है, उन्हें कार्यक्रम के बारे में बताती है, उन्हें साक्षात्कार के लिए आमंत्रित करती है, और उनसे अनुरोध करती है कि वे ऐसी भाषा में बोलें, जो श्रोताओं की समझ में आ जाए। विशेषज्ञ अनुरोध स्वीकार कर लेते हैं तो पंद्रह-बीस मिनट का साक्षात्कार टेप कर लिया जाता है। विशेषज्ञ जब बोल रहे हों तो उनमें से प्रत्येक का फ़ोटो भी लिया जा सकता है।

जब टेप किया हुआ साक्षात्कार संस्कृति मंडल के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो प्रत्येक वक्ता के बारे में एक परिचयात्मक वक्तव्य दिया जाता है कि वह कौन है, उसने क्या लिखा है, क्या किया है और आजकल वह क्या कर रहा है; इस बीच उसका फ़ोटो परदे पर प्रक्षेपित किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि वक्ता विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर है, तो उसके परिचय के दौरान यह चर्चा की जा सकती है कि सहभागी विश्वविद्यालयों के बारे में क्या सोचते हैं और उनसे क्या अपेक्षाएं करते हैं। समूह को पहले से ही बता दिया जाता है कि रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार के बाद उसकी विषयवस्तु पर चर्चा की जाएगी। (अर्थात् यह साक्षात्कार

एक श्रव्य कोडीकरण का काम करेगा।) चर्चा में सहभागियों की जो प्रतिक्रियाएं होंगी, टीम उनकी रपट विशेषज्ञ के पास भेजेगी। इस तकनीक से वे बुद्धिजीवी भी जनता और यथार्थ से जुड़ जाते हैं, जो सदाशयी होते हुए भी प्रायः उससे कटे हुए रहते हैं। इससे जनता को भी बुद्धिजीवियों के विचार सुनने का तथा उनकी आलोचना करने का अवसर मिलता है।

कुछ मूलविषयों को अथवा उनके नाभिकों को संक्षिप्त नाटकों का रूप देकर भी प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन उनमें केवल मूलविषय ही रहना चाहिए—कोई 'समाधान' नहीं ! यह नाटकीकरण एक समस्या-उठाऊ स्थिति के रूप में, जिस पर चर्चा की जानी है, एक कोडीकरण का काम करता है।

एक और शिक्षात्मक साधन (पर शर्त यह है कि इसका उपयोग समस्या-उठाऊ पद्धति से ही किया जाए, शिक्षा की बैंकीय पद्धति से नहीं) यह है कि पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, अख़बार और पुस्तकों के अध्याय (आरंभ में अध्यायों के कुछ अंश) पढ़े जाएं और उन पर चर्चा हो। जैसा कि रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार के मामले में बताया गया है, आरंभ में लेखक का परिचय दिया जाए और बाद में लेख की अंतर्वस्तु पर चर्चा की जाए।

इसी प्रकार अख़बारों के संपादकीय टिप्पणियों की अंतर्वस्तु का विश्लेषण अपरिहार्य है। किसी घटना के बाद लिखे गए अख़बारों के संपादकीय पढ़ कर सुनाने के बाद यह प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि "अलग-अलग अख़बार एक ही तथ्य की ऐसी अलग-अलग व्याख्याएं क्यों करते हैं ?" इससे जनता की आलोचनात्मक समझ के विकास में सहायता मिल सकती है। यह काम इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए कि लोग स्वयं को निष्क्रिय वस्तुओं के रूप में और अख़बारों तथा समाचार-प्रसारणों को अपने लिए जारी की गई 'विज्ञप्तियों' के रूप में देखना बंद कर दें और उनके प्रति ऐसी चेतनाओं के रूप में प्रतिक्रिया करें, जो मुक्त होना चाहती हैं।

शिक्षात्मक सामग्री (सहायक सामग्री) के साथ छोटी-छोटी परिचयात्मक नियम-पुस्तिकाएं भी होनी चाहिएं, जिनमें सामग्री के उपयोग की विधियां बताई जाती हैं। इस प्रकार सारी सामग्री तैयार हो जाने पर शिक्षकों की टीम जनता के सामने उसके अपने ही मूलविषयों को व्यववस्थित और विस्तृत रूप में पुनर्प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो जाती है। जनता से आने वाले मूलविषय पुनः जनता के पास जाते हैं तो ऐसी अंतर्वस्तुओं के रूप में नहीं, जो 'जमा' की जानी हैं, बल्कि समस्याओं के रूप में, जिन्हें हल किया जाना है।

बुनियादी शिक्षा वाले शिक्षकों का पहला काम है शैक्षिक अभियान के सामान्य कार्यक्रम को प्रस्तुत करना। जनता को यह कार्यक्रम बेगाना नहीं, अपना लगेगा। वह उसमें स्वयं को पाएगी, क्योंकि उसकी शुरूआत जनता से ही हुई थी।

शिक्षक (शिक्षा के संवादात्मक चरित्र के आधार पर) कार्यक्रम के 'क़ब्ज़ेदार मूलविषयों' की उपस्थिति को तथा उनके महत्व को स्पष्ट करेंगे।

यदि शिक्षकों के पास प्रारंभिक मूलविषय से संबंधित अनुसंधान, जैसे ऊपर बताया गया है वैसे, करने के लिए पर्याप्त कोश (धन) न हो तो वे स्थिति की न्यूनतम जानकारी के साथ भी कुछ बुनियादी मूलविषय चुन सकते हैं, जो 'अनुसंधान के कोडीकरणों' का काम करेंगे। तदनुसार, वे परिचयात्मक मूलविषयों से काम शुरू कर सकते हैं और साथ-साथ मूलविषय से संबंधित अनुसंधान की शुरूआत भी कर सकते हैं।

इन बुनियादी मूलविषयों में से एक (जिसे मैं केंद्रीय तथा अपरिहार्य मानता हूं) संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा है। मनुष्य किसान हों या शहरी मज़दूर, पढ़ना सीख रहे हों या उत्तर-साक्षरता कार्यक्रम में भाग ले रहे हों, और अधिक जानने की उनकी चेष्टा का प्रस्थान-बिंदु (शब्द के कारक अर्थ में) अवधारणा संबंधी वाद-विवाद होना चाहिए। जब वे सांस्कृतिक जगत की चर्चा करते हैं, वे अपने यथार्थ-बोध के स्तर को सामने लाते हैं, जिसमें अनेक प्रकार के मूलविषय अंतर्निहित रहते हैं। उनकी चर्चा यथार्थ के अन्य पक्षों को भी छूती है। इससे यथार्थ उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक रूप में दिखाई पड़ने लगता है। पुनः यथार्थ के ये पक्ष भी बहुत-से दूसरे मूलविषयों से संबंधित होते हैं।

अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि यदि संस्कृति की अवधारणा की चर्चा कल्पनाशील ढंग से उसके सभी या अधिकतम आयामों में की जाए तो उससे शैक्षिक कार्यक्रम के बहुत-से पहलू सामने आ सकते हैं। इसके अलावा संस्कृति मंडल के सहभागियों के साथ कई दिनों के संवाद के बाद शिक्षक सहभागियों से सीधे ही पूछ सकता है कि "इन विषयों अथवा मूलविषयों के अलावा हम और किन विषयों अथवा मूलविषयों पर चर्चा कर सकते हैं ?" प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का जो उत्तर देता है, उसे नोट कर लिया जाता है और तुरंत उसे एक समस्या के रूप में समूह के सामने प्रस्तुत कर दिया जाता है।

उदाहरण के लिए, समूह का एक सदस्य कह सकता है : "मैं राष्ट्रवाद पर चर्चा करना चाहूंगा।" शिक्षक उसका सुझाव नोट करते हुए कहता है, "बहुत अच्छा, लेकिन राष्ट्रवाद का अर्थ क्या है ? राष्ट्रवाद पर चर्चा करने में हमारी क्या रुचि हो सकती है ?" मेरा अनुभव बताता है कि जब समूह के सामने किसी सुझाव को समस्या के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, नए मूलविषय निकल आते हैं। मान लीजिए, किसी क्षेत्र में एक ही रात को तीस संस्कृति मंडलों की बैठकें होती हैं और सभी समन्वयक (शिक्षक) इसी तरीक़े से चर्चा चलाते हैं, तो कल्पना कीजिए, केंद्रीय टीम को अध्ययन के लिए कितने विपुल परिमाण में और विविध प्रकार की मूलविषय से संबद्ध सामग्री मिलेगी !

मुक्तिदाई शिक्षा के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण चीज़ यह है कि मनुष्य अपने तथा अपने साथियों के सुझावों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से व्यक्त होने वाले अपने विश्व संबंधी विचारों तथा दृष्टिकोणों की चर्चा करें और इसके जरिए यह महसूस करें कि यह चिंतन उनका ही है। चूंकि शिक्षा संबंधी यह दृष्टिकोण इस दृढ़ धारणा से आरंभ होता है कि यह स्वयं अपना कोई कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं कर सकता, बल्कि उसे इस कार्यक्रम की तलाश जनता के साथ संवादात्मक रूप से करनी चाहिए, इसलिए यह उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र का परिचय कराने का काम करता है, जिसके विकास में उत्पीड़ितों को अवश्य ही सहभागी होना चाहिए।

टिप्पणियां

1. कर्म
चिंतन } शब्द=कर्म=आचरण
कर्म का त्याग=शब्दाडंबर
चिंतन का त्याग=सक्रियतावाद
2. इनमें से कुछ विचार प्रोफ़ेसर अर्नानी मारिया फियोरी से बातचीत करने के फलस्वरूप उभरे।
3. स्पष्ट है कि मैं गंभीर विचारमग्नता वाली उस ख़ामोशी की बात नहीं कर रहा हूं, जिसमें मनुष्य विश्व पर संपूर्णता में विचार करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से तो विश्व के परे चले जाते हैं, लेकिन ऐसा करते समय वे वास्तव में विश्व के अंदर ही रहते हैं। लेकिन इस प्रकार विश्व से परे जाना तभी प्रामाणिक होगा, जब विचारक यथार्थ में 'नहाया' रहे, तब नहीं जब यह विश्व के प्रति घृणा या उससे पलायन हो। वह तो एक प्रकार की 'ऐतिहासिक विभक्तमनस्कता' है।
4. मेरा यह विश्वास दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है कि क्रांति चूंकि एक सृजनात्मक और मुक्तिदाई कर्म है, इसलिए क्रांतिकारियों को उसे प्रेम का कर्म ही समझना चाहिए। मेरे लिए क्रांति, जो क्रांति के एक सिद्धांत के बिना संभव नहीं है, और इसलिए वह एक विज्ञान है, प्रेम-विरोधी नहीं है। इसके विपरीत, क्रांति मनुष्यों द्वारा अपने मानुषीकरण के लिए की जाती है। वास्तव में, मनुष्य के अमानुषीकरण के अलावा और कौन-सी चीज़ है, जो लोगों को इतनी गहराई से प्रभावित करे कि वे उसे मिटाने के लिए क्रांतिकारी बन जाएं ? पूंजीवादी विश्व ने 'प्रेम' शब्द पर जो विकृति थोप दी है, वह न तो क्रांति को अपने चरित्र में सारतः प्रेममय होने से रोक सकती है और न ही क्रांतिकारियों को जीवन से प्रेम करने से रोक सकती है। चे गुएवारा ने (यह कहते हुए भी कि "भले ही मुझे हास्यास्पद माना जाए") जीवन से प्रेम करने की बात को निर्भय होकर स्वीकार किया है–"भले ही मुझे हास्यास्पद माना जाए, मैं यह कहना चाहता हूं कि सच्चा क्रांतिकारी प्रेम की सशक्त भावनाओं से प्रेरित होता है। इस गुण के बिना कोई प्रामाणिक क्रांतिकारी हो सकता है, ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता।"
5. एक मित्र के पत्र से।
6. आंद्रे मालरो ने 'एंटी मैमायर्स' में लिखा है कि उनके साथ एक लंबी बातचीत में माओ-त्से-तुंग ने कहा था, "आप जानते हैं, मैं लंबे समय से एक बात कहता आ रहा हूं : हमें जनता को वह सब स्पष्ट रूप से पढ़ाना चाहिए, जो हमें अस्पष्ट रूप से पढ़ाया गया है।" इस बात में

एक समूचा संवादात्मक सिद्धांत—कि शिक्षा के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु कैसे निर्मित होनी चाहिए—निहित है, जिसकी व्याख्या इस आधार पर नहीं की जा सकती कि *शिक्षक* के विचार से *उसके* छात्रों के लिए क्या चीज़ सबसे ठीक रहेगी।

7. किसान, जो आमतौर पर औपनिवेशिक संदर्भ से उभर नहीं पाते, प्राकृतिक जगत से ऐसे नाभिनालबद्ध रूप में जुड़े रहते हैं कि स्वयं को उसे रूपाकार प्रदान करने वाला समझने के बजाए उसका अभिन्न अंग समझते हैं।
8. माओ-त्से-तुंग ने लिखा है—"हमारे सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को जनता की सेवा पूरे उत्साह और लगन से करनी चाहिए, और उन्हें जनता से कटना नहीं, बल्कि जुड़ना चाहिए। ऐसा करने के लिए उन्हें जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार काम करना चाहिए। जनता के लिए किए जाने वाले सभी काम उसकी ज़रूरतों से शुरू होने चाहिएं, किसी व्यक्ति की इच्छा से नहीं, चाहे उसके इरादे कितने ही नेक हों। अक्सर ऐसा होता है कि जनता को वस्तुपरक ढंग से तो किसी परिवर्तन की आवश्यकता होती है किंतु आत्मपरक ढंग से वह उसके बारे में सचेत नहीं होती। अर्थात् अभी उसमें उस परिवर्तन की इच्छा या उसे कर डालने का निश्चय नहीं होता। ऐसे मामले में हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए। जब तक ज़्यादातर लोग, हमारे द्वारा किए गए कार्य से, उस आवश्यकता के प्रति सचेत न हो जाएं और उस परिवर्तन की कामना करते हुए उसे कर डालने का निश्चय न कर लें, तब तक हमें वह परिवर्तन नहीं करना चाहिए। अन्यथा हम जनता से कट जाएंगे। ऐसी स्थिति के लिए दो सिद्धांत हैं : एक यह कि जनता की वास्तविक ज़रूरतें क्या हैं, यह नहीं कि हमारी कल्पना के अनुसार उनके लिए क्या ज़रूरी है; और दूसरा यह कि उन लोगों की इच्छा क्या है, जिन्हें निश्चय करना है, यह नहीं कि हम उन्हें बताएं कि उन्हें क्या निश्चय करना है।"
9. चौथे अध्याय में इस पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।
10. सच्चे मानववादी बैंकीय पद्धति का उपयोग करें, यह उतना ही आत्मविरोधी है, जितना यह कि दक्षिणपंथी लोग समस्या-उठाऊ शिक्षा का उपयोग करें। (वैसे दक्षिणपंथी हमेशा संगत होते हैं—वे समस्या-उठाऊ शिक्षा का उपयोग कभी नहीं करते।)
11. पुस्तक में 'अर्थपूर्ण मूलविषय' का प्रयोग भी इसी अर्थ में किया गया है।
12. अंग्रेज़ी भाषा में 'लिव' (जीवित रहना) और 'एक्ज़िस्ट' (अस्तित्ववान होना) अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थों से विपरीत अर्थ ग्रहण कर चुके हैं। यहां प्रयुक्त 'लिव' ज़्यादा बुनियादी शब्द है, जिसका अर्थ सिर्फ़ ज़िंदा रहना है; 'एक्ज़िस्ट' का अर्थ है 'बिकमिंग' (संभवन) से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होना।
13. प्रोफ़ेसर अल्वारो वायीरा पिंटो ने 'प्रतिबंधक स्थितियों' की समस्या का विश्लेषण बड़ी स्पष्टता के साथ किया है। वे इस अवधारणा को कार्ल जास्पर्स की मूल निराशावादी अवधारणा की तरह इस्तेमाल नहीं करते। वायीरा पिंटो के लिए 'प्रतिबंधक स्थितियां' वे 'अलंघ्य चौहद्दियां' नहीं हैं, जहां 'संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं'। उनके लिए ये स्थितियां 'वास्तविक चौहद्दियां' हैं, जहां से आगे समस्त संभावनाएं शुरू होती हैं'। उनके लिए ये स्थितियां वह 'सीमांत' नहीं है, 'जो अस्तित्व को अनस्तित्व से अलग करता है', बल्कि 'वह सीमांत है, जो अस्तित्व को अधिक अस्तित्व से अलग करता है।"
14. इस संबंध में कारेल कोसिक की पुस्तक 'डायलेक्टिका डि लो कोंक्रेटो' देखें।
15. ऐतिहासिक युगों के प्रश्न पर हांस फ्रेयर की पुस्तक 'टियोरिया डे ला एपोका एक्चुअल' देखें।
16. मैं इन्हें 'जननशील मूलविषय' कहता हूं, क्योंकि (ये चाहे किसी भी तरह समझे जाएं और चाहे किसी भी तरह के कर्म की मांग करें) इनसे पुनः अनेक मूलविषयों के सामने आने की संभावना

रहती है, जो पुनः नए कार्यभारों को पूरा करने की आवश्यकता उत्पन्न करते हैं।

17. मध्यवर्गीय व्यक्तियों में इस प्रकार का व्यवहार अवसर दिखाई देता है, गोकि वह किसान के ऐसे व्यवहार से भिन्न रूप में सामने आता है। उनका 'स्वतंत्रता का भय' ऐसी प्रतिरक्षा-प्रणालियां और तर्क-शृंखलाएं खड़ी कर लेता है, जो आधारभूत चीज़ों को छिपाती हैं, आकस्मिक चीज़ों पर ज़ोर देती हैं, और ठोस यथार्थ को नकारती हैं। किसी ऐसी समस्या का सामना होने पर, जिसका विश्लेषण एक प्रतिबंधक-स्थिति का बोध करा सकता है, उनकी प्रवृत्ति बहस में परिधि पर रहने की और समस्या की तह तक पहुंचने के किसी भी प्रयास को रोकने की होती है। यदि कोई उन बातों को, जिन्हें वे प्राथमिक महत्व दे रहे हों, आकस्मिक या गौण सिद्ध करने वाली आधारभूत चीज़ की तरफ़ इशारा करें, तो भी वे चिढ़ जाते हैं।
18. किसी अस्तित्वगत स्थिति का कोडन उसका ऐसा निरूपण है, जो उसके कुछ संघटक तत्वों को परस्पर क्रिया करते हुए दिखाता है। अवकोडन कोडित स्थिति का आलोचनात्मक विश्लेषण है।
19. अंग्रेज़ी में 'नो मैन्स लैंड', जिसका अर्थ होता है 'लावारिस ज़मीन' या 'दो सेनाओं के बीच का ख़ाली मैदान'।—अनुवादक
20. 'जननशील शब्द' के प्रयोग और अनुसंधान के बारे में देखिए मेरी पुस्तक 'एडुकाकाओ कोमो प्रेटिका डा लिबर्डाडे'।
21. ब्राज़ीली समाजशास्त्री मारिया एडी फरेरा (की एक अप्रकाशित पुस्तक) के अनुसार मूलविषयों के अनुसंधान का औचित्य इसी में है कि वह लोगों को वह चीज़ लौटा दे, जो वास्तव में उनकी अपनी चीज़ है; उसका औचित्य इसी में है कि जनता के बारे में जानने का प्रयास नहीं, बल्कि उसके साथ मिल कर उस यथार्थ को जानने का प्रयास है, जो उसे चुनौती दे रहा है।
22. ब्राज़ीली उपन्यासकार गिमारेज़ रोज़ा इस चीज़ के बढ़िया उदाहरण हैं कि एक लेखक प्रामाणिकता को कैसे पकड़ता है। वे लोगों की भाषा में उच्चारण के दोष या व्याकरण की ग़लतियां नहीं दिखाते, बल्कि उनकी वाक्य रचना के जरिए उनके विचार की संरचना को सामने लाते हैं। दरअसल, गिमारेज़ रोज़ा ब्राज़ील के भीतरी भागों में रहने वाले लोगों के 'अर्थपूर्ण मूलविषयों' के सर्वोत्कृष्ट अनुसंधाता थे। (यह बात एक लेखक के रूप में उनके असाधारण महत्व को घटाने के लिए नहीं कही जा रही है।) प्रोफ़ेसर पॉलो डि टार्सो आजकल 'ग्रांडे सेर्टाओ—वेरेडास' (अंग्रेज़ी अनुवाद में 'दि डैविल टु पे इन दि बैकलैंड्स') के लेखक (रोज़ा) की रचनाओं के इस पक्ष का, जिस पर अभी कम ही विचार हुआ है, विश्लेषण करने वाला एक निबंध तैयार कर रहे हैं।
23. कोडीकरण मौखिक भी हो सकता है। इसमें किसी अस्तित्वगत समस्या को प्रस्तुत करने वाले कुछ शब्द कोड के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और फिर इस कोड का अवकोडन किया जाता है। चिली में इंस्टीट्यूट फ़ॉर एग्रेरियन डेवलपमेंट ने मूलविषयों के अनुसंधान में इस पद्धति का उपयोग सफलतापूर्वक किया है।
24. यह सुझाव जोसे लुई फियोरी ने अपनी एक अप्रकाशित पांडुलिपि में दिया है।
25. कुछ समय पहले तक 'इनडाप' के निदेशक थे अर्थशास्त्री और प्रामाणिक मानववादी जैकस चोंचोल।
26. ये कोडीकरण फियोरी की परिभाषा के अनुसार 'समावेशी' नहीं थे।
27. प्रत्येक 'अनुसंधान मंडल' में अधिक से अधिक बीस व्यक्ति होने चाहिएं। अध्ययनांतर्गत क्षेत्र या उपक्षेत्र की जनसंख्या के दस प्रतिशत लोगों को सहभागी बनाने के लिए जितने मंडलों की आवश्यकता हो, उतने मंडल बनाए जाने चाहिएं।
28. बाद में विश्लेषण करने के लिए की जाने वाली इन बैठकों में क्षेत्र के उन स्वयंसेवकों को, जिन्होंने अनुसंधान में सहायता की थी, और कुछ 'मूलविषयी अनुसंधान मंडलों' के सहभागियों को भी

शामिल किया जाना चाहिए। वे विश्लेषण में योगदान करें, यह उनका अधिकार तो है ही, विशेषज्ञों द्वारा किए जाने वाले विश्लेषण में अपरिहार्य रूप से सहायक भी है। विशेषज्ञों के सह-अनुसंधाताओं के रूप में वे अनुसंधान से प्राप्त परिणामों की विशेषज्ञों द्वारा की गई व्याख्या को सुधारने और या अभिपुष्ट करने का काम करेंगे। पद्धति की दृष्टि से उनकी सहभागिता अनुसंधान को (जो आरंभ से ही 'सहानुभूतिपूर्ण' संबंध पर आधारित है) ग़लतियों से बचाने का एक अतिरिक्त उपाय बन जाती है। यह इस तरह कि कार्यक्रम की अंतर्वस्तु के संगठन में आरंभ से अंत तक, अर्थात् मूलविषयों के विश्लेषण वाली अंतिम अवस्था तक, जनता के प्रतिनिधियों की आलोचनात्मक उपस्थिति शैक्षिक कर्म को मुक्तिदाई सांस्कृतिक कर्म बना देती है।

29. मनोचिकित्सक पैट्रिसियो लोपेज, जिनके कार्य का विवरण 'एडुकाकाओ कोमो प्रैटिका डा लिबर्डाडे' में दिया गया है।

30. संस्कृति के मानववैज्ञानिक विश्लेषण के महत्व के संबंध में देखिए 'एडुकाकाओ कोमा प्रैटिका डा लिबर्डाडे'।

31. यह ध्यान रखना चाहिए कि समूचा कार्यक्रम एक संपूर्णता है और ऐसी अंतःसंबंधित इकाइयों से मिल कर बनता है, जो अपने-आप में भी संपूर्ण होती हैं।
मूलविषय स्वयं में ही संपूर्ण होते हैं, लेकिन अंतःसंबंधित रूप में वे कार्यक्रम की अंतर मूलविषयी इकाइयां भी होते हैं।
मूलविषय के विश्लेषण में समस्त मूलविषयों की चीरफाड़ करके उनके नाभिकों का पता लगाया जाता है, जो कार्यक्रम के आंशिक तत्व होते हैं।
कोडीकरण की प्रक्रिया में अलग-अलग विखंडित मूलविषयों को अस्तित्वगत स्थितियों के निरूपण में पुनः जोड़ कर संपूर्ण बनाया जाता है।
अवकोडीकरण में कोडीकरणों में निहित मूलविषय या मूलविषयों को समझने के लिए कोडीकरणों की चीरफाड़ की जाती है। लेकिन अवकोडीकरण की प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हो जाती। विश्लेषित संपूर्ण को पुनः जोड़ कर संपूर्ण बनाया जाता है, जो अब अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आता है। (इसी तरह कोडित स्थितियों से, जिनमें अस्तित्वगत स्थितियां निरूपित की जाती हैं, उनके संबंध भी अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आते हैं।)

32. कोडीकरण

(क) सरल

दृश्य माध्यम

चित्रात्मक

लेखाचित्रीय

स्पृश्य माध्यम

श्रव्य माध्यम

(ख) जटिल

एक साथ सभी माध्यमों का उपयोग।

चौथा प्रकरण

इस प्रकरण में सांस्कृतिक कर्म की संवादात्मक और संवाद-विरोधी प्रक्रियाओं में ढलकर विकसित होने वाले सिद्धांतों का विश्लेषण किया गया है। इसमें पहले के प्रकरणों में कही गई बातों के संदर्भ—या तो उनका विस्तार करने के लिए, या कुछ नई बातें कहने के लिए—बार-बार आएंगे।

आरंभ में ही मैं इस बात को दोहरा दूं कि मनुष्य आचरण करने वाले प्राणी होने के कारण पशुओं से भिन्न हैं। पशु शुद्ध गतिविधि वाले प्राणी हैं। वे विश्व पर विचार नहीं करते, क्योंकि वे उसमें डूबे रहते हैं। उनके मुक़ाबले मनुष्य विश्व में से उभर कर उस पर विचार करने वाले प्राणी हैं। वे विश्व को वस्तुपरक बनाते हैं और ऐसा करते हुए वे उसे समझ सकते हैं तथा अपने श्रम से उसका रूपांतरण कर सकते हैं।

पशु श्रम नहीं करते, इसलिए वे जिस परिवेश में जीते हैं, उसके परे नहीं जा सकते। अतः पशुओं की प्रत्येक प्रजाति केवल अपने लिए उपयुक्त संदर्भ में जीती है। ये संदर्भ मनुष्यों के लिए तो खुले हुए होते हैं, लेकिन पशुओं के लिए अपने-आप में बंद होते हैं, इसलिए उनमें संप्रेषण नहीं हो सकता।

लेकिन मनुष्यों की गतिविधि कर्म और चिंतन से मिल कर बनती है। वह आचरण होती है; विश्व का रूपांतरण होती है। और आचरण के रूप में उसे दीपित करने वाला कोई सिद्धांत उसके लिए आवश्यक होता है। अतः मनुष्यों की गतिविधि सिद्धांत और कर्म है; चिंतन और कर्म है। इसे, जैसा कि मैंने दूसरे प्रकरण में ज़ोर देकर कहा है, न तो शब्दाडंबर में सीमित किया जा सकता है, न सक्रियतावाद में।

लेनिन की प्रसिद्ध उक्ति है—"क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना कोई क्रांतिकारी आंदोलन संभव नहीं।" इसका अर्थ यह है कि क्रांति न तो शब्दाडंबर से होती है, न सक्रियतावाद से। क्रांति होती है आचरण से। अर्थात् उन संरचनाओं पर किए गए *चिंतन* और *कर्म* से, जिनका रूपांतरण किया जाना है। इन संरचनाओं के रूपांतरण का क्रांतिकारी प्रयास यदि आमूल-परिवर्तनवादी है, तो उसमें यह नहीं हो सकता कि उसके नेता तो उसके चिंतक हों और उत्पीड़ित लोग महज उसके *कार्यकर्ता*।

क्रांति के लिए जनता से सच्ची प्रतिबद्धता आवश्यक है। प्रतिबद्धता में उस यथार्थ का रूपांतरण शामिल है, जो जनता को उत्पीड़ित करता है। इसके लिए रूपांतरकारी कर्म का एक सिद्धांत आवश्यक है। वह सिद्धांत रूपांतरकारी प्रक्रिया में जनता को एक आधारभूत भूमिका सौंपे बिना नहीं रह सकता। नेता उत्पीड़ितों को महज कार्यकर्ता मान कर नहीं चल सकते, जिन्हें चिंतन का अवसर नहीं दिया जाना है और केवल कर्म करने के भ्रम में रहने की इजाज़त दी जानी है। इस तरह तो वास्तव में उत्पीड़ितों के साथ चालबाज़ी ही होती रहेगी—और इस मामले में वह उनके द्वारा की जाएगी, जो चालबाज़ी के शत्रु माने जाते हैं।

नेताओं पर समन्वयन की—और कभी-कभी दिशा देने की भी—ज़िम्मेदारी होती है, लेकिन जो नेता उत्पीड़ितों को आचरण नहीं करने देते, वे ऐसा करके अपने आचरण को भी अवैध बना लेते हैं। अपना शब्द दूसरों पर थोपकर वे उस शब्द को झूठा बना देते हैं तथा अपनी पद्धति और अपने उद्देश्यों में एक अंतर्विरोध क़ायम कर लेते हैं। यदि वे मुक्ति से सचमुच प्रतिबद्ध हैं तो उनका चिंतन और कर्म दूसरों के चिंतन और कर्म के बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

क्रांतिकारी आचरण के लिए आवश्यक है कि वह प्रभुत्वशाली अभिजनों के आचरण के विरोध में खड़ा हो, क्योंकि ये दोनों प्रकार के आचरण स्वभावतः विरोधात्मक हैं। क्रांतिकारी आचरण उस ऊलजलूल द्विभाजन को सहन नहीं कर सकता, जिसमें जनता के आचरण को महज नेताओं के निर्णयों का अनुसरण करने वाला बना दिया जाता है। यह द्विभाजन प्रभुत्वशाली अभिजनों की निर्देशात्मक पद्धतियों को ही व्यक्त करता है। क्रांतिकारी आचरण तो एकता है, और नेतागण स्वयं को उत्पीड़ितों का स्वामी नहीं मान सकते।

चालबाज़ी करने, नारेबाज़ी करने, 'जमा' करने, निर्देश करने, और कठोर अनुशासन लागू करने से क्रांतिकारी आचरण नहीं बनता, क्योंकि इनसे तो प्रभुत्व का आचरण बनता है। प्रभु वर्ग जनता पर शासन करने के लिए जनता को सच्चा आचरण नहीं करने देता। यह उसकी विवशता होती है कि वह जनता को अपना शब्द न बोलने दे, उसे अपना चिंतन न करने दे। वह संवादात्मक ढंग से काम कर ही नहीं सकता। उसके लिए ऐसा करने का मतलब होगा कि या तो उसने शासन-सत्ता को त्याग दिया है और उत्पीड़ितों के उद्देश्य को उचित मान कर उनके साथ आ गया है, या यह कि उसका हिसाब गड़बड़ा गया है, जिससे वह अपनी उस सत्ता को खो बैठा है।

विलोमतः जो क्रांतिकारी नेता जनता के साथ अपने संबंधों में संवादात्मक नहीं होते, वे या तो अभी तक प्रभु वर्ग की चारित्रिक विशेषताओं को अपनाए हुए हैं और वास्तव में क्रांतिकारी नहीं हैं; या अपनी भूमिका के बारे में उनकी समझ गड़बड़ है और—अपने संकीर्णतावाद के क़ैदी होने के कारण—प्रभु वर्ग के ही समान

वे भी क्रांतिकारी नहीं हैं। वे सत्ता तक भी पहुंच सकते हैं, लेकिन उनके संवादविरोधी कर्म से होने वाली क्रांति की वैधता पूरी तरह संदिग्ध होगी।

यह नितांत आवश्यक है कि उत्पीड़ित लोग रूपांतरण के *कर्ताओं* के रूप में अपनी भूमिका से उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक रूप में अवगत होते हुए क्रांतिकारी प्रक्रिया में सहभागी हों। यदि वे उस प्रक्रिया में संदिग्ध प्राणियों के रूप में आते हैं, अर्थात् आंशिक रूप से वे स्वयं होते हैं और आंशिक रूप से वह उत्पीड़क, जो उनके भीतर बैठा रहता है—और यदि वे उत्पीड़न की स्थिति द्वारा उन पर थोप दी गई इसी संदिग्धता के साथ सत्ता में आ जाते हैं—तो मेरे विचार से यह महज उनकी *कल्पना* ही होगी कि उन्होंने सत्ता प्राप्त कर ली है।[1] यहां तक कि उनका अस्तित्वगत द्वैत संकीर्णतावाद का वातावरण बनाने में भी सहायक हो सकता है, जिससे क्रांति की जड़ खोदने वाली नौकरशाही स्थापित होती है। यदि उत्पीड़ित लोग क्रांतिकारी प्रक्रिया के दौरान इस संदिग्धता से अवगत नहीं होते तो वे उस प्रक्रिया में क्रांतिकारियों के रूप में कम और बदला लेने वालों के रूप में अधिक सहभागी होंगे।[2] वे क्रांति की अभिलाषा मुक्ति के मार्ग के रूप में न करके प्रभुत्व जमाने के साधन के रूप में कर सकते हैं।

कठिनाइयां तो उन क्रांतिकारी नेताओं के सामने भी आती हैं, जो सच्चे मानववादी होते हैं, लेकिन उन नेताओं की कठिनाइयां और समस्याएं कहीं ज़्यादा बड़ी होती हैं, जो (चाहे सर्वोत्तम इरादों के साथ ही सही) जनता *के लिए* क्रांति करने की कोशिश करते हैं। ऐसा करना जनता *के बिना* क्रांति करने के समान है, क्योंकि इससे जनता को उन्हीं तौर-तरीकों से क्रांति की प्रक्रिया में लाया जाता है, जो तौर तरीके उसके उत्पीड़न के लिए अपनाए जाते रहे हैं।

संवाद प्रत्येक प्रामाणिक क्रांति के आमूल-परिवर्तनवादी रूप में आवश्यक है। यही वह चीज़ है, जो क्रांति को फ़ौजी *तख़्तापलट* से भिन्न बनाती है। तख़्तापलट से संवाद की अपेक्षा कोई नहीं करता, क्योंकि उसमें तो ('वैधता' प्राप्त करने के लिए) छल-कपट और (दमन करने के लिए) बलप्रयोग ही होता है। क्रांति के लिए आवश्यक है कि वह आज नहीं तो कल जनता के साथ एक साहसपूर्ण संवाद शुरू करे। उसकी वैधता ही उस संवाद में होती है।[3] क्रांति जनता से, उसकी अभिव्यक्ति से, सत्ता में उसकी प्रभावी सहभागिता से, भयभीत नहीं हो सकती। उसे तो जनता के प्रति उत्तरदाई होना ही चाहिए। उसे अपनी उपलब्धियों, अपनी ग़लतियों, अपनी चूकों और अपनी कठिनाइयों के बारे में जनता को खुलकर बताना ही चाहिए।

संवाद जितनी जल्दी शुरू होगा, आंदोलन उतना ही सच्चा क्रांतिकारी आंदोलन होगा। यह संवाद, जो क्रांतिकारी कर्म के लिए आमूल-परिवर्तनवादी रूप से आवश्यक है, एक और आमूल-परिवर्तनवादी आवश्यकता से मेल खाता है। वह आवश्यकता है ऐसे मनुष्यों की, जो संप्रेषण के बिना वास्तव में मानवीय हो ही

नहीं सकते, क्योंकि वे सारतः संप्रेषणशील प्राणी हैं। संप्रेषण को बाधित करना मनुष्यों को 'चीज़ों' में बदल कर रख देना है—और यह क्रांतिकारियों का नहीं, उत्पीड़कों का काम है।

मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूं कि मैं जिस आचरण की वकालत कर रहा हूं, उसे कर्म की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती, दो अवस्थाओं में नहीं बांटा जा सकता। कर्म और चिंतन साथ-साथ होते हैं। लेकिन यथार्थ के किसी विश्लेषण से यह बात सामने आ सकती है कि कर्म का एक विशिष्ट रूप *फ़िलहाल* असंभव या अनुचित होगा (अतः उसे तदनुसार या तो स्थगित कर दिया जाना चाहिए, या कर्म के किसी अन्य रूप से बदल दिया जाना चाहिए)। जो लोग चिंतन के जरिए देख लेते हैं कि कर्म का अमुक रूप फ़िलहाल असंभव या अनुचित है, उन्हें अकर्मण्यता का दोषी नहीं कहा जा सकता। आलोचनात्मक चिंतन भी कर्म है।

मैं पहले कह चुका हूं कि शिक्षा में शिक्षक-छात्र का किसी संज्ञेय वस्तु को समझने का प्रयास उसी वस्तु में समाप्त नहीं हो जाता। उसके कर्म का विस्तार अन्य छात्र-शिक्षकों तक इस रूप में होता है कि संज्ञेय वस्तु उनकी बोध-क्षमता का माध्यम बन जाती है। यही बात क्रांतिकारी कर्म के लिए सच है। अर्थात् उत्पीड़ित जनता और नेता समान रूप से क्रांतिकारी कर्म के कर्ता हैं और यथार्थ दोनों के रूपांतरकारी कर्म के लिए माध्यम का काम करता है। कर्म के इस सिद्धांत में *कर्ता* कोई एक नहीं होता। अनेक भी सामान्य कर्ता नहीं होते, बल्कि वे *अंतःसंप्रेषण में कर्ता* होते हैं।

किसी को ऐसा लग सकता है कि अंतःसंप्रेषण से क्रांतिकारी ताक़तों में विभाजन या द्विभाजन हो जाएगा, या फूट पड़ जाएगी, लेकिन वास्तव में बात बिलकुल उलटी है : इससे उनमें घनिष्ठता पैदा होगी। इस घनिष्ठता के बिना निश्चय ही द्विभाजन होगा : नेता एक तरफ़ होंगे और जनता दूसरी तरफ़, और दोनों के संबंध उत्पीड़क-उत्पीड़ित के संबंध होंगे। क्रांति की प्रक्रिया में घनिष्ठता से इनकार करना और जनता को संगठित करने के बहाने, या क्रांतिकारी सत्ता को मज़बूत बनाने के बहाने, या संयुक्त मोर्चे को क़ायम रखने के बहाने उससे संवाद करने से बचना वास्तव में स्वतंत्रता का भय है। यह या तो जनता से डरना है या जनता पर विश्वास करने से डरना। लेकिन जब जनता पर ही भरोसा नहीं किया जा सकता, तो मुक्ति किसकी और किसलिए ? इस मामले में तो क्रांति जनता *के लिए* भी नहीं की जाती, बल्कि *जनता के द्वारा नेताओं के लिए* की जाती है, जो एक संपूर्ण आत्मनिषेध है।

क्रांति न तो नेताओं द्वारा जनता के लिए होती है, न जनता द्वारा नेताओं के लिए, वह तो दोनों की अटल एकजुटता में होती है। ऐसी एकजुटता तभी पैदा होती है, जब नेता विनम्रता, प्रेम और साहस के साथ जनता के साथी होने का

साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। ऐसा करने का पर्याप्त साहस सब मनुष्यों में नहीं होता, लेकिन जो लोग इससे बचते हैं, वे अनमनीय हो जाते हैं और दूसरों को वस्तु मान लेते हैं। वे जीवन का पोषण करने के बजाए उसकी हत्या करते हैं। जीवन की खोज करने के बजाए उससे दूर भागते हैं। और ये सब *उत्पीड़कों* की विशेषताएं हैं।

कुछ लोग सोच सकते हैं कि संवाद की बात करना—विश्व का रूपांतरण करने के लिए विश्व में मनुष्यों का साथी और सहभागी होना—एक भोला और आत्मपरक ढंग का आदर्शवाद है।[4] लेकिन इससे अधिक वास्तविक तथा ठोस कुछ और नहीं हो सकता कि मनुष्य विश्व में और विश्व के साथ हों, दूसरे मनुष्यों के साथ हों—और कुछ मनुष्य उत्पीड़क वर्ग के रूप में तथा दूसरे मनुष्य उत्पीड़ित वर्ग के रूप में एक-दूसरे के विरुद्ध हों।

प्रामाणिक क्रांति उस यथार्थ के रूपांतरण का प्रयास करती है, जो यथार्थ अमानुषिक बनाने वाली स्थिति पैदा करता है। जिनके लिए यह स्थिति लाभदायक होती है, वे यह रूपांतरण नहीं कर सकते; यह काम तो अपने नेताओं के साथ उत्पीड़ितों को ही करना होगा। लेकिन इस सत्य को आमूल-परिवर्तनवादी ढंग से व्यवहार में आना चाहिए; अर्थात् नेताओं को जनता से घनिष्ठ होकर इस सत्य को *मूर्त रूप में प्रस्तुत करना चाहिए*। इस घनिष्ठता में नेता और जनता साथ-साथ बढ़ते हैं, और नेता स्वयंभू नेता न रह कर सचमुच जनता के नेता बनते हैं। अर्थात् वे अपने आचरण में जनता के आचरण के साथ होने से नेता बनते हैं या सच्चे नेता प्रमाणित होते हैं।

कई लोग यथार्थ के यांत्रिक दृष्टिकोण से बंधे रहने के कारण यह नहीं समझते कि मनुष्यों की ठोस स्थिति उनकी विश्व संबंधी चेतना का अनुकूलन करती है और बदले में इस चेतना से यथार्थ के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा व्यवहार का अनुकूलन होता है। वे सोचते हैं कि यथार्थ को यांत्रिक ढंग से बदला जा सकता है।[5] लेकिन वास्तव में यथार्थ को तभी बदला जा सकता है, जब मनुष्यों की यथार्थचेतना को एक समस्या के रूप में उठाया जाए, अथवा क्रांतिकारी कर्म के जरिए उसका इस प्रकार विकास किया जाए कि वह उत्तरोत्तर कम मिथ्या होती चली जाए। बात यह है कि कोई ऐतिहासिक यथार्थ ऐसा नहीं होता, जो मानवीय न हो। कोई इतिहास मनुष्यों *के बिना* नहीं होता, और कोई इतिहास मनुष्यों *के लिए* नहीं होता; इतिहास केवल मनुष्यों *का* इतिहास होता है, जो मनुष्यों के द्वारा बनाया जाता है (जैसा कि मार्क्स ने कहा था) और बदले में मनुष्यों को बनाता है। जब मनुष्यों की बहुसंख्याओं को इतिहास में कर्ताओं के रूप में भाग लेने के उनके अधिकार से वंचित कर दिया जाता है, तब वे अधीनता और अलगाव के शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी हैसियत वस्तुओं वाली हो जाती है, जिसे

बदल कर कर्ताओं वाली हैसियत में पहुंचने के लिए—जो क्रांति का सच्चा उद्देश्य है—उस यथार्थ पर, जिसका रूपांतरण किया जाना है, कर्म और चिंतन करना उनके लिए आवश्यक हो जाता है।

यह कहना कि उत्पीड़नकारी यथार्थ पर विचार करने मात्र से और अपनी वस्तुओं की-सी दशा को जान लेने मात्र से मनुष्य कर्ता बन जाते हैं, वस्तुतः एक आदर्शवादी बात होगी; लेकिन यह बोध अपने-आप में और स्वतः ही मनुष्यों के कर्ता बन जाने का सूचक न होते हुए भी इसका सूचक *अवश्य* है कि—जैसा मेरे एक सह-अनुसंधाता[6] ने कहा था कि—ऐसी दशा में वे *'प्रत्याशी कर्ता'* होते हैं। अर्थात् वे एक ऐसी प्रत्याशा में होते हैं, जो उन्हें अपनी नई हैसियत को मज़बूत बनाने के प्रयास की ओर ले जाती है।

दूसरी तरफ़, ऐसा विश्वास मिथ्या आधार पर ही किया जा सकता है कि सक्रियतावाद (जो सच्चा कर्म नहीं है) क्रांति की ओर ले जाएगा। मनुष्य वास्तव में आलोचनात्मक तभी होंगे, जब वे अधिक से अधिक व्यवहार के धरातल पर आएं। अर्थात् जब उनके कर्म में वह आलोचनात्मक चिंतन शामिल हो, जो उत्तरोत्तर उनके चिंतन को संगठित करता जाए और इस प्रकार उन्हें यथार्थ के बिलकुल भोले ज्ञान से ऊपर उठा कर एक उच्चतर स्तर पर ले जाए, जहां पहुंचकर वे यथार्थ के *कारणों* को देख सकें। यदि क्रांतिकारी नेता जनता को इस अधिकार से वंचित करते हैं तो वे स्वयं अपनी चिंतन-क्षमता को क्षति पहुंचाते हैं—या कम-से-कम सही ढंग से सोचने की क्षमता को तो क्षति पहुंचाते ही हैं। क्रांतिकारी नेता जनता *के बिना* या जनता *के लिए* नहीं सोच सकते; वे जनता *के साथ* ही सोच सकते हैं।

दूसरी तरफ़, प्रभुत्वशाली अभिजन जनता के बिना सोच सकते हैं—और सोचते हैं—गोकि वे जनता के बारे में न सोचने की विलासिता की इजाज़त स्वयं को नहीं दे सकते, क्योंकि अधिक कुशलतापूर्वक शासन करने के लिए जनता को बेहतर ढंग से जानना उनके लिए ज़रूरी होता है। नतीजतन, जनता और अभिजनों के बीच दिखाई पड़ने वाला संवाद या संप्रेषण वास्तव में उन 'विज्ञप्तियों' को जनता में 'जमा करना' है, जिनकी अंतर्वस्तु जनता को पालतू बनाने वाला प्रभाव उत्पन्न करने के इरादे से तैयार की जाती है।

प्रभुत्वशाली अभिजन जनता के साथ न सोचने पर भी कमज़ोर क्यों नहीं होते ? इसलिए कि जनता उनका प्रतिपक्ष है। उनका अस्तित्व उसी पर निर्भर है। यदि अभिजन जनता के साथ सोचने लगे तो दोनों के बीच का अंतर्विरोध समाप्त हो जाएगा और उसकी जगह ऐसी स्थिति आ जाएगी कि वे उस पर शासन नहीं कर सकेंगे। शासकों की दृष्टि से, किसी भी युग में, सही सोच का मतलब होता है जनता का न सोचना। राइनहोल्ड नीबुहर लिखते हैं :

एक मिस्टर गिडी थे, जो बाद में रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष बने। उन्होंने

> जो आपत्ति की, उसके जोड़ के नमूने हर देश में मिल सकते हैं। उन्होंने कहा—"ग़रीब मेहनतकश वर्गों को शिक्षा देने की परियोजना सिद्धांत रूप में चाहे जितनी बड़ी हो, वह उनकी नैतिकता और सुख-शांति के लिए हानिकर ही होगी। शिक्षा उन्हें खेती और दूसरे मेहनत वाले कामों के लिए अच्छे नौकर बनाने के बजाए अपने भाग्य को कोसने वाला बना देगी। उन्हें अधीनता सिखाने के बजाए वह उन्हें उद्दंड और दुर्दांत बना देगी, जैसा कि औद्योगिक उत्पादन करने वाले देशों में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। वह उन्हें राजद्रोही पर्चे और ईसाई धर्म विरोधी बुरी किताबें पढ़ने लायक बना देगी। वह उन्हें अपने से बड़ों से बदतमीज़ी करने वाला बना देगी और कुछ ही वर्षों में ऐसे क़ानून बनाने पड़ेंगे कि सत्ता उनके ख़िलाफ़ कठोर क़दम उठाए।"

मिस्टर गिडी चाहते थे (और आज के अभिजन भी—हालांकि वे जनता की शिक्षा की ऐसी सिनिकवादी तथा खुली भर्त्सना नहीं करते—यही चाहते हैं) कि जनता सोचे नहीं। ऐसे मिस्टर गिडी हर देश में और हर युग में होते हैं, जो उत्पीड़क वर्ग के रूप में न तो जनता *के साथ* सोच सकते हैं और न जनता को स्वयं सोचने दे सकते हैं।

लेकिन यही बात क्रांतिकारी नेताओं के बारे में सच नहीं है, क्योंकि वे यदि जनता के साथ नहीं सोचेंगे तो शक्तिहीन हो जाएंगे। जनता उनके लिए विचार की वस्तु मात्र नहीं, बल्कि वह सांचा है, जिसमें वे स्वयं ढलते हैं। हालांकि जनता को बेहतर ढंग से समझने के लिए क्रांतिकारी नेताओं को जनता के बारे में भी सोचना पड़ता है, लेकिन उनका यह सोचना अभिजनों के सोचने से भिन्न होता है; क्योंकि वे जनता को अधीन बनाने के लिए नहीं, बल्कि मुक्त बनाने के लिए सोचते हैं और इसके लिए वे अपने चिंतन को जनता के चिंतन के प्रति समर्पित कर देते हैं। अभिजनों का चिंतन *मालिकों* का चिंतन होता है, क्रांतिकारी नेताओं का चिंतन *साथियों* का चिंतन होता है।

प्रभुत्व के लिए स्वभावतः दो ही और सर्वथा अंतर्विरोधी ध्रुव आवश्यक होते हैं : एक और प्रभुत्वशाली उत्पीड़क वर्ग, और दूसरी ओर अधीनीकृत उत्पीड़ित वर्ग। क्रांतिकारी मुक्ति में, जो इस अंतर्विरोध को समाप्त करने का प्रयास करती है, केवल ये दो ध्रुव नहीं होते, बल्कि क्रांतिकारी नेताओं का एक समूह भी होता है, जो इस प्रयास के दौरान उभरता है। यह नेतृत्व समूह या तो अपना तादात्म्य जनता की उत्पीड़ित स्थिति के साथ कर लेता है, या वह क्रांतिकारी नहीं होता। जिस प्रकार शासक जनता *के बारे में* सोचते हैं, उसी प्रकार जनता *के बारे में* सोचने, जनता के चिंतन के प्रति स्वयं को समर्पित न करने, जनता के *साथ* न सोच पाने का निश्चित परिणाम होता है नेताओं का क्रांतिकारी न रह जाना।

स्वयं को ही नष्ट करने वाले एक समाधान के रूप में व्यक्त करते हैं। दूसरी तरफ़, वे इस आवश्यकता को व्यक्त करते हैं कि पियक्कड़ को ऊंची नज़र से देखा जाए। "वह अकेला आदमी है, जो अपने देश के लिए उपयोगी है, क्योंकि वह काम करता है, दूसरे तो बकवास करते हैं।" पियक्कड़ की प्रशंसा करने के बाद सहभागी उससे अपना तादात्म्य कायम करते हैं—मज़दूरों के रूप में, जो खुद भी शराब पीते हैं, लेकिन "अच्छे मज़दूर हैं"।

इसके मुक़ाबले एक नैतिकतावादी शिक्षक[29] की असफलता की कल्पना कीजिए, जो शराबनोशी को दुर्गुण मान कर उसके विरुद्ध उपदेश देता है और सद्गुण के उदाहरण के रूप में कोई ऐसी चीज़ प्रस्तुत करता है, जो इन लोगों के लिए सद्गुण की सूचक नहीं है। इस मामले में, और दूसरे मामलों में भी, सबसे अच्छा तरीक़ा स्थिति के प्रति उनमें विवेक पैदा करने का है, जो मूलविषयों के अनुसंधान में आरंभ से ही अपनाया जाना चाहिए। (ज़ाहिर है, विवेक पैदा करने का काम किसी स्थिति के महज आत्मपरक बोध के स्तर पर आकर रुक नहीं जाता, बल्कि कर्म के द्वारा मनुष्यों को अपने मानुषीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार करता है।)

मुझे एक और अनुभव, इस बार खेत-मज़दूरों के साथ, हुआ। हमने कपड़े पर बनाया गया एक चित्र प्रदर्शित किया, जिसमें यह दिखाया गया था कि खेतों में काम हो रहा है। पूरे सत्र में तीन स्थितियों पर चर्चा हुई, लेकिन किसानों के सामने दृश्य लगातार वही रहा। नतीजा : तीनों स्थितियों पर चर्चा करते समय एक ही बात सामने आती रही : खेत-मज़दूरों की मज़दूरी बढ़नी चाहिए और इसके लिए उन्हें मिल-जुलकर अपनी यूनियन बनानी चाहिए।

अब कल्पना कीजिए कि एक शिक्षक ने इन लोगों के लिए *अपना* शैक्षिक कार्यक्रम बनाया है, जिसमें ऐसे 'हितकारी' पाठ शामिल हैं, जिन्हें पढ़ कर आदमी सीखता है कि "पानी कुएं में है" ! लेकिन शिक्षा और राजनीति में हमेशा ठीक ऐसा ही होता है, क्योंकि इस बात को समझा ही नहीं जाता कि शिक्षा की प्रकृति संवादात्मक है और संवाद मूलविषयों के अनुसंधान से शुरू होता है।

जब मंडलों में अवकोडन का काम पूरा हो जाता है, अनुसंधान की अंतिम अवस्था आरंभ होती है, जिसमें अनुसंधाता अब तक प्राप्त परिणामों का व्यवस्थित अंतर्विषयी अध्ययन करते हैं। अवकोडन सत्रों में टेप की गई सामग्री को सुनते हुए और मनोविज्ञानी तथा समाजविज्ञानी द्वारा नोट की गई चीज़ों का अध्ययन करते हुए अनुसंधाता उन सत्रों में कही गई बातों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में मौजूद मूलविषयों की सूची बनाना शुरू करते हैं। इन मूलविषयों का वर्गीकरण विभिन्न समाजविज्ञानों के अनुसार किया जाना चाहिए। वर्गीकरण का अर्थ यह नहीं है कि जब कार्यक्रम बनाया जाए तो मूलविषय अलग-अलग कोटियों से संबंधित नज़र

आएं। इसका अर्थ केवल यह है कि वे समाजविज्ञान की जिस शाखा से संबंधित हैं, वह उन पर विशेष रूप से ध्यान दे। उदाहरण के लिए, विकास का मूलविषय अर्थशास्त्र से विशेष रूप से संबंधित होते हुए भी केवल अर्थशास्त्र से संबंधित नहीं है। इस मूलविषय पर समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और सामजिक मनोविज्ञान द्वारा भी ध्यान दिया जाएगा (ये क्षेत्र सांस्कृतिक परिवर्तन और मूल्यों तथा दृष्टिकोणों में होने वाले बदलाव के प्रश्नों से जुड़े हैं और ये प्रश्न विकास के दर्शन के लिए भी समान रूप से प्रासंगिक हैं)। विकास का संबंध राजनीतिविज्ञान (जो विकास संबंधी निर्णयों का क्षेत्र है) और शिक्षा आदि से भी है। अतः इस पर राजनीतिविज्ञान और शिक्षाशास्त्र द्वारा भी ध्यान दिया जाएगा। इस प्रकार मूलविषयों को संकुचित दृष्टि से कभी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि उनकी तो विशेषता ही संपूर्णता है। यह तो सचमुच बड़ा ही दयनीय होगा कि जिन मूलविषयों का अनुसंधान यथार्थ के विभिन्न आयामों के अंतर्वेशन की पूरी समृद्धि में किया गया हो, उनके साथ बाद में ऐसा बरताव किया जाए कि उनकी समृद्धि (और इस प्रकार उनकी शक्ति भी) विशिष्टताओं की अतिनियमनिष्ठता के नाम पर नष्ट हो जाए।

मूलविषयों का सीमांकन हो जाने पर प्रत्येक विशेषज्ञ अंतर्विषयी टीम के समक्ष अपने मूलविषय के 'विश्लेषण' (ब्रेक डाउन) के लिए एक परियोजना प्रस्तुत करता है। इसके जरिए विशेषज्ञ मूलविषय के उन आधारभूत नाभिकों की तलाश करता है, जिनमें 'अधिगम इकाइयां' होती हैं। ये नाभिक पूर्वापर क्रम बना कर मूलविषय का एक व्यापक चित्र प्रस्तुत करते हैं। जब किसी परियोजना पर चर्चा की जाती है, दूसरे विशेषज्ञ उस पर अपनी राय और सुझाव देते हैं। ये सुझाव परियोजना में और/या उन संक्षिप्त निबंधों में शामिल किए जा सकते हैं, जो मूलविषय पर लिखे जाने होते हैं। इन निबंधों में संदर्भ-संकेत भी जोड़े जाते हैं। ये निबंध उन शिक्षक-छात्रों के प्रशिक्षण के लिए, जिनको 'संस्कृति मंडलों' में काम करना होता है, बड़ी मूल्यवान सामग्री होते हैं।

अर्थपूर्ण मूलविषयों के विश्लेषण के इस प्रयास के दौरान टीम कुछ ऐसे मूलविषयों को शामिल करने की ज़रूरत महसूस करेगी, जो पहले के अनुसंधान में सीधे जनता द्वारा नहीं सुझाए गए हैं, लेकिन आधारभूत हैं। ऐसे मूलविषयों को शामिल करना आवश्यक सिद्ध हुआ है और यह शिक्षा के संवादात्मक चरित्र से मेल भी खाता है। यदि शैक्षिक कार्यक्रमों का निर्माण संवादात्मक है तो शिक्षक-छात्रों को भी उन मूलविषयों को शामिल करने का अधिकार है, जो पहले नहीं सुझाए गए हैं। मैं इस प्रकार के मूलविषयों को 'क़ब्ज़ेदार मूलविषय' कहता हूं, क्योंकि इनका काम वही है, जो किवाड़ में चूल या क़ब्ज़े का होता है। वे या तो दो मूलविषयों को जोड़ने का काम करते हैं, ताकि दोनों के बीच की छूटी हुई

ख़ाली जगह भर जाए, या वे सामान्य कार्यक्रम की अंतर्वस्तु और जनता की विश्वदृष्टि के बीच के संबंध का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। अतः इनमें से किसी मूलविषय को मूलविषयी इकाइयों के आरंभ में रखा जा सकता है।

इन क़ब्ज़ेदार मूलविषयों में से एक है संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा। यह मूलविषय विश्व में और विश्व के साथ मनुष्यों की भूमिका को इस रूप में स्पष्ट करता है कि मनुष्य अनुकूलित होने वाले प्राणी नहीं, बल्कि रूपांतरण करने वाले प्राणी हैं।[30]

जब मूलविषयों के विश्लेषण का काम पूरा हो जाता है,[31] तब उनके 'कोडीकरण' की अवस्था आती है, जिसमें प्रत्येक मूलविषय तथा उसके निरूपण के लिए संप्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम चुना जाता है। कोडीकरण सरल या जटिल कैसा भी हो सकता है। सरल कोडीकरण में या तो दृश्य (चित्रात्मक या लेखाचित्रीय) और स्पृश्य माध्यमों का उपयोग किया जाता है, या श्रव्य माध्यम का, जिसमें विविध प्रकार के माध्यम होते हैं।[32] चित्रात्मक या लेखाचित्रीय माध्यम का चयन कोडीकृत सामग्री पर ही नहीं, इस पर भी निर्भर करता है कि जिन व्यक्तियों के साथ संप्रेषण किया जाना है, वे शिक्षित हैं या अशिक्षित।

मूलविषयों का कोडीकरण हो जाने के बाद, शिक्षा के लिए सहायक सामग्री (फ़ोटोग्राफ़, स्लाइडें, फ़िल्म-पट्टियां, पोस्टर, पठन-सामग्री आदि) तैयार की जाती है। टीम कुछ मूलविषयों को या उनके कुछ पक्षों को बाहर के विशेषज्ञों के पास भेज कर उनसे संबंधित उनके साक्षात्कार भी रिकॉर्ड करा सकती है।

उदाहरण के लिए विकास के मूलविषय को लें। टीम भिन्न-भिन्न चिंतन प्रणालियों वाले दो या दो से अधिक अर्थशास्त्रियों से संपर्क करती है, उन्हें कार्यक्रम के बारे में बताती है, उन्हें साक्षात्कार के लिए आमंत्रित करती है, और उनसे अनुरोध करती है कि वे ऐसी भाषा में बोलें, जो श्रोताओं की समझ में आ जाए। विशेषज्ञ अनुरोध स्वीकार कर लेते हैं तो पंद्रह-बीस मिनट का साक्षात्कार टेप कर लिया जाता है। विशेषज्ञ जब बोल रहे हों तो उनमें से प्रत्येक का फ़ोटो भी लिया जा सकता है।

जब टेप किया हुआ साक्षात्कार संस्कृति मंडल के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो प्रत्येक वक्ता के बारे में एक परिचयात्मक वक्तव्य दिया जाता है कि वह कौन है, उसने क्या लिखा है, क्या किया है और आजकल वह क्या कर रहा है; इस बीच उसका फ़ोटो परदे पर प्रक्षेपित किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि वक्ता विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर है, तो उसके परिचय के दौरान यह चर्चा की जा सकती है कि सहभागी विश्वविद्यालयों के बारे में क्या सोचते हैं और उनसे क्या अपेक्षाएं करते हैं। समूह को पहले से ही बता दिया जाता है कि रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार के बाद उसकी विषयवस्तु पर चर्चा की जाएगी। (अर्थात् यह साक्षात्कार

एक श्रव्य कोडीकरण का काम करेगा।) चर्चा में सहभागियों की जो प्रतिक्रियाएं होंगी, टीम उनकी रपट विशेषज्ञ के पास भेजेगी। इस तकनीक से वे बुद्धिजीवी भी जनता और यथार्थ से जुड़ जाते हैं, जो सदाशयी होते हुए भी प्रायः उससे कटे हुए रहते हैं। इससे जनता को भी बुद्धिजीवियों के विचार सुनने का तथा उनकी आलोचना करने का अवसर मिलता है।

कुछ मूलविषयों को अथवा उनके नाभिकों को संक्षिप्त नाटकों का रूप देकर भी प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन उनमें केवल मूलविषय ही रहना चाहिए—कोई 'समाधान' नहीं ! यह नाटकीकरण एक समस्या-उठाऊ स्थिति के रूप में, जिस पर चर्चा की जानी है, एक कोडीकरण का काम करता है।

एक और शिक्षात्मक साधन (पर शर्त यह है कि इसका उपयोग समस्या-उठाऊ पद्धति से ही किया जाए, शिक्षा की बैंकीय पद्धति से नहीं) यह है कि पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, अख़बार और पुस्तकों के अध्याय (आरंभ में अध्यायों के कुछ अंश) पढ़े जाएं और उन पर चर्चा हो। जैसा कि रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार के मामले में बताया गया है, आरंभ में लेखक का परिचय दिया जाए और बाद में लेख की अंतर्वस्तु पर चर्चा की जाए।

इसी प्रकार अख़बारों के संपादकीय टिप्पणियों की अंतर्वस्तु का विश्लेषण अपरिहार्य है। किसी घटना के बाद लिखे गए अख़बारों के संपादकीय पढ़ कर सुनाने के बाद यह प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि "अलग-अलग अख़बार एक ही तथ्य की ऐसी अलग-अलग व्याख्याएं क्यों करते हैं ?" इससे जनता की आलोचनात्मक समझ के विकास में सहायता मिल सकती है। यह काम इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए कि लोग स्वयं को निष्क्रिय वस्तुओं के रूप में और अख़बारों तथा समाचार-प्रसारणों को अपने लिए जारी की गई 'विज्ञप्तियों' के रूप में देखना बंद कर दें और उनके प्रति ऐसी चेतनाओं के रूप में प्रतिक्रिया करें, जो मुक्त होना चाहती हैं।

शिक्षात्मक सामग्री (सहायक सामग्री) के साथ छोटी-छोटी परिचयात्मक नियम-पुस्तिकाएं भी होनी चाहिएं, जिनमें सामग्री के उपयोग की विधियां बताई जाती हैं। इस प्रकार सारी सामग्री तैयार हो जाने पर शिक्षकों की टीम जनता के सामने उसके अपने ही मूलविषयों को व्यववस्थित और विस्तृत रूप में पुनर्प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो जाती है। जनता से आने वाले मूलविषय पुनः जनता के पास जाते हैं तो ऐसी अंतर्वस्तुओं के रूप में नहीं, जो 'जमा' की जानी हैं, बल्कि समस्याओं के रूप में, जिन्हें हल किया जाना है।

बुनियादी शिक्षा वाले शिक्षकों का पहला काम है शैक्षिक अभियान के सामान्य कार्यक्रम को प्रस्तुत करना। जनता को यह कार्यक्रम बेगाना नहीं, अपना लगेगा। वह उसमें स्वयं को पाएगी, क्योंकि उसकी शुरूआत जनता से ही हुई थी।

शिक्षक (शिक्षा के संवादात्मक चरित्र के आधार पर) कार्यक्रम के 'क़ब्ज़ेदार मूलविषयों' की उपस्थिति को तथा उनके महत्व को स्पष्ट करेंगे।

यदि शिक्षकों के पास प्रारंभिक मूलविषय से संबंधित अनुसंधान, जैसे ऊपर बताया गया है वैसे, करने के लिए पर्याप्त कोश (धन) न हो तो वे स्थिति की न्यूनतम जानकारी के साथ भी कुछ बुनियादी मूलविषय चुन सकते हैं, जो 'अनुसंधान के कोडीकरणों' का काम करेंगे। तदनुसार, वे परिचयात्मक मूलविषयों से काम शुरू कर सकते हैं और साथ-साथ मूलविषय से संबंधित अनुसंधान की शुरूआत भी कर सकते हैं।

इन बुनियादी मूलविषयों में से एक (जिसे मैं केंद्रीय तथा अपरिहार्य मानता हूं) संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा है। मनुष्य किसान हों या शहरी मज़दूर, पढ़ना सीख रहे हों या उत्तर-साक्षरता कार्यक्रम में भाग ले रहे हों, और अधिक जानने की उनकी चेष्टा का प्रस्थान-बिंदु (शब्द के कारक अर्थ में) अवधारणा संबंधी वाद-विवाद होना चाहिए। जब वे सांस्कृतिक जगत की चर्चा करते हैं, वे अपने यथार्थ-बोध के स्तर को सामने लाते हैं, जिसमें अनेक प्रकार के मूलविषय अंतर्निहित रहते हैं। उनकी चर्चा यथार्थ के अन्य पक्षों को भी छूती है। इससे यथार्थ उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक रूप में दिखाई पड़ने लगता है। पुनः यथार्थ के ये पक्ष भी बहुत-से दूसरे मूलविषयों से संबंधित होते हैं।

अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि यदि संस्कृति की अवधारणा की चर्चा कल्पनाशील ढंग से उसके सभी या अधिकतम आयामों में की जाए तो उससे शैक्षिक कार्यक्रम के बहुत-से पहलू सामने आ सकते हैं। इसके अलावा संस्कृति मंडल के सहभागियों के साथ कई दिनों के संवाद के बाद शिक्षक सहभागियों से सीधे ही पूछ सकता है कि "इन विषयों अथवा मूलविषयों के अलावा हम और किन विषयों अथवा मूलविषयों पर चर्चा कर सकते हैं ?" प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का जो उत्तर देता है, उसे नोट कर लिया जाता है और तुरंत उसे एक समस्या के रूप में समूह के सामने प्रस्तुत कर दिया जाता है।

उदाहरण के लिए, समूह का एक सदस्य कह सकता है : "मैं राष्ट्रवाद पर चर्चा करना चाहूंगा।" शिक्षक उसका सुझाव नोट करते हुए कहता है, "बहुत अच्छा, लेकिन राष्ट्रवाद का अर्थ क्या है ? राष्ट्रवाद पर चर्चा करने में हमारी क्या रुचि हो सकती है ?" मेरा अनुभव बताता है कि जब समूह के सामने किसी सुझाव को समस्या के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, नए मूलविषय निकल आते हैं। मान लीजिए, किसी क्षेत्र में एक ही रात को तीस संस्कृति मंडलों की बैठकें होती हैं और सभी समन्वयक (शिक्षक) इसी तरीक़े से चर्चा चलाते हैं, तो कल्पना कीजिए, केंद्रीय टीम को अध्ययन के लिए कितने विपुल परिमाण में और विविध प्रकार की मूलविषय से संबद्ध सामग्री मिलेगी !

मुक्तिदाई शिक्षा के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण चीज़ यह है कि मनुष्य अपने तथा अपने साथियों के सुझावों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से व्यक्त होने वाले अपने विश्व संबंधी विचारों तथा दृष्टिकोणों की चर्चा करें और इसके जरिए यह महसूस करें कि यह चिंतन उनका ही है। चूंकि शिक्षा संबंधी यह दृष्टिकोण इस दृढ़ धारणा से आरंभ होता है कि यह स्वयं अपना कोई कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं कर सकता, बल्कि उसे इस कार्यक्रम की तलाश जनता के साथ संवादात्मक रूप से करनी चाहिए, इसलिए यह उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र का परिचय कराने का काम करता है, जिसके विकास में उत्पीड़ितों को अवश्य ही सहभागी होना चाहिए।

टिप्पणियां

1. कर्म } शब्द=कर्म=आचरण
   चिंतन }
   कर्म का त्याग=शब्दाडंबर
   चिंतन का त्याग=सक्रियतावाद
2. इनमें से कुछ विचार प्रोफ़ेसर अर्नानी मारिया फियोरी से बातचीत करने के फलस्वरूप उभरे।
3. स्पष्ट है कि मैं गंभीर विचारमग्नता वाली उस ख़ामोशी की बात नहीं कर रहा हूं, जिसमें मनुष्य विश्व पर संपूर्णता में विचार करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से तो विश्व के परे चले जाते हैं, लेकिन ऐसा करते समय वे वास्तव में विश्व के अंदर ही रहते हैं। लेकिन इस प्रकार विश्व से परे जाना तभी प्रामाणिक होगा, जब विचारक यथार्थ में 'नहाया' रहे, तब नहीं जब यह विश्व के प्रति घृणा या उससे पलायन हो। वह तो एक प्रकार की 'ऐतिहासिक विभक्तमनस्कता' है।
4. मेरा यह विश्वास दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है कि क्रांति चूंकि एक सृजनात्मक और मुक्तिदाई कर्म है, इसलिए क्रांतिकारियों को उसे प्रेम का कर्म ही समझना चाहिए। मेरे लिए क्रांति, जो क्रांति के एक सिद्धांत के बिना संभव नहीं है, और इसलिए वह एक विज्ञान है, प्रेम-विरोधी नहीं है। इसके विपरीत, क्रांति मनुष्यों द्वारा अपने मानुषीकरण के लिए की जाती है। वास्तव में, मनुष्य के अमानुषीकरण के अलावा और कौन-सी चीज़ है, जो लोगों को इतनी गहराई से प्रभावित करे कि वे उसे मिटाने के लिए क्रांतिकारी बन जाएं ? पूंजीवादी विश्व ने 'प्रेम' शब्द पर जो विकृति थोप दी है, वह न तो क्रांति को अपने चरित्र में सारतः प्रेममय होने से रोक सकती है और न ही क्रांतिकारियों को जीवन से प्रेम करने से रोक सकती है। चे गुएवारा ने (यह कहते हुए भी कि "भले ही मुझे हास्यास्पद माना जाए") जीवन से प्रेम करने की बात को निर्भय होकर स्वीकार किया है—"भले ही मुझे हास्यास्पद माना जाए, मैं यह कहना चाहता हूं कि सच्चा क्रांतिकारी प्रेम की सशक्त भावनाओं से प्रेरित होता है। इस गुण के बिना कोई प्रामाणिक क्रांतिकारी हो सकता है, ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता।"
5. एक मित्र के पत्र से।
6. आंद्रे मालरो ने 'एंटी मैमायर्स' में लिखा है कि उनके साथ एक लंबी बातचीत में माओ-त्से-तुंग ने कहा था, "आप जानते हैं, मैं लंबे समय से एक बात कहता आ रहा हूं : हमें जनता को वह सब स्पष्ट रूप से पढ़ाना चाहिए, जो हमें अस्पष्ट रूप से पढ़ाया गया है।" इस बात में

एक समूचा संवादात्मक सिद्धांत–कि शिक्षा के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु कैसे निर्मित होनी चाहिए–निहित है, जिसकी व्याख्या इस आधार पर नहीं की जा सकती कि *शिक्षक* के विचार से *उसके* छात्रों के लिए क्या चीज़ सबसे ठीक रहेगी।

7. किसान, जो आमतौर पर औपनिवेशिक संदर्भ से उभर नहीं पाते, प्राकृतिक जगत से ऐसे नाभिनालबद्ध रूप में जुड़े रहते हैं कि स्वयं को उसे रूपाकार प्रदान करने वाला समझने के बजाए उसका अभिन्न अंग समझते हैं।
8. माओ-त्से-तुंग ने लिखा है–"हमारे सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को जनता की सेवा पूरे उत्साह और लगन से करनी चाहिए, और उन्हें जनता से कटना नहीं, बल्कि जुड़ना चाहिए। ऐसा करने के लिए उन्हें जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार काम करना चाहिए। जनता के लिए किए जाने वाले सभी काम उसकी ज़रूरतों से शुरू होने चाहिएं, किसी व्यक्ति की इच्छा से नहीं, चाहे उसके इरादे कितने ही नेक हों। अक्सर ऐसा होता है कि जनता को वस्तुपरक ढंग से तो किसी परिवर्तन की आवश्यकता होती है किंतु आत्मपरक ढंग से वह उसके बारे में सचेत नहीं होती। अर्थात् अभी उसमें उस परिवर्तन की इच्छा या उसे कर डालने का निश्चय नहीं होता। ऐसे मामले में हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए। जब तक ज़्यादातर लोग, हमारे द्वारा किए गए कार्य से, उस आवश्यकता के प्रति सचेत न हो जाएं और उस परिवर्तन की कामना करते हुए उसे कर डालने का निश्चय न कर लें, तब तक हमें वह परिवर्तन नहीं करना चाहिए। अन्यथा हम जनता से कट जाएंगे। ऐसी स्थिति के लिए दो सिद्धांत हैं : एक यह कि जनता की वास्तविक ज़रूरतें क्या हैं, यह नहीं कि हमारी कल्पना के अनुसार उनके लिए क्या ज़रूरी है; और दूसरा यह कि उन लोगों की इच्छा क्या है, जिन्हें निश्चय करना है, यह नहीं कि हम उन्हें बताएं कि उन्हें क्या निश्चय करना है।"
9. चौथे अध्याय में इस पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।
10. सच्चे मानववादी बैंकीय पद्धति का उपयोग करें, यह उतना ही आत्मविरोधी है, जितना यह कि दक्षिणपंथी लोग समस्या-उठाऊ शिक्षा का उपयोग करें। (वैसे दक्षिणपंथी हमेशा संगत होते हैं–वे समस्या-उठाऊ शिक्षा का उपयोग कभी नहीं करते।)
11. पुस्तक में 'अर्थपूर्ण मूलविषय' का प्रयोग भी इसी अर्थ में किया गया है।
12. अंग्रेज़ी भाषा में 'लिव' (जीवित रहना) और 'एक्ज़िस्ट' (अस्तित्ववान होना) अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थों से विपरीत अर्थ ग्रहण कर चुके हैं। यहां प्रयुक्त 'लिव' ज़्यादा बुनियादी शब्द है, जिसका अर्थ सिर्फ़ ज़िंदा रहना है; 'एक्ज़िस्ट' का अर्थ है 'बिकमिंग' (संभवन) से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होना।
13. प्रोफ़ेसर अल्वारो वायीरा पिंटो ने 'प्रतिबंधक स्थितियों' की समस्या का विश्लेषण बड़ी स्पष्टता के साथ किया है। वे इस अवधारणा को कार्ल जास्पर्स की मूल निराशावादी अवधारणा की तरह इस्तेमाल नहीं करते। वायीरा पिंटो के लिए 'प्रतिबंधक स्थितियां' वे 'अलंघ्य चौहद्दियां' नहीं हैं, जहां 'संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं'। उनके लिए ये स्थितियां 'वास्तविक चौहद्दियां' हैं, जहां से आगे समस्त संभावनाएं शुरू होती हैं'। उनके लिए ये स्थितियां वह 'सीमांत' नहीं है, 'जो अस्तित्व को अनस्तित्व से अलग करता है', बल्कि 'वह सीमांत है, जो अस्तित्व को अधिक अस्तित्व से अलग करता है।"
14. इस संबंध में कारेल कोसिक की पुस्तक 'डायलेक्टिका डि लो कोंक्रेटो' देखें।
15. ऐतिहासिक युगों के प्रश्न पर हांस फ्रेयर की पुस्तक 'टियोरिया डे ला एपोका एक्चुअल' देखें।
16. मैं इन्हें 'जननशील मूलविषय' कहता हूं, क्योंकि (ये चाहे किसी भी तरह समझे जाएं और चाहे किसी भी तरह के कर्म की मांग करें) इनसे पुनः अनेक मूलविषयों के सामने आने की संभावना

रहती है, जो पुनः नए कार्यभारों को पूरा करने की आवश्यकता उत्पन्न करते हैं।

17. मध्यवर्गीय व्यक्तियों में इस प्रकार का व्यवहार अवसर दिखाई देता है, गोकि वह किसान के ऐसे व्यवहार से भिन्न रूप में सामने आता है। उनका 'स्वतंत्रता का भय' ऐसी प्रतिरक्षा-प्रणालियां और तर्क-शृंखलाएं खड़ी कर लेता है, जो आधारभूत चीज़ों को छिपाती हैं, आकस्मिक चीज़ों पर ज़ोर देती हैं, और ठोस यथार्थ को नकारती हैं। किसी ऐसी समस्या का सामना होने पर, जिसका विश्लेषण एक प्रतिबंधक-स्थिति का बोध करा सकता है, उनकी प्रवृत्ति बहस में परिधि पर रहने की और समस्या की तह तक पहुंचने के किसी भी प्रयास को रोकने की होती है। यदि कोई उन बातों को, जिन्हें वे प्राथमिक महत्व दे रहे हों, आकस्मिक या गौण सिद्ध करने वाली आधारभूत चीज़ की तरफ़ इशारा करें, तो भी वे चिढ़ जाते हैं।
18. किसी अस्तित्वगत स्थिति का कोडन उसका ऐसा निरूपण है, जो उसके कुछ संघटक तत्वों को परस्पर क्रिया करते हुए दिखाता है। अवकोडन कोडित स्थिति का आलोचनात्मक विश्लेषण है।
19. अंग्रेज़ी में 'नो मैन्स लैंड', जिसका अर्थ होता है 'लावारिस ज़मीन' या 'दो सेनाओं के बीच का ख़ाली मैदान'।—अनुवादक
20. 'जननशील शब्द' के प्रयोग और अनुसंधान के बारे में देखिए मेरी पुस्तक 'एडुकाकाओ कोमो प्रेटिका डा लिबर्डाडे'।
21. ब्राज़ीली समाजशास्त्री मारिया एडी फरेरा (की एक अप्रकाशित पुस्तक) के अनुसार मूलविषयों के अनुसंधान का औचित्य इसी में है कि वह लोगों को वह चीज़ लौटा दे, जो वास्तव में उनकी अपनी चीज़ है; उसका औचित्य इसी में है कि जनता के बारे में जानने का प्रयास नहीं, बल्कि उसके साथ मिल कर उस यथार्थ को जानने का प्रयास है, जो उसे चुनौती दे रहा है।
22. ब्राज़ीली उपन्यासकार गिमारेज़ रोज़ा इस चीज़ के बढ़िया उदाहरण हैं कि एक लेखक प्रामाणिकता को कैसे पकड़ता है। वे लोगों की भाषा में उच्चारण के दोष या व्याकरण की ग़लतियां नहीं दिखाते, बल्कि उनकी वाक्य रचना के जरिए उनके विचार की संरचना को सामने लाते हैं। दरअसल, गिमारेज़ रोज़ा ब्राज़ील के भीतरी भागों में रहने वाले लोगों के 'अर्थपूर्ण मूलविषयों' के सर्वोत्कृष्ट अनुसंधाता थे। (यह बात एक लेखक के रूप में उनके असाधारण महत्व को घटाने के लिए नहीं कही जा रही है।) प्रोफ़ेसर पॉलो डि टार्सो आजकल 'ग्रांडे सेर्टाओ—वेरेडास' (अंग्रेज़ी अनुवाद में 'दि डैविल टु पे इन दि बैकलैंड्स') के लेखक (रोज़ा) की रचनाओं के इस पक्ष का, जिस पर अभी कम ही विचार हुआ है, विश्लेषण करने वाला एक निबंध तैयार कर रहे हैं।
23. कोडीकरण मौखिक भी हो सकता है। इसमें किसी अस्तित्वगत समस्या को प्रस्तुत करने वाले कुछ शब्द कोड के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और फिर इस कोड का अवकोडन किया जाता है। चिली में इंस्टीट्यूट फ़ॉर एग्रेरियन डेवलपमेंट ने मूलविषयों के अनुसंधान में इस पद्धति का उपयोग सफलतापूर्वक किया है।
24. यह सुझाव जोसे लुई फियोरी ने अपनी एक अप्रकाशित पांडुलिपि में दिया है।
25. कुछ समय पहले तक 'इनडाप' के निदेशक थे अर्थशास्त्री और प्रामाणिक मानववादी जैकस चोंचोल।
26. ये कोडीकरण फियोरी की परिभाषा के अनुसार 'समावेशी' नहीं थे।
27. प्रत्येक 'अनुसंधान मंडल' में अधिक से अधिक बीस व्यक्ति होने चाहिएं। अध्ययनांतर्गत क्षेत्र या उपक्षेत्र की जनसंख्या के दस प्रतिशत लोगों को सहभागी बनाने के लिए जितने मंडलों की आवश्यकता हो, उतने मंडल बनाए जाने चाहिएं।
28. बाद में विश्लेषण करने के लिए की जाने वाली इन बैठकों में क्षेत्र के उन स्वयंसेवकों को, जिन्होंने अनुसंधान में सहायता की थी, और कुछ 'मूलविषयी अनुसंधान मंडलों' के सहभागियों को भी

शामिल किया जाना चाहिए। वे विश्लेषण में योगदान करें, यह उनका अधिकार तो है ही, विशेषज्ञों द्वारा किए जाने वाले विश्लेषण में अपरिहार्य रूप से सहायक भी है। विशेषज्ञों के सह-अनुसंधाताओं के रूप में वे अनुसंधान से प्राप्त परिणामों की विशेषज्ञों द्वारा की गई व्याख्या को सुधारने और या अभिपुष्ट करने का काम करेंगे। पद्धति की दृष्टि से उनकी सहभागिता अनुसंधान को (जो आरंभ से ही 'सहानुभूतिपूर्ण' संबंध पर आधारित है) ग़लतियों से बचाने का एक अतिरिक्त उपाय बन जाती है। यह इस तरह कि कार्यक्रम की अंतर्वस्तु के संगठन में आरंभ से अंत तक, अर्थात् मूलविषयों के विश्लेषण वाली अंतिम अवस्था तक, जनता के प्रतिनिधियों की आलोचनात्मक उपस्थिति शैक्षिक कर्म को मुक्तिदाई सांस्कतिक कर्म बना देती है।

29. मनोचिकित्सक पैट्रिसियो लोपेज, जिनके कार्य का विवरण 'एडुकाकाओ कोमो प्रैटिका डा लिबर्डाडे' में दिया गया है।

30. संस्कृति के मानववैज्ञानिक विश्लेषण के महत्व के संबंध में देखिए 'एडुकाकाओ कोमा प्रैटिका डा लिबर्डाडे'।

31. यह ध्यान रखना चाहिए कि समूचा कार्यक्रम एक संपूर्णता है और ऐसी अंतःसंबंधित इकाइयों से मिल कर बनता है, जो अपने-आप में भी संपूर्ण होती हैं।
मूलविषय स्वयं में ही संपूर्ण होते हैं, लेकिन अंतःसंबंधित रूप में वे कार्यक्रम की अंतर मूलविषयी इकाइयां भी होते हैं।
मूलविषय के विश्लेषण में समस्त मूलविषयों की चीरफाड़ करके उनके नाभिकों का पता लगाया जाता है, जो कार्यक्रम के आंशिक तत्व होते हैं।
कोडीकरण की प्रक्रिया में अलग-अलग विखंडित मूलविषयों को अस्तित्वगत स्थितियों के निरूपण में पुनः जोड़ कर संपूर्ण बनाया जाता है।
अवकोडीकरण में कोडीकरणों में निहित मूलविषय या मूलविषयों को समझने के लिए कोडीकरणों की चीरफाड़ की जाती है। लेकिन अवकोडीकरण की प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हो जाती। विश्लेषित संपूर्ण को पुनः जोड़ कर संपूर्ण बनाया जाता है, जो अब अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आता है। (इसी तरह कोडित स्थितियों से, जिनमें अस्तित्वगत स्थितियां निरूपित की जाती हैं, उनके संबंध भी अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आते हैं।)

32. कोडीकरण

(क) सरल

दृश्य माध्यम

चित्रात्मक

लेखाचित्रीय

स्पृश्य माध्यम

श्रव्य माध्यम

(ख) जटिल

एक साथ सभी माध्यमों का उपयोग।

चौथा प्रकरण

इस प्रकरण में सांस्कृतिक कर्म की संवादात्मक और संवाद-विरोधी प्रक्रियाओं में ढलकर विकसित होने वाले सिद्धांतों का विश्लेषण किया गया है। इसमें पहले के प्रकरणों में कही गई बातों के संदर्भ—या तो उनका विस्तार करने के लिए, या कुछ नई बातें कहने के लिए—बार-बार आएंगे।

आरंभ में ही मैं इस बात को दोहरा दूं कि मनुष्य आचरण करने वाले प्राणी होने के कारण पशुओं से भिन्न हैं। पशु शुद्ध गतिविधि वाले प्राणी हैं। वे विश्व पर विचार नहीं करते, क्योंकि वे उसमें डूबे रहते हैं। उनके मुक़ाबले मनुष्य विश्व में से उभर कर उस पर विचार करने वाले प्राणी हैं। वे विश्व को वस्तुपरक बनाते हैं और ऐसा करते हुए वे उसे समझ सकते हैं तथा अपने श्रम से उसका रूपांतरण कर सकते हैं।

पशु श्रम नहीं करते, इसलिए वे जिस परिवेश में जीते हैं, उसके परे नहीं जा सकते। अतः पशुओं की प्रत्येक प्रजाति केवल अपने लिए उपयुक्त संदर्भ में जीती है। ये संदर्भ मनुष्यों के लिए तो खुले हुए होते हैं, लेकिन पशुओं के लिए अपने-आप में बंद होते हैं, इसलिए उनमें संप्रेषण नहीं हो सकता।

लेकिन मनुष्यों की गतिविधि कर्म और चिंतन से मिल कर बनती है। वह आचरण होती है; विश्व का रूपांतरण होती है। और आचरण के रूप में उसे दीपित करने वाला कोई सिद्धांत उसके लिए आवश्यक होता है। अतः मनुष्यों की गतिविधि सिद्धांत और कर्म है; चिंतन और कर्म है। इसे, जैसा कि मैंने दूसरे प्रकरण में ज़ोर देकर कहा है, न तो शब्दाडंबर में सीमित किया जा सकता है, न सक्रियतावाद में।

लेनिन की प्रसिद्ध उक्ति है—"क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना कोई क्रांतिकारी आंदोलन संभव नहीं।" इसका अर्थ यह है कि क्रांति न तो शब्दाडंबर से होती है, न सक्रियतावाद से। क्रांति होती है आचरण से। अर्थात् उन संरचनाओं पर किए गए *चिंतन* और *कर्म* से, जिनका रूपांतरण किया जाना है। इन संरचनाओं के रूपांतरण का क्रांतिकारी प्रयास यदि आमूल-परिवर्तनवादी है, तो उसमें यह नहीं हो सकता कि उसके नेता तो उसके चिंतक हों और उत्पीड़ित लोग महज उसके *कार्यकर्ता*।

क्रांति के लिए जनता से सच्ची प्रतिबद्धता आवश्यक है। प्रतिबद्धता में उस यथार्थ का रूपांतरण शामिल है, जो जनता को उत्पीड़ित करता है। इसके लिए रूपांतरकारी कर्म का एक सिद्धांत आवश्यक है। वह सिद्धांत रूपांतरकारी प्रक्रिया में जनता को एक आधारभूत भूमिका सौंपे बिना नहीं रह सकता। नेता उत्पीड़ितों को महज कार्यकर्ता मान कर नहीं चल सकते, जिन्हें चिंतन का अवसर नहीं दिया जाना है और केवल कर्म करने के भ्रम में रहने की इजाज़त दी जानी है। इस तरह तो वास्तव में उत्पीड़ितों के साथ चालबाज़ी ही होती रहेगी—और इस मामले में वह उनके द्वारा की जाएगी, जो चालबाज़ी के शत्रु माने जाते हैं।

नेताओं पर समन्वयन की—और कभी-कभी दिशा देने की भी—ज़िम्मेदारी होती है, लेकिन जो नेता उत्पीड़ितों को आचरण नहीं करने देते, वे ऐसा करके अपने आचरण को भी अवैध बना लेते हैं। अपना शब्द दूसरों पर थोपकर वे उस शब्द को झूठा बना देते हैं तथा अपनी पद्धति और अपने उद्देश्यों में एक अंतर्विरोध क़ायम कर लेते हैं। यदि वे मुक्ति से सचमुच प्रतिबद्ध हैं तो उनका चिंतन और कर्म दूसरों के चिंतन और कर्म के बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

क्रांतिकारी आचरण के लिए आवश्यक है कि वह प्रभुत्वशाली अभिजनों के आचरण के विरोध में खड़ा हो, क्योंकि ये दोनों प्रकार के आचरण स्वभावतः विरोधात्मक हैं। क्रांतिकारी आचरण उस ऊलजलूल द्विभाजन को सहन नहीं कर सकता, जिसमें जनता के आचरण को महज नेताओं के निर्णयों का अनुसरण करने वाला बना दिया जाता है। यह द्विभाजन प्रभुत्वशाली अभिजनों की निर्देशात्मक पद्धतियों को ही व्यक्त करता है। क्रांतिकारी आचरण तो एकता है, और नेतागण स्वयं को उत्पीड़ितों का स्वामी नहीं मान सकते।

चालबाज़ी करने, नारेबाज़ी करने, 'जमा' करने, निर्देश करने, और कठोर अनुशासन लागू करने से क्रांतिकारी आचरण नहीं बनता, क्योंकि इनसे तो प्रभुत्व का आचरण बनता है। प्रभु वर्ग जनता पर शासन करने के लिए जनता को सच्चा आचरण नहीं करने देता। यह उसकी विवशता होती है कि वह जनता को अपना शब्द न बोलने दे, उसे अपना चिंतन न करने दे। वह संवादात्मक ढंग से काम कर ही नहीं सकता। उसके लिए ऐसा करने का मतलब होगा कि या तो उसने शासन-सत्ता को त्याग दिया है और उत्पीड़ितों के उद्देश्य को उचित मान कर उनके साथ आ गया है, या यह कि उसका हिसाब गड़बड़ा गया है, जिससे वह अपनी उस सत्ता को खो बैठा है।

विलोमतः जो क्रांतिकारी नेता जनता के साथ अपने संबंधों में संवादात्मक नहीं होते, वे या तो अभी तक प्रभु वर्ग की चारित्रिक विशेषताओं को अपनाए हुए हैं और वास्तव में क्रांतिकारी नहीं हैं; या अपनी भूमिका के बारे में उनकी समझ गड़बड़ है और—अपने संकीर्णतावाद के क़ैदी होने के कारण—प्रभु वर्ग के ही समान

वे भी क्रांतिकारी नहीं हैं। वे सत्ता तक भी पहुंच सकते हैं, लेकिन उनके संवादविरोधी कर्म से होने वाली क्रांति की वैधता पूरी तरह संदिग्ध होगी।

यह नितांत आवश्यक है कि उत्पीड़ित लोग रूपांतरण के *कर्ताओं* के रूप में अपनी भूमिका से उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक रूप में अवगत होते हुए क्रांतिकारी प्रक्रिया में सहभागी हों। यदि वे उस प्रक्रिया में संदिग्ध प्राणियों के रूप में आते हैं, अर्थात् आंशिक रूप से वे स्वयं होते हैं और आंशिक रूप से वह उत्पीड़क, जो उनके भीतर बैठा रहता है—और यदि वे उत्पीड़न की स्थिति द्वारा उन पर थोप दी गई इसी संदिग्धता के साथ सत्ता में आ जाते हैं—तो मेरे विचार से यह महज उनकी *कल्पना* ही होगी कि उन्होंने सत्ता प्राप्त कर ली है।[1] यहां तक कि उनका अस्तित्वगत द्वैत संकीर्णतावाद का वातावरण बनाने में भी सहायक हो सकता है, जिससे क्रांति की जड़ खोदने वाली नौकरशाही स्थापित होती है। यदि उत्पीड़ित लोग क्रांतिकारी प्रक्रिया के दौरान इस संदिग्धता से अवगत नहीं होते तो वे उस प्रक्रिया में क्रांतिकारियों के रूप में कम और बदला लेने वालों के रूप में अधिक सहभागी होंगे।[2] वे क्रांति की अभिलाषा मुक्ति के मार्ग के रूप में न करके प्रभुत्व जमाने के साधन के रूप में कर सकते हैं।

कठिनाइयां तो उन क्रांतिकारी नेताओं के सामने भी आती हैं, जो सच्चे मानववादी होते हैं, लेकिन उन नेताओं की कठिनाइयां और समस्याएं कहीं ज़्यादा बड़ी होती हैं, जो (चाहे सर्वोत्तम इरादों के साथ ही सही) जनता *के लिए* क्रांति करने की कोशिश करते हैं। ऐसा करना जनता *के बिना* क्रांति करने के समान है, क्योंकि इससे जनता को उन्हीं तौर-तरीकों से क्रांति की प्रक्रिया में लाया जाता है, जो तौर तरीके उसके उत्पीड़न के लिए अपनाए जाते रहे हैं।

संवाद प्रत्येक प्रामाणिक क्रांति के आमूल-परिवर्तनवादी रूप में आवश्यक है। यही वह चीज़ है, जो क्रांति को फ़ौजी *तख़्तापलट* से भिन्न बनाती है। तख़्तापलट से संवाद की अपेक्षा कोई नहीं करता, क्योंकि उसमें तो ('वैधता' प्राप्त करने के लिए) छल-कपट और (दमन करने के लिए) बलप्रयोग ही होता है। क्रांति के लिए आवश्यक है कि वह आज नहीं तो कल जनता के साथ एक साहसपूर्ण संवाद शुरू करे। उसकी वैधता ही उस संवाद में होती है।[3] क्रांति जनता से, उसकी अभिव्यक्ति से, सत्ता में उसकी प्रभावी सहभागिता से, भयभीत नहीं हो सकती। उसे तो जनता के प्रति उत्तरदाई होना ही चाहिए। उसे अपनी उपलब्धियों, अपनी ग़लतियों, अपनी चूकों और अपनी कठिनाइयों के बारे में जनता को खुलकर बताना ही चाहिए।

संवाद जितनी जल्दी शुरू होगा, आंदोलन उतना ही सच्चा क्रांतिकारी आंदोलन होगा। यह संवाद, जो क्रांतिकारी कर्म के लिए आमूल-परिवर्तनवादी रूप से आवश्यक है, एक और आमूल-परिवर्तनवादी आवश्यकता से मेल खाता है। वह आवश्यकता है ऐसे मनुष्यों की, जो संप्रेषण के बिना वास्तव में मानवीय हो ही

नहीं सकते, क्योंकि वे सारतः संप्रेषणशील प्राणी हैं। संप्रेषण को बाधित करना मनुष्यों को 'चीज़ों' में बदल कर रख देना है—और यह क्रांतिकारियों का नहीं, उत्पीड़कों का काम है।

मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूं कि मैं जिस आचरण की वकालत कर रहा हूं, उसे कर्म की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती, दो अवस्थाओं में नहीं बांटा जा सकता। कर्म और चिंतन साथ-साथ होते हैं। लेकिन यथार्थ के किसी विश्लेषण से यह बात सामने आ सकती है कि कर्म का एक विशिष्ट रूप *फ़िलहाल* असंभव या अनुचित होगा (अतः उसे तदनुसार या तो स्थगित कर दिया जाना चाहिए, या कर्म के किसी अन्य रूप से बदल दिया जाना चाहिए)। जो लोग चिंतन के जरिए देख लेते हैं कि कर्म का अमुक रूप फ़िलहाल असंभव या अनुचित है, उन्हें अकर्मण्यता का दोषी नहीं कहा जा सकता। आलोचनात्मक चिंतन भी कर्म है।

मैं पहले कह चुका हूं कि शिक्षा में शिक्षक-छात्र का किसी संज्ञेय वस्तु को समझने का प्रयास उसी वस्तु में समाप्त नहीं हो जाता। उसके कर्म का विस्तार अन्य छात्र-शिक्षकों तक इस रूप में होता है कि संज्ञेय वस्तु उनकी बोध-क्षमता का माध्यम बन जाती है। यही बात क्रांतिकारी कर्म के लिए सच है। अर्थात् उत्पीड़ित जनता और नेता समान रूप से क्रांतिकारी कर्म के कर्ता हैं और यथार्थ दोनों के रूपांतरकारी कर्म के लिए माध्यम का काम करता है। कर्म के इस सिद्धांत में *कर्ता* कोई एक नहीं होता। अनेक भी सामान्य कर्ता नहीं होते, बल्कि वे *अंतःसंप्रेषण में कर्ता* होते हैं।

किसी को ऐसा लग सकता है कि अंतःसंप्रेषण से क्रांतिकारी ताक़तों में विभाजन या द्विभाजन हो जाएगा, या फूट पड़ जाएगी, लेकिन वास्तव में बात बिलकुल उलटी है : इससे उनमें घनिष्ठता पैदा होगी। इस घनिष्ठता के बिना निश्चय ही द्विभाजन होगा : नेता एक तरफ़ होंगे और जनता दूसरी तरफ़, और दोनों के संबंध उत्पीड़क-उत्पीड़ित के संबंध होंगे। क्रांति की प्रक्रिया में घनिष्ठता से इनकार करना और जनता को संगठित करने के बहाने, या क्रांतिकारी सत्ता को मज़बूत बनाने के बहाने, या संयुक्त मोर्चे को क़ायम रखने के बहाने उससे संवाद करने से बचना वास्तव में स्वतंत्रता का भय है। यह या तो जनता से डरना है या जनता पर विश्वास करने से डरना। लेकिन जब जनता पर ही भरोसा नहीं किया जा सकता, तो मुक्ति किसकी और किसलिए ? इस मामले में तो क्रांति जनता *के लिए* भी नहीं की जाती, बल्कि *जनता के द्वारा नेताओं के लिए* की जाती है, जो एक संपूर्ण आत्मनिषेध है।

क्रांति न तो नेताओं द्वारा जनता के लिए होती है, न जनता द्वारा नेताओं के लिए, वह तो दोनों की अटल एकजुटता में होती है। ऐसी एकजुटता तभी पैदा होती है, जब नेता विनम्रता, प्रेम और साहस के साथ जनता के साथी होने का

साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। ऐसा करने का पर्याप्त साहस सब मनुष्यों में नहीं होता, लेकिन जो लोग इससे बचते हैं, वे अनमनीय हो जाते हैं और दूसरों को वस्तु मान लेते हैं। वे जीवन का पोषण करने के बजाए उसकी हत्या करते हैं। जीवन की खोज करने के बजाए उससे दूर भागते हैं। और ये सब *उत्पीड़कों* की विशेषताएं हैं।

कुछ लोग सोच सकते हैं कि संवाद की बात करना—विश्व का रूपांतरण करने के लिए विश्व में मनुष्यों का साथी और सहभागी होना—एक भोला और आत्मपरक ढंग का आदर्शवाद है।[4] लेकिन इससे अधिक वास्तविक तथा ठोस कुछ और नहीं हो सकता कि मनुष्य विश्व में और विश्व के साथ हों, दूसरे मनुष्यों के साथ हों—और कुछ मनुष्य उत्पीड़क वर्ग के रूप में तथा दूसरे मनुष्य उत्पीड़ित वर्ग के रूप में एक-दूसरे के विरुद्ध हों।

प्रामाणिक क्रांति उस यथार्थ के रूपांतरण का प्रयास करती है, जो यथार्थ अमानुषिक बनाने वाली स्थिति पैदा करता है। जिनके लिए यह स्थिति लाभदायक होती है, वे यह रूपांतरण नहीं कर सकते; यह काम तो अपने नेताओं के साथ उत्पीड़ितों को ही करना होगा। लेकिन इस सत्य को आमूल-परिवर्तनवादी ढंग से व्यवहार में आना चाहिए; अर्थात् नेताओं को जनता से घनिष्ठ होकर इस सत्य को *मूर्त रूप में प्रस्तुत करना चाहिए*। इस घनिष्ठता में नेता और जनता साथ-साथ बढ़ते हैं, और नेता स्वयंभू नेता न रह कर सचमुच जनता के नेता बनते हैं। अर्थात् वे अपने आचरण में जनता के आचरण के साथ होने से नेता बनते हैं या सच्चे नेता प्रमाणित होते हैं।

कई लोग यथार्थ के यांत्रिक दृष्टिकोण से बंधे रहने के कारण यह नहीं समझते कि मनुष्यों की ठोस स्थिति उनकी विश्व संबंधी चेतना का अनुकूलन करती है और बदले में इस चेतना से यथार्थ के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा व्यवहार का अनुकूलन होता है। वे सोचते हैं कि यथार्थ को यांत्रिक ढंग से बदला जा सकता है।[5] लेकिन वास्तव में यथार्थ को तभी बदला जा सकता है, जब मनुष्यों की यथार्थचेतना को एक समस्या के रूप में उठाया जाए, अथवा क्रांतिकारी कर्म के जरिए उसका इस प्रकार विकास किया जाए कि वह उत्तरोत्तर कम मिथ्या होती चली जाए। बात यह है कि कोई ऐतिहासिक यथार्थ ऐसा नहीं होता, जो मानवीय न हो। कोई इतिहास मनुष्यों *के बिना* नहीं होता, और कोई इतिहास मनुष्यों *के लिए* नहीं होता; इतिहास केवल मनुष्यों *का* इतिहास होता है, जो मनुष्यों के द्वारा बनाया जाता है (जैसा कि मार्क्स ने कहा था) और बदले में मनुष्यों को बनाता है। जब मनुष्यों की बहुसंख्याओं को इतिहास में कर्ताओं के रूप में भाग लेने के उनके अधिकार से वंचित कर दिया जाता है, तब वे अधीनता और अलगाव के शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार उनकी हैसियत वस्तुओं वाली हो जाती है, जिसे

बदल कर कर्ताओं वाली हैसियत में पहुंचने के लिए—जो क्रांति का सच्चा उद्देश्य है—उस यथार्थ पर, जिसका रूपांतरण किया जाना है, कर्म और चिंतन करना उनके लिए आवश्यक हो जाता है।

यह कहना कि उत्पीड़नकारी यथार्थ पर विचार करने मात्र से और अपनी वस्तुओं की-सी दशा को जान लेने मात्र से मनुष्य कर्ता बन जाते हैं, वस्तुतः एक आदर्शवादी बात होगी; लेकिन यह बोध अपने-आप में और स्वतः ही मनुष्यों के कर्ता बन जाने का सूचक न होते हुए भी इसका सूचक *अवश्य* है कि—जैसा मेरे एक सह-अनुसंधाता[6] ने कहा था कि—ऐसी दशा में वे *'प्रत्याशी कर्ता'* होते हैं। अर्थात् वे एक ऐसी प्रत्याशा में होते हैं, जो उन्हें अपनी नई हैसियत को मज़बूत बनाने के प्रयास की ओर ले जाती है।

दूसरी तरफ़, ऐसा विश्वास मिथ्या आधार पर ही किया जा सकता है कि सक्रियतावाद (जो सच्चा कर्म नहीं है) क्रांति की ओर ले जाएगा। मनुष्य वास्तव में आलोचनात्मक तभी होंगे, जब वे अधिक से अधिक व्यवहार के धरातल पर आएं। अर्थात् जब उनके कर्म में वह आलोचनात्मक चिंतन शामिल हो, जो उत्तरोत्तर उनके चिंतन को संगठित करता जाए और इस प्रकार उन्हें यथार्थ के बिलकुल भोले ज्ञान से ऊपर उठा कर एक उच्चतर स्तर पर ले जाए, जहां पहुंचकर वे यथार्थ के *कारणों* को देख सकें। यदि क्रांतिकारी नेता जनता को इस अधिकार से वंचित करते हैं तो वे स्वयं अपनी चिंतन-क्षमता को क्षति पहुंचाते हैं—या कम-से-कम सही ढंग से सोचने की क्षमता को तो क्षति पहुंचाते ही हैं। क्रांतिकारी नेता जनता *के बिना* या जनता *के लिए* नहीं सोच सकते; वे जनता *के साथ* ही सोच सकते हैं।

दूसरी तरफ़, प्रभुत्वशाली अभिजन जनता के बिना सोच सकते हैं—और सोचते हैं—गोकि वे जनता के बारे में न सोचने की विलासिता की इजाज़त स्वयं को नहीं दे सकते, क्योंकि अधिक कुशलतापूर्वक शासन करने के लिए जनता को बेहतर ढंग से जानना उनके लिए ज़रूरी होता है। नतीजतन, जनता और अभिजनों के बीच दिखाई पड़ने वाला संवाद या संप्रेषण वास्तव में उन 'विज्ञप्तियों' को जनता में 'जमा करना' है, जिनकी अंतर्वस्तु जनता को पालतू बनाने वाला प्रभाव उत्पन्न करने के इरादे से तैयार की जाती है।

प्रभुत्वशाली अभिजन जनता के साथ न सोचने पर भी कमज़ोर क्यों नहीं होते ? इसलिए कि जनता उनका प्रतिपक्ष है। उनका अस्तित्व उसी पर निर्भर है। यदि अभिजन जनता के साथ सोचने लगे तो दोनों के बीच का अंतर्विरोध समाप्त हो जाएगा और उसकी जगह ऐसी स्थिति आ जाएगी कि वे उस पर शासन नहीं कर सकेंगे। शासकों की दृष्टि से, किसी भी युग में, सही सोच का मतलब होता है जनता का न सोचना। राइनहोल्ड नीबुहर लिखते हैं :

एक मिस्टर गिडी थे, जो बाद में रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष बने। उन्होंने

> जो आपत्ति की, उसके जोड़ के नमूने हर देश में मिल सकते हैं। उन्होंने कहा—"ग़रीब मेहनतकश वर्गों को शिक्षा देने की परियोजना सिद्धांत रूप में चाहे जितनी बड़ी हो, वह उनकी नैतिकता और सुख-शांति के लिए हानिकर ही होगी। शिक्षा उन्हें खेती और दूसरे मेहनत वाले कामों के लिए अच्छे नौकर बनाने के बजाए अपने भाग्य को कोसने वाला बना देगी। उन्हें अधीनता सिखाने के बजाए वह उन्हें उद्दंड और दुर्दांत बना देगी, जैसा कि औद्योगिक उत्पादन करने वाले देशों में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। वह उन्हें राजद्रोही पर्चे और ईसाई धर्म विरोधी बुरी किताबें पढ़ने लायक बना देगी। वह उन्हें अपने से बड़ों से बदतमीज़ी करने वाला बना देगी और कुछ ही वर्षों में ऐसे क़ानून बनाने पड़ेंगे कि सत्ता उनके ख़िलाफ़ कठोर क़दम उठाए।"

मिस्टर गिडी चाहते थे (और आज के अभिजन भी—हालांकि वे जनता की शिक्षा की ऐसी सिनिकवादी तथा खुली भर्त्सना नहीं करते—यही चाहते हैं) कि जनता सोचे नहीं। ऐसे मिस्टर गिडी हर देश में और हर युग में होते हैं, जो उत्पीड़क वर्ग के रूप में न तो जनता *के साथ* सोच सकते हैं और न जनता को स्वयं सोचने दे सकते हैं।

लेकिन यही बात क्रांतिकारी नेताओं के बारे में सच नहीं है, क्योंकि वे यदि जनता के साथ नहीं सोचेंगे तो शक्तिहीन हो जाएंगे। जनता उनके लिए विचार की वस्तु मात्र नहीं, बल्कि वह सांचा है, जिसमें वे स्वयं ढलते हैं। हालांकि जनता को बेहतर ढंग से समझने के लिए क्रांतिकारी नेताओं को जनता के बारे में भी सोचना पड़ता है, लेकिन उनका यह सोचना अभिजनों के सोचने से भिन्न होता है; क्योंकि वे जनता को अधीन बनाने के लिए नहीं, बल्कि मुक्त बनाने के लिए सोचते हैं और इसके लिए वे अपने चिंतन को जनता के चिंतन के प्रति समर्पित कर देते हैं। अभिजनों का चिंतन *मालिकों* का चिंतन होता है, क्रांतिकारी नेताओं का चिंतन *साथियों* का चिंतन होता है।

प्रभुत्व के लिए स्वभावतः दो ही और सर्वथा अंतर्विरोधी ध्रुव आवश्यक होते हैं : एक और प्रभुत्वशाली उत्पीड़क वर्ग, और दूसरी ओर अधीनीकृत उत्पीड़ित वर्ग। क्रांतिकारी मुक्ति में, जो इस अंतर्विरोध को समाप्त करने का प्रयास करती है, केवल ये दो ध्रुव नहीं होते, बल्कि क्रांतिकारी नेताओं का एक समूह भी होता है, जो इस प्रयास के दौरान उभरता है। यह नेतृत्व समूह या तो अपना तादात्म्य जनता की उत्पीड़ित स्थिति के साथ कर लेता है, या वह क्रांतिकारी नहीं होता। जिस प्रकार शासक जनता *के बारे* में सोचते हैं, उसी प्रकार जनता *के बारे में* सोचने, जनता के चिंतन के प्रति स्वयं को समर्पित न करने, जनता के *साथ* न सोच पाने का निश्चित परिणाम होता है नेताओं का क्रांतिकारी न रह जाना।

उत्पीड़न की प्रक्रिया में अभिजन उत्पीड़ितों की 'जीवित मृत्यु' पर जीते हैं और अपनी प्रामाणिकता उस लंबवत (ऊपर से नीचे की तरफ़ आने वाला) संबंध से सिद्ध करते हैं, जिसमें उत्पीड़क ऊपर होते हैं और उत्पीड़ित नीचे। क्रांति की प्रक्रिया में उभरने वाले नेताओं को प्रामाणिकता एक ही तरीक़े से प्राप्त हो सकती है : उत्पीड़ितों के साथ और उनके जरिए उनका 'पुनर्जन्म' होना चाहिए और इसके लिए उनका 'मरना' आवश्यक है।

उत्पीड़न की प्रक्रिया के बारे में तो हमारा यह कहना ठीक हो सकता है कि उसमें कोई किसी को उत्पीड़ित करता है; लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि क्रांति की प्रक्रिया में कोई किसी को मुक्त बनाता है। हम यह भी नहीं कह सकते कि कोई स्वयं को मुक्त बनाता है, क्योंकि मनुष्य पारस्परिक सहभागिता में एक-दूसरे को मुक्त बनाते हैं। यह बात क्रांतिकारी नेताओं का महत्व घटाने के लिए नहीं, बल्कि इसके विपरीत, उनके मूल्य पर ज़ोर देने के लिए कही जा रही है। 'जीवन से ख़ारिज' लोगों या 'पृथ्वी के अभागों' के साथ रहने और काम करने से अधिक महत्त्वपूर्ण और क्या हो सकता है ? इस सहभागिता में क्रांतिकारी नेताओं को अपने जीवन का उद्देश्य ही नहीं, बल्कि आनंदित होने का कारण भी देखना चाहिए। क्रांतिकारी नेताओं के लिए ऐसी सहभागिता स्वभावतः प्रामाणिक रूप में संभव है, जो प्रभुत्वशाली अभिजनों के लिए, स्वभावतः ही, प्रामाणिक रूप में संभव नहीं है।

अभिजन, एक वर्ग के रूप में, जब भी उत्पीड़ितों के पास पहुंचते हैं, उस मिथ्या उदारता के साथ पहुंचते हैं, जिसका वर्णन पहले प्रकरण में किया गया है। लेकिन क्रांतिकारी नेता न तो मिथ्या उदारता बरत सकते हैं, न चालबाज़ी ही कर सकते हैं। उत्पीड़क अभिजन जहां जनता को अपने पैरों तले रौंद कर फलते-फूलते हैं, वहां क्रांतिकारी नेता जनता के साथी और सहभागी होकर ही फल-फूल सकते हैं। यही कारण है कि उत्पीड़कों की गतिविधि कभी मानववादी नहीं हो सकती, जबकि क्रांतिकारियों की गतिविधि का मानववादी होना अनिवार्य है।

विज्ञान का इस्तेमाल उत्पीड़कों की अमानवीयता में भी किया जाता है और क्रांतिकारियों के मानववाद में भी, लेकिन उत्पीड़कों के हाथों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी मनुष्यों को 'चीज़ों' में बदल कर रख देने का साधन बनते हैं, जबकि क्रांतिकारियों के हाथों इनका उपयोग मानुषीकरण के लिए होता है। लेकिन उत्पीड़ितों को मानुषीकरण की प्रक्रिया का कर्ता होना चाहिए, ताकि वे वैज्ञानिक रुचि की वस्तु मात्र न बने रह जाएं।

वैज्ञानिक क्रांतिकारी मानववाद, क्रांति के नाम पर, उत्पीड़ितों को ऐसी वस्तुएं नहीं मान सकता, जिनका विश्लेषण किया जाना है और (उस विश्लेषण के आधार पर) जिन्हें व्यवहार संबंधी निर्देश दिए जाने हैं। ऐसा करने का मतलब होगा उत्पीड़क विचारधारा के मिथकों में से एक *परम अज्ञान* के मिथक में फंस जाना।

इस मिथक में किसी के द्वारा किसी को परम अज्ञानी मानने का निर्णय करने की बात शामिल है। जो व्यक्ति यह निर्णय करता है, वह स्वयं को और अपने वर्ग को ज्ञानी या जन्म से ही ज्ञान का अधिकारी समझता है। इस प्रकार वह दूसरों को विजातीय समझता है। अर्थात् दूसरों को ज्ञानवान या ज्ञान का अधिकारी नहीं मानता। उसे अपने वर्ग के शब्द ही 'सच्चे' शब्द लगते हैं, जिन्हें वह दूसरों पर थोपता है या थोपने की कोशिश करता है। ये 'दूसरे' होते हैं उत्पीड़ित, जिनसे उनके शब्द चुरा लिए गए होते हैं। जो लोग दूसरों के शब्द चुराते हैं, वे दूसरों की क्षमताओं के प्रति अपने मन में गहरा संदेह उत्पन्न कर लेते हैं और उन्हें असमर्थ समझते हैं। जब-जब उन लोगों से, जिनको उन्होंने बोलने के अधिकार से वंचित कर रखा है, उनकी बात सुने बिना ही अपनी बात कहते हैं, तब-तब वे सत्ता के और अधिक आदी होते जाते हैं। ऐसी सत्ता के अभ्यस्त हो जाने के बाद उन्हें ऐसा कोई अवश्य चाहिए, जिसे वे आदेश दे सकें, क्योंकि उसके बिना वे जी ही नहीं सकते।

दूसरी तरफ़, वैज्ञानिक और मानववादी क्रांतिकारी नेता जनता के अज्ञान संबंधी मिथक में विश्वास नहीं कर सकते। उन्हें एक क्षण के लिए भी इस पर संदेह करने का अधिकार नहीं कि यह केवल एक मिथक है। वे यह विश्वास नहीं कर सकते कि वे और केवल वे ही ज्ञानवान हैं, क्योंकि इसका अर्थ होगा जनता पर संदेह करना। हालांकि उनका यह समझना ठीक हो सकता है कि उनकी क्रांतिकारी चेतना के कारण उनके क्रांतिकारी ज्ञान का स्तर जनता के अनुभवजन्य ज्ञान के स्तर से भिन्न है, फिर भी वे स्वयं को और अपने ज्ञान को जनता पर थोप नहीं सकते। वे जनता को सिर्फ़ नारे नहीं दे सकते, उन्हें तो जनता से संवाद ही करना चाहिए, ताकि जनता का यथार्थ संबंधी अनुभवजन्य ज्ञान नेताओं के आलोचनात्मक ज्ञान से पोषित होकर, क्रमशः यथार्थ के *कारणों* के ज्ञान में बदल जाए।

यह एक मिथक है कि जनता परम अज्ञानी है। यह मिथक उत्पीड़क अभिजनों ने गढ़ा है। अतः यह अपेक्षा करना भोलापन होगा कि उत्पीड़क अभिजन स्वयं इस मिथक को तोड़ेंगे। क्रांतिकारी नेता यदि इस मिथक को नहीं तोड़ते तो यह एक आत्मविरोधी बात होगी। लेकिन इससे भी ज़्यादा आत्मविरोधी बात यह होगी कि वे स्वयं इस मिथक के अनुसार काम करने लगें। क्रांतिकारी नेताओं का काम इसी मिथक को नहीं, बल्कि उत्पीड़क अभिजनों द्वारा उत्पीड़न के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले सभी मिथकों को समस्याओं के रूप में उठाना है। इसके बजाए यदि क्रांतिकारी नेता उत्पीड़कों के प्रभुत्व जमाने वाले तौर-तरीक़ों की नक़ल करेंगे तो जनता पर इसकी इन दो में से एक प्रतिक्रिया होगी : लोग या तो कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में अपने नेताओं द्वारा स्वयं में जमा की हुई

अंतर्वस्तुओं के जरिए पालतू बन जाएंगे, या अपने दिल में घर किए बैठे उत्पीड़क को डराने वाला 'शब्द' सुनकर आतंकित हो जाएंगे।[7] इन दोनों ही स्थितियों में वे क्रांतिकारी नहीं बन सकते। पहली स्थिति में क्रांति एक भ्रांति होगी और दूसरी स्थिति में एक असंभाव्यता।

कुछ सदाशयी किंतु भटके हुए लोग यह मान लेते हैं कि चूंकि संवादात्मक प्रक्रिया लंबी होती है।[8] (वैसे यह बात सही नहीं है) इसलिए उन्हें संप्रेषण के बिना 'विज्ञप्तियों' के जरिए क्रांति कर डालनी चाहिए; क्रांति एक बार सफल हो गई तो *बाद में* वे शिक्षा का पूरा-पक्का इंतजाम कर लेंगे। वे इस प्रक्रिया का औचित्य यह कह कर भी सिद्ध करते हैं कि शिक्षा का काम—अर्थात् मुक्तिदाई शिक्षा का काम—सत्ता प्राप्त करने से पहले नहीं किया जा सकता।

इन बातों के कुछ आधारभूत मुद्दों का विश्लेषण आवश्यक है। ये लोग (या इनमें से ज़्यादातर लोग) जनता से संवाद करने की आवश्यकता में तो विश्वास करते हैं, लेकिन इसमें विश्वास नहीं करते कि सत्ता प्राप्त करने से पहले भी यह संवाद संभव है। जब वे इस संभावना से इनकार करते हैं कि सत्ता प्राप्त करने से पहले नेतागण आलोचनात्मक शैक्षिक व्यवहार कर सकते हैं, तो वे एक *सांस्कृतिक कर्म* के रूप में क्रांति के उस शैक्षिक गुण से इनकार करते हैं, जो क्रांति को *सांस्कृतिक क्रांति* बनने के लिए तैयार करता है। दूसरी तरफ़ वे सांस्कृतिक कर्म को वह नई शिक्षा समझने की भूल करते हैं, जिसका आरंभ सत्ता-प्राप्ति के बाद किया जाना है।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि उत्पीड़क अभिजनों से यह अपेक्षा करना तो भोलापन ही होगा कि वे मुक्तिदाई शिक्षा की व्यवस्था करेंगे। लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि क्रांति का एक स्वरूप शिक्षात्मक भी होता है, क्योंकि शिक्षा मुक्त करती है, और क्रांति यदि मुक्त नहीं करती तो वह क्रांति नहीं है।

सत्ता प्राप्त करना क्रांतिकारी प्रक्रिया का चाहे जितना निर्णायक क्षण हो, वह एक क्षण ही है। क्रांति को एक प्रक्रिया के रूप में देखें तो उसके 'पहले' की अवस्था उत्पीड़क समाज में होती है और वह क्रांतिकारी चेतना को ही प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। क्रांति उत्पीड़क समाज के अंदर ही एक सामाजिक तत्व के रूप में जन्म लेती है। जहां तक वह सांस्कृतिक कर्म है, वह स्वयं को जन्म देने वाले सामाजिक तत्व की संभावनाओं के अनुरूप हुए बिना नहीं रह सकती। प्रत्येक सामाजिक तत्व अपने भीतर के अंतर्विरोधों की अंतःक्रिया से विकसित (या रूपांतरित) होता है। बाह्य अनुकूलनकारी तत्व, आवश्यक होते हुए भी, तभी प्रभावशाली हो पाते हैं, जब वे उन संभावनाओं से मेल खाते हों।[9] क्रांति की नवीनता पुराने उत्पीड़क समाज में ही उत्पन्न होती है; अतः सत्ता प्राप्त करना निरंतर जारी रहने वाली क्रांतिकारी प्रक्रिया का केवल एक निर्णायक क्षण है। क्रांति

को किसी स्थिर दृष्टिकोण से देखने के बजाए गतिशील दृष्टि से देखें तो सत्ता-प्राप्ति ऐसी विभाजक रेखा नहीं है, जिसके एक और कोई परम 'पहले' की स्थिति हो और दूसरी ओर कोई परम 'बाद' की स्थिति।

वस्तुपरक परिस्थितियों में जन्म लेने वाली क्रांति उत्पीड़नकारी स्थिति को बदल कर उसके स्थान पर ऐसे मनुष्यों के समाज का शुभारंभ करती है, जो निरंतर मुक्ति की प्रक्रिया में होते हैं। क्रांति की शैक्षिक अर्थात् संवादात्मक गुणवत्ता, जो उसे एक 'सांस्कृतिक क्रांति' भी बनाती है, उसकी प्रत्येक अवस्था में बनी रहनी चाहिए। यह शैक्षिक गुणवत्ता क्रांति को प्रतिक्रांतिकारी नौकरशाही के रूप में संस्थाबद्ध और स्तरीकृत होने से बचाने का अत्यंत प्रभावशाली औज़ार है, क्योंकि प्रतिक्रांति उन क्रांतिकारियों द्वारा की जाती है, जो प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं।

यदि सत्ता प्राप्त करने से पहले जनता से संवाद करना इसलिए संभव नहीं कि जनता को संवाद का कोई अनुभव नहीं है, तो यह सत्ता में आने वाली जनता के लिए भी संभव नहीं होगा, क्योंकि वह भी सत्ता का उपयोग करने के मामले में उतनी ही अनुभवहीन होगी। क्रांति की प्रक्रिया गतिशील होती है और इस निरंतर जारी रहने वाली प्रक्रिया में ही, अर्थात् क्रांतिकारी नेताओं के साथ जनता के आचरण में ही, जनता और नेता दोनों संवाद करना तथा सत्ता का उपयोग करना सीखेंगे। (यह बात उतनी ही प्रत्यक्ष है, जितनी यह कि आदमी पानी में ही तैरना सीखता है, पुस्तकालय में नहीं।)

जनता से संवाद करना न तो उसके साथ की जाने वाली कोई रियायत है, और न उसे दिया जाने वाला कोई उपहार। वह प्रभुत्व जमाने की कार्यनीति तो हरगिज़ नहीं है। संवाद विश्व को 'नाम' देने के लिए मनुष्यों की मुठभेड़ है, जो उनके सच्चे मानुषीकरण की बुनियादी शर्त है। गाजो पेट्रोविक के शब्दों में :

> स्वतंत्र कर्म वही हो सकता है, जिसके द्वारा एक मनुष्य अपने विश्व को और स्वयं को बदलता है।...स्वतंत्रता की एक सकारात्मक शर्त है आवश्यकता की सीमाओं का ज्ञान, मानवीय सृजनात्मक संभावनाओं का बोध।...एक स्वतंत्र समाज के लिए किया जाने वाला संघर्ष तब तक स्वतंत्र समाज के लिए किया जाने वाला संघर्ष नहीं है, जब तक उसके जरिए उत्तरोत्तर अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता का सृजन न होता हो।[10]

इस दृष्टि से क्रांतिकारी प्रक्रिया का चरित्र प्रमुख रूप से शिक्षात्मक होता है। अतः क्रांति के मार्ग में जनता के प्रति अभेद्यता का नहीं, बल्कि खुलेपन का व्यवहार आवश्यक है; जनता पर अविश्वास नहीं, बल्कि उससे घनिष्ठता आवश्यक है। और, जैसा कि लेनिन ने कहा था, उत्पीड़न की शक्ति के विरुद्ध खड़े होने के लिए क्रांति को सिद्धांत की जितनी ज्यादा ज़रूरत है, उतनी ही ज़्यादा ज़रूरत उसके नेताओं

को जनता के *साथ* होने की है।

इन सामान्य बातों के आधार पर, आइए, अब संवादविरोधी और संवादात्मक सिद्धांतों का कुछ अधिक विस्तार से विश्लेषण करें।

अभिजिति : संवादविरोधी कर्म की पहली विशेषता है अभिजिति (दूसरों को हरा कर जीत हासिल करने) की ज़रूरत। संवादविरोधी मनुष्य अन्य मनुष्यों से जो संबंध बनाता है, उनमें उसका उद्देश्य उन्हें—उत्तरोत्तर अधिक और किसी भी तरीक़े से—हरा कर जीत हासिल करने का रहता है। इसके लिए वह जो तरीक़े अपनाता है, अत्यंत कठोर भी हो सकते हैं और अत्यंत शालीन भी; अत्यंत दमनकारी भी हो सकते हैं और अत्यंत 'लोकोपकारवादी' भी।

अभिजिति के प्रत्येक कर्म में एक विजेता होता है और कोई या कुछ विजित। विजेता विजित पर अपने उद्देश्य थोपता है और उन्हें उसकी अपनी चीज़ें बना देता है। वह विजित पर अपनी आकृति भी थोपता है और विजित उसकी आकृति को इस प्रकार आत्मसात कर लेता है कि अपने भीतर किसी और को 'बसाए' रहने वाला संदिग्ध प्राणी बन जाता है। अभिजिति आरंभ से ही मनुष्यों को चीज़ों में बदल देने वाला कर्म होने के कारण मृत्यु से प्रेम करने वाला कर्म है।

चूंकि संवादविरोधी कर्म उत्पीड़न की वास्तविक और ठोस स्थिति का ठीक सहवर्ती होता है, इसलिए उस स्थिति को बदल कर उसकी जगह एक क्रांतिकारी स्थिति लाने के लिए संवादात्मक कर्म अपरिहार्य है। मनुष्य किसी अमूर्तन में नहीं, बल्कि विश्व में संवादात्मक या संवादविरोधी होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले वह संवादविरोधी होगा और तब उत्पीड़क बनेगा; वह उत्पीड़क और संवादविरोधी एक साथ होता है। उत्पीड़न की एक वस्तुपरक स्थिति में उत्पीड़क के लिए संवाद विरोध उत्पीड़न को—न केवल आर्थिक उत्पीड़न को, बल्कि सांस्कृतिक उत्पीड़न को भी—बढ़ाने वाले साधन के रूप में आवश्यक होता है। इसके जरिए विजितों को उनके शब्द से, उनकी अभिव्यक्ति-क्षमता से, उनकी संस्कृति से वंचित कर दिया जाता है। फिर, जब उत्पीड़न की स्थिति आरंभ हो जाती है, तो उसे बनाए रखने के लिए संवादविरोध अपरिहार्य हो जाता है।

चूंकि मुक्तिदाई कर्म स्वभावतः संवादात्मक होता है, इसलिए संवाद उस कर्म के बाद की चीज़ नहीं, बल्कि उस कर्म का सहवर्ती होता है। और चूंकि मुक्ति को एक स्थाई एक परिस्थिति होना चाहिए, इसलिए संवाद मुक्तिदाई कर्म का *निरंतर जारी रहने वाला* पक्ष बन जाता है।[11]

संवादविरोधी कर्म में अभिजिति की इच्छा (या आवश्यकता) हमेशा मौजूद रहती है। इसके लिए उत्पीड़क लोग मनुष्यों के 'विश्व पर विचार करने के गुण' को नष्ट करने की कोशिश करते हैं। चूंकि वे मनुष्यों के इस गुण का संपूर्ण नाश

नहीं कर सकते, इसलिए वे विश्व का *मिथकीकरण* करते हैं। वे उत्पीड़ितों और विजितों के विचारार्थ छल-कपट का एक ऐसा विश्व प्रस्तुत करते हैं, जो उत्पीड़ितों और विजितों के अलगाव तथा निष्क्रियता को और बढ़ाने की दृष्टि से 'बनाया गया' विश्व होता है। इसके लिए उत्पीड़क लोग पद्धतियों की एक शृंखला विकसित करते हैं, जिससे विश्व को कभी एक समस्या के रूप में प्रस्तुत न किया जा सके; बल्कि वह एक स्थिर चीज़ के रूप में—एक ऐसी प्रदत्त चीज़ के रूप में—दिखाई पड़े, जिसे मनुष्य बदल न सकते हों, केवल देख सकते हों, और महज दर्शकों के रूप में जिसके अनुकूल स्वयं को बना लेना उनके लिए आवश्यक हो।

उत्पीड़कों के लिए यह आवश्यक है कि वे जनता को गुलाम बना कर निष्क्रिय बनाए रखने के लिए जनता के निकट पहुंचें। लेकिन जनता से उनके इस नैकट्य का मतलब यह नहीं होता कि वे *जनता के साथ* होना चाहते हैं, या उससे कोई सच्चा संप्रेषण करना चाहते हैं। यह नैकट्य उत्पीड़कों के उन मिथकों के जरिए कायम किया जाता है, जो जनता में लगातार 'जमा' किए जाते रहते हैं और यथास्थिति बनाए रखने के लिए अपरिहार्य होते हैं। उदाहरण के लिए कुछ मिथकों पर विचार करें : यह एक मिथक है कि उत्पीड़नकारी व्यवस्था एक 'मुक्त समाज' ('फ्री सोसायटी') है; क्योंकि जहां उत्पीड़न है, वहां स्वतंत्रता हो ही नहीं सकती। यह एक मिथक है कि लोग जहां चाहें वहां काम कर सकते हैं और यदि उन्हें एक मालिक पसंद नहीं है तो वे उसे छोड़ कर कोई दूसरी नौकरी ढूंढ़ सकते हैं; क्योंकि ग़रीबी और बेरोज़गारी के मारे लोगों को यह आज़ादी नहीं होती। यह एक मिथक है कि वर्तमान व्यवस्था मानव अधिकारों का आदर करती है और इसलिए आदर करने योग्य है; क्योंकि उत्पीड़न समस्त मानव-अधिकारों का शत्रु है। यह एक मिथक है कि कोई भी मेहनती आदमी अपना व्यवसाय कर सकता है—और इससे भी बुरा मिथक यह है कि गलियों में फेरी लगा कर चीज़ें बेचने वाला भी किसी बड़े कारख़ाने के मालिक जैसा ही व्यवसायी है; क्योंकि यह बिलकुल झूठ है। यह एक मिथक है कि शिक्षित होने का अधिकार सबको प्राप्त है; क्योंकि ब्राज़ील के प्राथमिक स्कूलों में प्रवेश लेने वाले तमाम बच्चों में से बहुत ही कम विश्वविद्यालय तक पहुंच पाते हैं। यह एक मिथक है कि सभी मनुष्य समान हैं, क्योंकि यह प्रश्न कि "तुम्हें पता है, तुम किससे बात कर रहे हो ?" हमारे बीच आज भी प्रचलित है। यह एक मिथक है कि उत्पीड़क वर्ग 'पश्चिमी ईसाई सभ्यता' को 'भौतिकवादी बर्बरता' से बचाने वाले वीर नायक हैं; क्योंकि वे स्वयं मानव सभ्यता को नष्ट करने वाले भौतिकवादी बर्बर हैं। यह एक मिथक है कि अभिजन बड़े दानी और उदार होते हैं; क्योंकि वे एक वर्ग के रूप में वास्तव में कुछ चुने हुए 'अच्छे कामों' को प्रोत्साहन देते हैं (और बाद में इसका विस्तार 'निस्वार्थ सहायता' के मिथक में होता है) जिसकी बड़ी कठोर आलोचना तेईसवें पोप जॉन

ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर की थी।[12] यह एक मिथक है कि प्रभुत्वशाली अभिजन 'अपने कर्तव्यों को समझ कर' जनता की उन्नति के लिए काम करते हैं; क्योंकि यह एक झूठ है, जो इसलिए बोला जाता है कि जनता आभारी होकर अभिजनों की बात माने और उनके अनुसार चले। यह एक मिथक है कि विद्रोह ईश्वर के विरुद्ध किया गया एक पाप है; क्योंकि उत्पीड़न की व्यवस्था ईश्वर ने नहीं बनाई है और मुक्ति के लिए संघर्ष करना पाप नहीं है। यह एक मिथक है कि मनुष्य के मानवीय विकास के लिए व्यक्तिगत संपत्ति आवश्यक है; क्योंकि ऐसा कहने वाले उत्पीड़कों को ही मनुष्य मानते हैं। यह एक मिथक है कि उत्पीड़क लोग बड़े परिश्रमी होते हैं और उत्पीड़ित बड़े आलसी और बेईमान; क्योंकि यह झूठ उसी तरह उत्पीड़ितों को गुलाम बनाए रखने के लिए बोला जाता है, जिस तरह यह झूठ कि उत्पीड़क प्राकृतिक रूप से उच्चतर और उत्पीड़ित प्राकृतिक रूप से हीनतर होते हैं।[13]

ये सभी मिथक (और दूसरे मिथक भी, जिनकी सूची पाठक स्वयं बना सकते हैं), सुव्यवस्थित प्रचार और नारों के जरिए उत्पीड़ितों को परोसे जाते हैं, क्योंकि उन्हें गुलाम बनाने और बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि वे इनको आत्मसात कर लें। और, यह काम किया जाता है 'जनसंचार' (जन संप्रेषण) के माध्यमों के जरिए, मानो ऐसे अलगाव में संचार (संप्रेषण) सचमुच संभव हो।

संक्षेप में, कोई उत्पीड़नकारी यथार्थ ऐसा नहीं, जो साथ ही संवादविरोधी न हो। ठीक इसी तरह ऐसा कोई संवादविरोधी नहीं, जिसमें उत्पीड़क निरंतर उत्पीड़ितों पर अपनी अभिजिति के लिए अनथक रूप से स्वयं को समर्पित न किए रहते हों। प्राचीन रोम में प्रभुत्वशाली अभिजन जनता को 'नरम बनाने' और अपना सुख-चैन बनाए रखने के लिए 'रोटी और सर्कस' देने की बात कहा करते थे। आज के प्रभुत्वशाली अभिजन, किसी भी युग के अभिजनों की भांति, अभिजिति की ज़रूरत को ('मौलिक पाप' के रूप में) जारी रखे हुए हैं—भले ही इसके लिए वे जनता को रोटी और सर्कस देते हों या न देते हों। अभिजिति की अंतर्वस्तु और पद्धतियां ऐतिहासिक रूप से बदलती रहती हैं, लेकिन जो चीज़ कभी नहीं बदलती (और जब तक प्रभुत्वशाली अभिजनों का अस्तित्व है, बदलेगी भी नहीं) वह है उत्पीड़न करने की मृत्युप्रेमी भावना।

विभाजन और शासन : यह उत्पीड़नकारी कर्म के सिद्धांत का, जो स्वयं उत्पीड़न जितना ही पुराना है, एक और आधारभूत आयाम है। जब उत्पीड़कों की अल्पसंख्या उत्पीड़ितों की बहुसंख्या को अधीन बना कर उस पर शासन करती है, तो उसके सत्ता में बने रहने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह जनता को विभाजित करे और विभाजित रखे। मुट्ठी भर उत्पीड़कों के लिए जनता को एक होने देना

एक ऐसी विलासिता है, जिसकी छूट वे स्वयं को कभी नहीं दे सकते, क्योंकि ऐसा करना उनके अपने वर्चस्व के लिए निस्संदेह एक गंभीर ख़तरे का सूचक होगा। तदनुसार, उत्पीड़क किसी भी तरीक़े से (जिनमें हिंसा भी शामिल है) उत्पीड़ितों को एकता की आवश्यकता के प्रति जागरूक बनाने वाले किसी आरंभिक ढंग के कर्म को भी रोकते हैं। एकता, संगठन और संघर्ष जैसी अवधारणाओं को तुरंत ख़तरनाक घोषित कर दिया जाता है। निश्चय ही, ये अवधारणाएं वास्तव में ख़तरनाक हैं, लेकिन उत्पीड़ितों के लिए नहीं, बल्कि उत्पीड़कों के लिए; क्योंकि मुक्तिदाई कर्मों के लिए इन अवधारणाओं को मूर्त रूप देना अनिवार्य है और इनके मूर्त रूप में आने से उत्पीड़कों का अस्तित्व ख़तरे में पड़ता है।

उत्पीड़ितों को और अधिक कमज़ोर बनाने के लिए उन्हें अलग-थलग करना, उनके बीच खाइयां पैदा करना तथा उन खाइयों को और गहरा करना उत्पीड़कों के हित में होता है यह काम कई तरीक़ों से किया जाता है, जिनमें सरकारी नौकरशाही के दमनकारी तौर-तरीक़ों से लेकर सांस्कृतिक कर्म के वे रूप भी शामिल हैं, जिनके जरिए लोगों को यह जताते हुए कि उनकी सहायता की जा रही है, वास्तव में उनके साथ चालबाज़ी की जाती है।

उत्पीड़नकारी कर्म की एक विशेषता, जो समर्पित किंतु भोले पेशेवर लोगों को प्रायः कभी नज़र नहीं आती, यह है कि उसमें समस्याओं को अलग-अलग देखने पर ज़ोर दिया जाता है, जबकि उन्हें एक *संपूर्णता* के विभिन्न आयामों के रूप में देखा जाना चाहिए। 'सामुदायिक विकास' की परियोजनाओं में समुदायों को स्वयं में एक संपूर्णता के रूप में और एक अन्य संपूर्णता (जैसे क्षेत्र, अंचल आदि) के अंग के रूप में—जो पुनः किसी और भी बड़ी संपूर्णता (जैसे राष्ट्र, जो महाद्वीपीय संपूर्णता के अंग होते हैं) का अंग होती हैं—नहीं देखा जाता; बल्कि किसी क्षेत्र या अंचल की छोटी-छोटी इकाइयों के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार स्थानीय समुदायों को जितनी ही छोटी इकाइयों में बांटा जाता है, उतना ही अलगाव घनीभूत होता जाता है। और जनता में जितना अलगाव होता है, उसे विभाजित रखना उतना ही आसान हो जाता है। कर्म के ऐसे रूप, जो यथार्थ के छोटे-छोटे अंशों पर अलग-अलग ध्यान केंद्रित करते हैं, उत्पीड़ितों की जीवन-शैली को (विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में) जो पहले ही संपूर्ण यथार्थ का एक अंश होती है, और ज़्यादा आंशिक बना देते हैं। इस प्रकार वे उत्पीड़ितों को आलोचनात्मक दृष्टि से यथार्थ को देखने से रोकते हैं और अन्य स्थानों के उत्पीड़ित मनुष्यों की समस्याओं से अलग-थलग करते हैं।[15]

तथाकथित 'नेतृत्व प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों' से भी ऐसा ही विभाजनकारी प्रभाव पड़ता है। हालांकि इनके आयोजकों में से बहुतों का इरादा ऐसा नहीं होता, फिर भी ये पाठ्यक्रम अंतिम विश्लेषण में अलगावकारी होते हैं। ये पाठ्यक्रम इस भोली

मान्यता पर आधारित होते हैं कि समुदाय की उन्नति उसके नेताओं को प्रशिक्षित करके की जा सकती है—मानो अंशों की उन्नति से पूर्ण की उन्नति हो सकती हो; जबकि वास्तव में पूर्ण की उन्नति से उसके अंशों की उन्नति होती है। समुदाय के जिन सदस्यों में नेतृत्व की पर्याप्त क्षमताएं दिखाई देती हैं, और जिनके आधार पर उन्हें इन पाठ्यक्रमों के लिए चुना जाता है, वे अनिवार्यतः अपने समुदाय के लोगों की आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं। उनके जीवन और चिंतन में उस यथार्थ के प्रति वही सामंजस्य होता है, जो उनके साथियों में होता है, भले ही उनमें कुछ ऐसी विशेष क्षमताएं दिखाई पड़ती हों, जो उन्हें नेताओं वाली स्तरीयता प्रदान करती हों। ज्यों ही वे पाठ्यक्रम पूरा करते हैं और अपने समुदाय में उन संसाधनों से संपन्न होकर लौटते हैं, जो उनके पास पहले नहीं थे, त्यों ही वे या तो उन संसाधनों का इस्तेमाल अपने साथियों की डूबी हुई और अधीनीकृत चेतना को नियंत्रित करने के लिए करने लगते हैं, या वे अपने समुदाय में अजनबी बन जाते हैं और उनकी पहले वाली नेतृत्व की स्थिति ख़तरे में पड़ जाती है। अपनी नेता वाली स्तरीयता बनाए रखने के लिए वे संभवतः अपने समुदाय के साथ चालबाज़ी करना जारी रखेंगे; फ़र्क़ यही होगा कि अब वे यह चालबाज़ी ज़्यादा कुशल ढंग से करेंगे।

जब सांस्कृतिक कर्म समग्र रूप में तथा समग्रता की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया के रूप में किया जाता है, तो उसकी प्रक्रिया इसके बिलकुल विपरीत होती है। उसमें या तो पहले वाले नेताओं का विकास समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति के साथ-साथ होता है, या उनकी जगह समुदाय की नई सामाजिक चेतना के परिणामस्वरूप उभरने वाले नए नेता आ जाते हैं।

उत्पीड़क संपूर्ण समुदाय की उन्नति के पक्ष मे नहीं, बल्कि उसके कुछ गिने-चुने नेताओं की उन्नति के पक्ष में होते हैं। केवल नेताओं की उन्नति से अलगाव की स्थिति बनी रहती है और चेतना का उभार तथा संपूर्ण यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप बाधित होता है। और इस आलोचनात्मक हस्तक्षेप के बिना उत्पीड़ितों का एक वर्ग के रूप में एक होना हमेशा मुश्किल होता है।

वर्गसंघर्ष उत्पीड़कों को परेशान करने वाली एक और अवधारणा है, क्योंकि वे स्वयं को उत्पीड़क वर्ग नहीं मानना चाहते। लेकिन वे चाहे जितनी कोशिश करें, सामाजिक वर्गों के अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकते, इसलिए वे श्रम ख़रीदने वालों और अपना श्रम बेचने के लिए विवश लोगों के बीच आपसी समझदारी और सामंजस्य की आवश्यकता का उपदेश दिया करते हैं।[16] लेकिन इन दोनों वर्गों का छिपाया न जा सकने वाला विरोध इस 'सामंजस्य' को असंभव बना देता है।[17] अभिजन वर्ग के लोग वर्गों के बीच सामंजस्य की बात ऐसे करते हैं, जैसे वर्ग रविवार के तीसरे पहर किसी दूकान में सजी हुई चीज़ों को उत्सुकतापूर्वक देखने वाले आकस्मिक रूप से एकत्रित लोगों के झुंड हों। सामंजस्य यदि कहीं संभव और

प्रमाण्य रूप में पाया जाता है तो स्वयं उत्पीड़कों के बीच। हालांकि समय-समय पर उनमें आपसी मतभेद और गुटीय हितों पर झगड़े तक हो सकते हैं, फिर भी जब उनके वर्ग के लिए कोई ख़तरा पैदा होता है तो वे तुरंत एक हो जाते हैं। इसी तरह, उत्पीड़ितों के बीच सामंजस्य तभी संभव है, जब वे मुक्ति के संघर्ष में संलग्न हों। कुछ अपवादस्वरूप मामलों में दोनों वर्गों का एक होना और मिल-जुलकर काम करना संभव और आवश्यक भी हो सकता है, लेकिन उन्हें एक करने वाली आपातकालीन स्थिति के गुज़रते ही वे पुनः उस अंतर्विरोध की ओर लौट जाएंगे, जो उनके अस्तित्व को परिभाषित करता है और जो वास्तव में दूर नहीं हुआ होता है।

प्रभुत्वशाली वर्ग के समस्त कर्मों में उत्पीड़ित वर्ग को विभाजित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जिसका उद्देश्य होता है उत्पीड़न की स्थिति को बनाए रखना। वह अधीनीकृत वर्गों के संगठनों में उन वर्गों के कुछ ख़ास 'प्रतिनिधियों' को ही (जो वास्तव में अपने साथियों का नहीं, बल्कि उत्पीड़क का ही प्रतिनिधित्व करते हैं) रखे जाने के पक्ष में होता है और इस प्रकार उन संगठनों में हस्तक्षेप करता है। वह नेतृत्व की क्षमताएं प्रदर्शित करने वाले उन व्यक्तियों को आगे बढ़ाता है, जो इस प्रकार 'नरम' बनाए बिना उनके लिए ख़तरनाक हो सकते हैं। वह कुछ लोगों को लाभ देता है और कुछ लोगों को दंड। ये सब अभिजनों को लाभ पहुंचाने वाली व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उत्पीड़ितों को विभाजित करने के तरीक़े हैं। ये उत्पीड़क वर्ग के उस कर्म के विविध रूप हैं, जो वह उत्पीड़ितों की कमज़ोरी से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में लाभ उठाने के लिए करता है। उत्पीड़ितों की कमज़ोरी है उनकी बुनियादी असुरक्षा और उसका कारण है उनका वह द्वैत, जो उत्पीड़क को अपने भीतर 'बसाए' रखने वाले प्राणियों के रूप में उनके अंदर पैदा होता है। एक तरफ़ वे उत्पीड़क का प्रतिरोध करते हैं; दूसरी तरफ़, उससे अपने संबंध की एक विशेष अवस्था में, वे उससे आकर्षित भी होते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में उत्पीड़क अपने विभाजनकारी कर्म के वांछित परिणाम आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।

इसके अलावा उत्पीड़ित अपने अनुभव से जानते हैं कि एक वर्ग के रूप में उन्हें संगठित होने से रोकने के लिए जो निमंत्रण उन्हें दिया जाता है, उसे स्वीकार न करने की उन्हें क़ीमत चुकानी पड़ती है—कम-से-कम इतना तो हो ही सकता है कि उन्हें काम पर से हटा दिया जाए और उनके नाम 'काली सूची' में डाल दिए जाएं, जिसका अर्थ होता है कि उन्हें अन्यत्र भी काम नहीं मिलेगा। इस प्रकार उनकी यह बुनियादी असुरक्षा उनके श्रम की दासता (जो सचमुच, जैसा कि बिशप स्पिल्ट ने ज़ोर देकर कहा है, एक मनुष्य के रूप में ख़ुद उनकी भी दासता है) से सीधी जुड़ जाती है।

मनुष्य वहीं तक परितोष प्राप्त करते हैं, जहां तक वे अपने विश्व का सृजन करते हैं (जो एक मानवीय विश्व होता है) और उसका सृजन वे अपने रूपांतरकारी श्रम से करते हैं। अतः मनुष्यों के रूप में मनुष्यों का परितोष विश्व के परितोष में निहित होता है। यदि मनुष्यों का काम-काज की दुनिया में होने का मतलब पूर्णतः परावलंबी, असुरक्षित और स्थाई रूप से ख़तरे में रहना है—अर्थात् उसका काम अपना काम नहीं है—तो उन्हें परितोष प्राप्त नहीं हो सकता। जो काम आज़ादी के साथ नहीं किया जाता, परितोषदायक नहीं रहता और अमानुषीकरण का प्रभावी साधन बन जाता है।

उत्पीड़ितों द्वारा अपनी एकता के लिए उठाया जाने वाला प्रत्येक क़दम अन्य कर्मों की ओर ले जाता है। इसका अर्थ है कि उत्पीड़ित देर-सवेर अपने निर्वैयक्तीकरण की दशा को समझ जाएंगे और यह जान लेंगे कि जब तक वे विभाजित रहेंगे, आसानी से चालबाज़ी और अधीनीकरण के शिकार होते रहेंगे। एकता और संगठन उन्हें अपनी कमज़ोरी को ऐसी रूपांतरकारी शक्ति में बदलने में समर्थ बना सकते हैं, जिससे वे विश्व को अधिक मानवीय बनाते हुए उसकी पुनर्रचना कर सकते हैं।[18] लेकिन वे जिस अधिक मानवीय विश्व की आकांक्षा करते हैं, वह उत्पीड़कों के उस 'मानवीय विश्व' का विरोधी है, जिस पर केवल उन उत्पीड़कों का स्वामित्व होता है, जो अपने (अर्थात् अमानुषिक बनाने वालों) और उत्पीड़ितों (अर्थात् अमानुषिक बनाए हुओं) के बीच एक असंभव सामंजस्य का उपदेश दिया करते हैं। चूंकि उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों के संबंध विरोधात्मक हैं, इसलिए जो चीज़ एक वर्ग के हित में होती है, दूसरे वर्ग के हितों के विरुद्ध होती है।

अतः यथास्थिति बनाए रखने के लिए किया जाने वाला विभाजन संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत का आधारभूत उद्देश्य होता है। इसके अलावा मनुष्यों को अमानुषिक बनाने तथा विभाजित करने वाले शासक अपने को उन्हीं के उद्धारक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। लेकिन उनका यह मसीहावाद उनके असली इरादे को छिपा नहीं सकता, जो यह होता है कि इसके ज़रिए उन्हें स्वयं को बचाना है। वे अपनी धन-दौलत को, अपनी सत्ता को, अपनी जीवन-शैली को बचाना चाहते हैं—अर्थात् वे उन चीज़ों को बचाना चाहते हैं, जो दूसरों को अपने अधीन बनाने में उनको समर्थ बनाती हैं। उनकी ग़लती यह है कि उत्पीड़क व्यक्ति हों या वर्ग, वे स्वयं को बचा नहीं सकते (भले ही 'बचाव' का अर्थ कोई कुछ भी लगाए)। मनुष्य अगर बच सकते हैं तो दूसरों के *साथ ही* बच सकते हैं। लेकिन जहां तक अभिजन उत्पीड़न करते हैं, वहां तक वे उत्पीड़ितों के *साथ* नहीं हो सकते, क्योंकि उत्पीड़न का सार ही उनके विरुद्ध होना है।

उत्पीड़नकारी कर्म का मनोविश्लेषण किया जाए तो पता चल सकता है कि

उत्पीड़क की 'मिथ्या उदारता' (जिसका वर्णन पहले प्रकरण में किया गया है) उसकी अपराध-भावना का एक आयाम है। इस मिथ्या उदारता से उत्पीड़क न केवल एक अन्यायपूर्ण और मृत्युप्रेमी व्यवस्था को बनाए रखता है, बल्कि अपने लिए शांति भी 'ख़रीदता' है। लेकिन वास्तविकता यह है कि शांति ख़रीदी नहीं जा सकती। शांति तो एकजुटता में और प्रेम के कर्मों में अनुभव की जाती है, जो उत्पीड़न में संभव ही नहीं है। अतः संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत का मसीहावादी तत्व इस कर्म की पहली विशेषता—अभिजिति की ज़रूरत—को ही और मज़बूत बनाता है।

चूंकि यथास्थिति को, और उसके द्वारा प्रभुत्वशालियों की सत्ता को, बनाए रखने के लिए जनता को विभाजित करना ज़रूरी है, इसलिए उत्पीड़कों के लिए यह अनिवार्य है कि वे उत्पीड़ितों को अपनी रणनीति का बोध न होने दें। इसके लिए वे उत्पीड़ितों के मन में यह पक्का विश्वास पैदा करना ज़रूरी समझते हैं कि 'हाशिए के लोगों, उपद्रवियों और ईश्वर के शत्रुओं' (मनुष्य के मानुषीकरण के साहसिक प्रयास में जीने और मरने वालों को ऐसी ही उपाधियां दी जाती हैं) के राक्षसी कृत्यों से उनकी 'रक्षा' की जा रही है। जनता को विभाजित और दिग्भ्रमित करने के लिए विध्वंसक अपने को निर्माता बताते हैं और सच्चे निर्माताओं पर विध्वसंक होने का आरोप लगाते हैं। लेकिन इतिहास खुद ही इन उपाधियों को बदल देता है। यद्यपि टिरादेंटेस[19] को सरकारी भाषा में आज भी षड्यंत्रकारी ('इनकांफिडेंट') कहा जाता है, लेकिन राष्ट्रीय नायक वह व्यक्ति नहीं है,[20] जिसने टिरादेंटेस को 'डाकू' कहा था, फांसी की सज़ा सुनाई थी, और उसके रक्तरंजित शव के टुकड़े उदाहरण के रूप में आसपास के गांवों की गलियों में फिंकवा दिए थे। राष्ट्रीय नायक टिरादेंटेस ही है। इतिहास ने अभिजनों द्वारा उसे दी गई 'उपाधि' फाड़ कर फेंक दी और उसके कर्म की वास्तविकता को पहचान लिया। नायक वे मनुष्य होते हैं, जो अपने समय में मुक्ति के लिए जनता की एकता के प्रयास करते हैं; वे नहीं, जो जनता को विभाजित करने और उस पर शासन करने के लिए अपनी सत्ता का इस्तेमाल करते हैं।

चालबाज़ी : चालबाज़ी या तिकड़म संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत का एक और आयाम है। यह भी विभाजन की रणनीति की भांति अभिजिति का एक औज़ार है—और अभिजिति वह उद्देश्य, जिसके इर्दगिर्द इस सिद्धांत के सभी आयाम चक्कर काटते हैं। चालबाज़ी (या तिकड़म) के जरिए प्रभुत्वशाली अभिजन यह कोशिश करते हैं कि जनता उनके उद्देश्यों के अनुसार चले। जनता (चाहे ग्रामीण हो या शहरी) राजनीतिक रूप से जितनी ही अपरिपक्व होगी, उतनी ही आसानी से उनकी चालबाज़ी की शिकार हो जाएगी, जो अपनी सत्ता को खोना नहीं चाहते।

जनता के साथ चालबाज़ी (तिकड़म) इसी अध्याय में ऊपर वर्णित मिथकशृंखला के जरिए तो की ही जाती है, एक और मिथक के जरिए भी की जाती है। यह मिथक है : पूंजीपति वर्ग द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला उन्नति का आदर्श, जो वास्तव में उसकी अपनी ही उन्नति की संभावनाओं का सूचक होता है। लेकिन ये मिथक तभी कारगर होते हैं, जब जनता पूंजीपतियों के शब्दों को सच मान कर स्वीकार कर लेती है।

कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में चालबाज़ी प्रभुत्वशाली और अधीनीकृत लोगों के बीच होने वाले समझौतों के जरिए की जाती है। ऐसे समझौते, सतही तौर पर देखने पर, वर्गों के बीच संवाद का-सा प्रभाव दे सकते हैं, लेकिन वास्तव में ये समझौते संवाद नहीं होते, क्योंकि इनके असली उद्देश्य प्रभुत्वशाली अभिजनों के ही हितों से निर्धारित होते हैं। अंतिम विश्लेषण में इन समझौतों का इस्तेमाल प्रभुत्वशालियों द्वारा अपनी ही स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाता है।[21] उदाहरण के लिए, जनता द्वारा तथाकथित 'राष्ट्रीय पूंजीवाद' की रक्षा के लिए तथाकथित 'राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग' को दिए जाने वाले समर्थन को देखा जा सकता है। देर-सबेर ये समझौते हमेशा जनता के अधीनीकरण को बढ़ाते हैं। ये समझौते तभी प्रस्तावित किए जाते हैं, जब जनता (भोले ढंग से ही सही) ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरने लगती है और उसका यह उभार प्रभुत्वशाली अभिजनों के लिए ख़तरा बनने लगता है। जब ऐतिहासिक प्रक्रिया में जनता की उपस्थिति मात्र दर्शक वाली नहीं रहती, बल्कि उसमें आक्रामकता के प्रारंभिक लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, तो प्रभुत्वशाली अभिजन घबरा जाते हैं और अपनी चालबाज़ी के हथकंडों को दोगुना बढ़ा देते हैं।

इस ऐतिहासिक अवस्था में चालबाज़ी प्रभुत्व को बनाए रखने का आधारभूत औज़ार बन जाती है। जनता के उभार से पहले (ठीक-ठीक कहा जाए तो) चालबाज़ी नहीं होती, बल्कि पूर्ण दमन होता है। जब उत्पीड़ित लोग लगभग पूरी तरह यथार्थ में डूबे हुए होते हैं, उनके साथ चालबाज़ी करने की ज़रूरत ही नहीं होती। संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत में चालबाज़ी ऐतिहासिक प्रक्रिया की नई और ठोस परिस्थितियों के प्रति उत्पीड़कों की प्रतिक्रिया है। चालबाज़ी के जरिए प्रभुत्वशाली अभिजन जनता को एक अप्रामाणिक क़िस्म के 'संगठन' की ओर ले जा सकते हैं, और इस प्रकार अपने लिए ख़तरनाक विकल्प—अर्थात् उभरी हुई और उभरती हुई जनता के सच्चे संगठन—से स्वयं को बचा सकते हैं।[22] उभरे और उभरते हुए लोग जब ऐतिहासिक प्रक्रिया में शामिल होते हैं, उनके सामने दो ही संभावनाएं होती हैं : या तो वे प्रामाणिक रूप से अपनी मुक्ति के लिए संगठित हों, या फिर अभिजनों की चालबाज़ी के शिकार बनें। ज़ाहिर है, शासक वर्ग जनता को प्रामाणिक संगठन के लिए प्रेरित नहीं कर सकते; यह तो क्रांतिकारी नेताओं

का ही काम है।

लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि उत्पीड़ितों के बड़े हिस्से शहरी सर्वहारा होते हैं—विशेष रूप से देश के अधिक उद्योगीकृत केंद्रों के सर्वहारा। हालांकि ये हिस्से जब-तब बेचैन हो उठते हैं, लेकिन इनमें क्रांतिकारी चेतना नहीं होती और ये स्वयं को विशेषाधिकार प्राप्त समझते हैं। छलकपट और आश्वासनों की शृंखला वाली चालबाज़ी यहां आमतौर पर खूब फलती-फूलती है।

चालबाज़ी अथवा तिकड़म का प्रतिकार आलोचनात्मक रूप से सचेत क्रांतिकारी संगठन ही कर सकता है, जो जनता के सामने ऐतिहासिक प्रक्रिया में उसकी स्थिति को, राष्ट्रीय यथार्थ को और चालबाज़ी को भी समस्या के रूप में प्रस्तुत करता है। फ्रांसिस्को वेफर्ट के शब्दों में :

> वामपंथ की समस्त नीतियां जनाधारित और जनचेतना पर निर्भर होती हैं। यदि जनता की चेतना विभ्रमित होगी तो वामपंथ अपनी जड़ों से कट जाएगा और जल्दी ही उसका एक प्रकार का पतन हो जाएगा; भले ही (जैसा कि ब्राज़ील के मामले में देखा जा सकता है) वामपंथ इस भ्रम में पड़ा रहे कि वह जल्दी से सत्ता में आकर क्रांति कर सकता है।

चालबाज़ी की स्थिति में वामपंथ प्रायः हमेशा ही एक संगठन बनाने के लिए उत्पीड़ितों के साथ मिलकर संघर्ष करने की आवश्यकता को भूल कर, और इस प्रकार प्रभुत्वशाली अभिजनों से एक असंभव 'संवाद' के निरर्थक प्रयास में लग कर 'जल्दी से सत्ता में आने' के लालच में पड़ जाता है। फलस्वरूप वह स्वयं चालबाज़ी या तिकड़म का शिकार हो जाता है और अक्सर उस अभिजनवादी खेल में शामिल होकर रह जाता है, जिसे वह 'यथार्थवाद' कहता है।

चालबाज़ी अथवा तिकड़म अभिजिति के उद्देश्य पूरे करती है और अभिजिति की तरह ही यह जनता की चेतना को सुलाने का काम करती है, ताकि जनता कुछ सोच न सके। कारण यह है कि जनता यदि ऐतिहासिक प्रक्रिया में अपनी उपस्थिति के साथ-साथ उस प्रक्रिया के बारे में आलोचनात्मक चिंतन भी करने लगेगी तो उसके उभार का ख़तरा क्रांति में परिणत हो जाएगा। इस सही चिंतन को 'क्रांतिकारी चेतना' कहा जाए चाहे 'वर्ग-चेतना', यह क्रांति की एक अपरिहार्य पूर्वशर्त है। प्रभुत्वशाली अभिजन इस तथ्य से इतनी अच्छी तरह अवगत होते हैं कि जनता को चिंतन से दूर रखने के लिए वे नैसर्गिक रूप से सभी प्रकार के साधनों का, जिनमें शारीरिक हिंसा भी शामिल है, इस्तेमाल करते हैं। वे अपनी तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि से संवाद की इस क्षमता को जान लेते हैं कि उसका विकास आलोचना की क्षमता में हो सकता है। जहां कुछ क्रांतिकारी नेता जनता से संवाद को 'पूंजीवादी और प्रतिक्रियावादी' गतिविधि समझते हैं, वहां पूंजीपति वर्ग उत्पीड़ित

जनता और क्रांतिकारी नेताओं के संवाद को वास्तविक खतरा समझते हैं और उसे टालने के उपाय करते हैं।

चालबाज़ी का एक तरीक़ा व्यक्तियों में निजी सफलता की पूंजीवादी भूख पैदा करना है। यह चालबाज़ी कभी सीधे-सीधे अभिजनों द्वारा की जाती है तो कभी परोक्ष रूप से अंधलोकवादी (पॉपुलिस्ट) नेताओं द्वारा कराई जाती है। जैसा कि वेफर्ट ने कहा है, ये नेता अल्पतंत्रीय अभिजनों और जनता के बीच बिचौलियों का काम करते हैं। अतः उत्पीड़ितों के उभार के साथ ही साथ राजनीतिक कर्म में अंधलोकवाद (पॉपुलिज़्म) का उभार अकारण नहीं, सकारण होता है। इस प्रक्रिया में उभरने वाला अंधलोकवादी (पॉपुलिस्ट) नेता एक संदिग्ध प्राणी होता है—मानो जल और स्थल दोनों पर रहने वाला उभयचर प्राणी—जो दोहरा जीवन जीता है। जनता और अल्पतंत्र के बीच आते-जाते रहने से वह दोनों की छाप लिए रहता है।

अंधलोकवादी नेता (पॉपुलिस्ट लीडर) जनता को प्रामाणिक रूप से संगठित करने के लिए संघर्ष करने के बजाए सिर्फ तिकड़म करता है। अतः इस प्रकार का नेता क्रांतिकारी नहीं होता। जनता को संगठित करने का क्रांतिकारी काम वह तभी कर सकता है, जब वह अपने संदिग्ध चरित्र और दोहरे कर्म का त्याग कर निर्णायक रूप से जनता के पक्ष में काम करे (इस प्रकार अंधलोकवादी न रह जाए) और तिकड़म छोड़ कर जनता को संगठित करने के लिए स्वयं को समर्पित कर दे। ऐसा होने पर वह जनता और अभिजनों के बीच का बिचौलिया न रह कर अभिजनों का विरोधी बन जाता है; और ऐसा होने पर अभिजन तुरंत उसे नियंत्रित या प्रतिबंधित करने के लिए एक हो जाते हैं। गेटुलियो वार्गास[23] ने राष्ट्राध्यक्ष के रूप में अपने शासन के अंतिम दौर में मई-दिवस समारोह के अवसर पर जिन नाटकीय तथा अत्यंत सुस्पष्ट शब्दों में मज़दूरों का आह्वान किया था, उस पर ध्यान दीजिए। उसने कहा था :

> मैं आपसे कहना चाहता हूं कि मेरे प्रशासन ने नवीनीकरण का जो अतिविशाल कार्य आरंभ किया है, वह मज़दूरों के समर्थन तथा उनके दैनंदिन और दृढ़ निश्चयपूर्वक किए गए सहयोग के बिना पूरा नहीं हो सकता।[24]

इसके बाद वार्गास ने अपने अंतिम शासनकाल के पहले तीन महीनों की चर्चा करते हुए उन्हें 'विपक्ष द्वारा सरकार के कामों में जहां-तहां पैदा की जा रही कठिनाइयों और बाधाओं को आंकने का समय' बताया। उसने सीधे तौर पर जनता से कहा कि वह लोगों की 'असहायता, दरिद्रता, महंगाई और कम आमदनी से अभागों की हताशा और बेहतर दिनों की आशा में जीने वाले बहुसंख्यकों की मांगों से' कितना विचलित है।

उसी भाषण में मज़दूरों से की गई उसकी अपील ने आगे चल कर अधिक वस्तुपरक स्वर अपनाया :

> मैं आपसे यह कहने आया हूं कि जनता की अर्थव्यवस्था की रक्षा करने के लिए फ़िलहाल प्रशासन के पास न तो अभी तक कोई क़ानून हैं और न कोई औज़ार। अतः यह आवश्यक है कि जनता न केवल अपने हितों की रक्षा के लिए *संगठित हो,* बल्कि सरकार को आवश्यक समर्थन का आधार प्रदान करने के लिए भी *संगठित हो,* ताकि सरकार अपने लक्ष्य पूरे कर सके।...मुझे आपकी *एकता* की ज़रूरत है। मुझे आपकी ऐसी एकजुटता की ज़रूरत है, जिससे आप स्वयं को यूनियनों में *संगठित* कर सकें। मुझे एक ऐसे *मज़बूत और संसक्तिशील ब्लॉक* के रूप में आपकी ज़रूरत है, जो सरकार का साथ दे, ताकि सरकार के पास आपकी समस्याओं को हल करने के लिए अपेक्षित पूरी ताक़त हो। मुझे आपकी *एकता* की ज़रूरत है, ताकि आप *तोड़-फोड़ करने वालों* के ख़िलाफ़ लड़ सकें, ताकि आप जनता के हितों में बाधा डालने वाले *सट्टेबाजों* और *लुटेरे धूर्तों* के हितों के *शिकार* न बन जाएं।...मज़दूरों से अपील करने का वक़्त आ गया है कि आप अपनी यूनियनों में स्वतंत्र और संगठित शक्तियों के रूप में एक हों।...इस समय श्रमजीवी संगठनों का समर्थन पाए बिना कोई प्रशासन नहीं चल सकता; उसके बिना कोई प्रशासन सामाजिक लक्ष्यों तक नहीं पहुंच सकता।

संक्षेप में, वार्गास ने अपने भाषण में जनता से अत्यंत आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए एक तथा संगठित हो जाए; और राष्ट्र-प्रमुख के रूप में उसने जनता को उन बाधाओं, अवरोधों तथा असंख्य कठिनाइयों के बारे में भी बताया, जो उसके सामने उनके *साथ* सरकार चलाते हुए आ सकती थीं। उसी क्षण से उसकी सरकार को उत्तरोत्तर अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिसकी दुखद परिणति अगस्त 1954 के चरम बिंदु पर हुई। यदि वार्गास ने अपने अंतिम शासनकाल में जनता को संगठित होने के लिए खुल कर प्रोत्साहन न दिया होता, जो आगे चल कर राष्ट्रीय हितों की रक्षा के उपायों की एक शृंखला से जाकर जुड़ा, तो संभवतः प्रतिक्रियावादी अभिजनों ने उसे समाप्त करने के आत्यंतिक क़दम न उठाए होते।

कोई भी अंधलोकवादी नेता जनता और अल्पतंत्र के बीच का बिचौलिया न रह कर जनता की ओर बढ़ेगा (चाहे प्रच्छन्न रूप में ही बढ़े) तो अल्पतंत्रों के द्वारा उसे नियंत्रित या प्रतिबंधित किया ही जाएगा—बशर्ते कि ऐसा करने के लिए अपेक्षित बल उनके पास हो। मगर जब तक ऐसा नेता स्वयं को पितृसुलभ और समाज-कल्याण वाली गतिविधियों तक ही सीमित रखता है, तब तक उसमें और

अल्पतंत्रीय गुटों में—उनके हितों को तनिक छू लेने के कारण—जब-तब थोड़ी नोंक-झोंक भले ही हो जाए, गहरे मतभेद विरले ही होते हैं। कारण यह है कि कल्याण-कार्यक्रम तिकड़म के औज़ार होते हैं और अंततः अभिजिति के उद्देश्य को पूरा करते हैं। वे आदमी को अचेत कर देने वाले एनेस्थीसिया का काम करते हैं, ताकि उत्पीड़ितों का ध्यान उनकी समस्याओं के कारणों तथा उनके ठोस समाधानों की तरफ़ से हट जाए। वे उत्पीड़ितों को ऐसे व्यक्तियों के गुटों में बांट कर छितरा देते हैं, जो केवल अपने लिए कुछ और फ़ायदे जुटा लेने की आशा में रहते हैं। लेकिन इस स्थिति में भी एक सकारात्मक तत्व मौजूद रहता है। वह यह कि जिन लोगों को सहायता मिलती है, वे और सहायता पाना चाहते हैं, और जिन लोगों को सहायता नहीं मिलती, वे सहायता पाने वालों के उदाहरण देख कर ईर्ष्यालु हो उठते हैं और स्वयं भी सहाया पाना चाहते हैं। अब चूंकि प्रभुत्वशाली अभिजन प्रत्येक व्यक्ति को 'सहायता' नहीं दे सकते, इसलिए उनका हक क़दम अंततः उत्पीड़ितों की बेचैनी बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता है।

क्रांतिकारी नेताओं को तिकड़म के कारण पैदा होने वाले अंतर्विरोधों का लाभ उठाना चाहिए। उन्हें उत्पीड़ितों को संगठित करने के उद्देश्य से तिकड़म (चालबाज़ी) को उनके सामने एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।

सांस्कृतिक आक्रमण : संवाद विरोधी कर्म के सिद्धांत की अंतिम आधारभूत विशेषता है सांस्कृतिक आक्रमण, जो विभाजनकारी हथकंडों और तिकड़मों की भांति ही अभिजिति के उद्देश्य को पूरा करती है। इस परिघटना में आक्रांता दूसरे समूह के सांस्कृतिक संदर्भ में घुसपैठ करते हैं। वे उसकी संभावनाओं की उपेक्षा करते हुए आक्रांत लोगों पर अपनी विश्वदृष्टि थोपते हैं और उनकी अभिव्यक्ति को बाधित करके उनकी सृजनात्मकता को अवरुद्ध करते हैं।

इस प्रकार सांस्कृतिक आक्रमण भद्र हो या भौंडा, आक्रांत संस्कृति के लोगों के विरुद्ध हिंसा का कर्म होता है, जिससे उनकी मौलिकता या तो खो जाती है, या उसके खो जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। सांस्कृतिक आक्रमण में (संवादविरोधी कर्म के सभी रूपों की भांति) आक्रांता पूरी प्रक्रिया के जन्मदाता और कर्ताधर्ता होते हैं, जबकि आक्रांत केवल आक्रमण की वस्तु होते हैं। आक्रांता ढालते हैं, आक्रांत ढलते हैं। आक्रांता चयन करते हैं, आक्रांत उनके चयन का अनुसरण करते हैं—या उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे अनुसरण करें। आक्रांता कर्म करते हैं और आक्रांत केवल आक्रांताओं के कर्म के जरिए कर्म करने का भ्रम पालते हैं।

आक्रमण प्रत्येक प्रकार के प्रभुत्व में होता है—कभी भौतिक और प्रत्यक्ष, तो कभी दबे-ढंके रूप में, जिसमें आक्रांता एक मददगार मित्र होने का स्वांग रचता

है। अंतिम विश्लेषण में आक्रमण आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व जमाने का एक रूप है। आक्रमण किसी केंद्रीय (मैट्रोपोलिटन) समाज की ओर से निर्भर (डिपेंडेंट) समाज पर किया जा सकता है, अथवा वह एक ही समाज में एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के प्रभुत्व में अंतर्निहित हो सकता है।

आक्रांताओं की सांस्कृतिक अभिजिति आक्रांतों को सांस्कृतिक अप्रामाणिकता की ओर ले जाती है। वे आक्रांताओं के मूल्यों, प्रतिमानों और लक्ष्यों को सही मानने लगते हैं। प्रभुत्व जमाने और दूसरों को अपनी जीवन-शैली के अनुसार ढालने के आवेश में आक्रांता यह जानना तो चाहते हैं कि आक्रांत लोग यथार्थ को कैसे समझते हैं, लेकिन उनका उद्देश्य केवल यह होता है कि वे उन पर और अधिक प्रभावी ढंग से प्रभुत्व जमा सकें।[26] सांस्कृतिक आक्रमण में यह अनिवार्य है कि आक्रांत लोग यथार्थ को अपने दृष्टिकोण से न देख कर आक्रांताओं के दृष्टिकोण से देखने लगें, क्योंकि वे आक्रांताओं की जितनी ज़्यादा नक़ल करेंगे, उतनी ही आक्रांताओं की स्थिति मज़बूत और स्थाई होगी।

सांस्कृतिक आक्रमण तभी सफल हो सकता है, जब आक्रांतों के मन में यह बात बैठ जाए कि वे अंतर्निहित रूप से ही आक्रांताओं से हीनतर हैं। चूंकि हर चीज़ का एक विलोम होता है, इसलिए यदि आक्रांत स्वयं को हीनतर मानते हैं तो उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि आक्रांता उनसे श्रेष्ठतर हैं। इससे आक्रांताओं के मूल्य आक्रांतों के लिए आदर्श बन जाते हैं। आक्रमण जितना ही सघन होता है और आक्रांत अपनी संस्कृति की भावना से तथा स्वयं अपने-आप से जितने ही अलगावग्रस्त होते हैं, उतना ही वे चाहते हैं कि वे आक्रांताओं जैसे बन जाएं। अर्थात् उन्हीं की तरह चलें-फिरें, उन्हीं की तरह सजें-धजें, उन्हीं की तरह बोलें-चालें।

आक्रांत मनुष्य का सामाजिक 'मैं', प्रत्येक सामाजिक 'मैं' की भांति, सामाजिक संरचना के सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों में निर्मित होता है और इसीलिए उसमें आक्रांत संस्कृति का द्वैत प्रतिबिंबित होता है। इस द्वैत (जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है) से पता चलता है कि आक्रांत और अधीनीकृत लोग, अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी ख़ास क्षण पर, उत्पीड़क 'तू' से लगभग 'चिपक' क्यों जाते हैं। उत्पीड़ित 'मैं' के लिए उत्पीड़क 'तू' का अधिक वस्तुपरक बोध करने के लिए उससे दूर होकर इस 'लगभग चिपकने' से मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि तभी वह उत्पीड़क से अपने अंतर्विरोध को आलोचनात्मक ढंग से समझ सकता है। ऐसा करते समय वह उस संरचना पर, जिसमें वह उत्पीड़ित हो रहा होता है, अमानुषिक बनाने वाले यथार्थ के रूप में 'विचार' करता है। विश्वबोध का यह गुणात्मक परिवर्तन व्यवहार में ही संभव है।

सांस्कृतिक आक्रमण एक तरफ़ प्रभुत्व का *औज़ार* है, तो दूसरी तरफ़ प्रभुत्व

का *परिणाम* भी है। इस प्रकार प्रभुत्वकारी चरित्र वाला सांस्कृतिक कर्म (संवाद-विरोधी कर्म के अन्य रूपों की भांति) जान-बूझकर और योजनाबद्ध ढंग से किया जाने वाला कर्म होने के अलावा एक भिन्न अर्थ में उत्पीड़नकारी यथार्थ का उत्पाद मात्र है।

उदाहरण के लिए, एक कठोर और उत्पीड़नकारी सामाजिक संरचना अपने भीतर की दो संस्थाओं—एक बच्चों का पालन-पोषण, दूसरी उनका शिक्षण—को अनिवार्य रूप से प्रभावित करती है। ये संस्थाएं उस संरचना की शैली के नमूने पर काम करती हैं और उसी के मिथकों का प्रचार-प्रसार करती हैं। घर और स्कूल (नर्सरियों से विश्वविद्यालयों तक) का अस्तित्व किसी अमूर्तन में नहीं, बल्कि निश्चित देशकाल में होता है। प्रभुत्व वाली संरचना के अंदर ये संस्थाएं बड़ी हद तक भविष्य के आक्रांताओं को तैयार करने वाली एजेंसियों के रूप में काम करती हैं।

घर में माता-पिता और बच्चे का संबंध प्रायः चारों ओर की सामाजिक संरचना की वस्तुपरक सांस्कृतिक परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता है। यदि घर में घुसपैठ करने वाली परिस्थितियां अधिकारवादी, कठोर तथा प्रभुत्व जमाने वाली हैं, तो घर में उत्पीड़न का वातावरण बढ़ेगा।[27] ज्यों-ज्यों माता-पिता और बच्चों के बीच के अधिकारवादी संबंध घनीभूत होते जाते हैं, त्यों-त्यों बच्चे अपने शैशव से ही पैतृक अधिकार को आत्मसात करते जाते हैं।

एरिक फ्रॉम ने मृत्युप्रेम और जीवनप्रेम की समस्या को (अपनी सदा की-सी स्पष्टता के साथ) प्रस्तुत करते हुए इन दोनों परिस्थितियों को जन्म देने वाली उन वस्तुपरक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है, जो घर के अंदर भी हो सकती हैं (जैसे माता-पिता और बच्चे के संबंध उदासीनता और उत्पीड़न वाले हैं, या प्रेम और स्वतंत्रता वाले) और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में भी हो सकती हैं। प्रेमविहीनता और उत्पीड़न के वातावरण में पलने वाले बच्चों की संभावनाएं दबा दी जाती हैं। ऐसे बच्चे यदि अपनी युवावस्था में प्रामाणिक विद्रोह के मार्ग पर नहीं चल पाते तो अमानुषीकरण वाली दो दिशाओं में चले जाते हैं : वे या तो अधिकारियों के द्वारा तथा उन मिथकों के द्वारा, जो उन्हें 'ढालने' के लिए अधिकारियों के द्वारा इस्तेमाल किए जाते हैं, यथार्थ से कट कर पूर्ण उदासीनता की ओर बह जाते हैं, या वे विध्वंसक कर्म के विभिन्न रूपों में उलझ जाते हैं।

घर का वातावरण स्कूल में भी जारी रहता है, जहां छात्रों को जल्दी ही पता चल जाता है (जैसे घर में पता चल जाता है) कि तनिक-सा भी संतोष प्राप्त करने के लिए उन्हें ऊपर से जारी किए गए निर्देशों के अनुसार स्वयं को अनुकूलित करना पड़ेगा। उनमें से एक निर्देश यह होता है कि सोचो मत।

इस प्रकार युवा लोग माता-पिता के अधिकार वाली उस कठोर संबंध-संरचना

को, जिस पर स्कूल में भी ज़ोर दिया जाता है, आत्मसात कर लेते हैं और जब वे पेशेवर शिक्षक बनते हैं, तो (चूंकि उन संबंधों के द्वारा उनमें स्वतंत्रता का भय भर दिया गया होता है) स्वयं भी उन्हीं कठोर नमूनों को दोहराने लगते हैं, जिनमें उनहें कुशिक्षित किया गया होता है। पेशेवर शिक्षकों में से ज़्यादातर संवादविरोधी कर्म से क्यों चिपके रहते हैं, इसका उत्तर उनके वर्गीय दृष्टिकोण के अलावा इसी परिघटना में मिल सकता है।[28] वे चाहे किसी भी तरीक़े से जनता के संपर्क में आएं, उनके मन में लगभग अटल विश्वास रहता है कि उनका काम जनता को अपना ज्ञान और तकनीकें 'देना' है। वे स्वयं को जनता का 'उन्नायक' समझते हैं। उनके कार्यक्रमों में (जो उत्पीड़क कर्म के किसी अच्छे सिद्धांतकार द्वारा दिए गए निर्देश पर बने होते हैं) उनके अपने ही उद्देश्य होते हैं, उनके अपने ही दृढ़ विश्वास होते हैं, और उनके अपने ही सरोकार होते हैं। वे जनता की बात नहीं सुनते, बल्कि इसके बजाए जनता को सिखाना चाहते हैं कि 'पिछड़ापन पैदा करने वाले इस आलसीपन को छोड़ो।' इन पेशेवर शिक्षकों को जनता की 'विश्वदृष्टि' का आदर करना ऊलजलूल लगता है, क्योंकि उनके पास अपना एक 'विश्वदर्शन' होता है। उन्हें यह बात भी उतनी ही ऊलजलूल लगती है कि शैक्षिक कर्म के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का संगठन करते समय जनता की सलाह अवश्य ली जानी चाहिए। उन्हें लगता है कि जनता का अज्ञान इतना परिपूर्ण है कि पेशेवर शिक्षकों की शिक्षाओं को ग्रहण करने के अलावा वह कुछ भी करने के योग्य नहीं है।

लेकिन अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी विशेष बिंदु पर वे लोग, जिनकी संस्कृति पर आक्रमण किया गया है, किसी न किसी रूप में इस आक्रमण को ख़ारिज करने लगते हैं (भले ही पहले वे उससे अनुकूलित रहे हों)। तब पेशेवर शिक्षक अपनी असफलता को उचित ठहराने के लिए कहने लगते हैं कि आक्रांत समूह के सदस्य 'हीनतर' हैं, क्योंकि वे 'कृतघ्न' हैं, 'अक्षम' हैं, 'रोगग्रस्त' हैं या 'मिश्रित रक्त वाले' हैं।

सदाशयी पेशेवर शिक्षक (अर्थात् वे जो 'आक्रमण' का प्रयोग जानी-बूझी विचारधारा के रूप में नहीं करते, बल्कि अपने संस्कारों की अभिव्यक्ति के रूप में करते हैं) धीरे-धीरे यह जान लेते हैं कि उनकी कतिपय शैक्षणिक असफलताओं की वजह 'जनता के सीधे-सादे मनुष्यों' की अंतर्निहित हीनता नहीं, बल्कि उनके अपने ही आक्रमणकर्म की हिंसा है। जो लोग यह जान लेते हैं, उनके सामने एक कठिन समस्या आती है : वे आक्रमण को त्यागने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, लेकिन प्रभुत्व के नमूने उनके अंदर इस प्रकार जड़ जमाए बैठे होते हैं कि इस त्याग से उन्हें अपनी पहचान ही ख़तरे में पड़ती दिखाई देती है। आक्रमण को त्यागने का अर्थ होगा अपने उस द्वैत को समाप्त करना, जिसके कारण प्रभुत्व का शिकार व्यक्ति स्वयं को प्रभुत्वशाली समझता है। इसका अर्थ होगा आक्रमण को

पोषित करने वाले सभी मिथकों को त्यागना और संवादात्मक कर्म को अपने व्यवहार में उतारना। इसी कारण से इसका अर्थ होगा जनता के *साथ* (साथियों की तरह) रहने के लिए जनता के *ऊपर या भीतर* (विदेशियों की तरह) न रहना। अतः इन लोगों को स्वतंत्रता का भय जकड़ लेता है। यह उनके लिए मानसिक आघात की प्रक्रिया होती है, जिसमें स्वभावतः उनकी प्रवृत्ति टालमटोल या बहानेबाज़ी के अनेक तरीक़ों से अपने भय को तर्कसंगत बनाने की होती है।

स्वतंत्रता का भय उन पेशेवर शिक्षकों में और ज़्यादा होता है, जो स्वयं अभी अपने कर्म की आक्रमणकारी प्रकृति को जान नहीं पाए हैं, और जिन्हें बताया जाता है कि उनका कर्म अमानुषिक बनाने वाला कर्म है। हमारे प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के सहभागी अक्सर—और विशेष रूप से ठोस स्थितियों का अवकोडन करते समय—झुंझलाकर संयोजक से पूछते हैं : "आख़िर आप हमें कहां हांक ले जाना चाहते हैं ?" संयोजक उन्हें कहीं 'हांक' नहीं रहा होता है। होता सिर्फ़ यह है कि सहभागी जब एक ठोस स्थिति का सामना समस्या के रूप में करते हैं तो वे समझने लगते हैं कि यदि उनका विश्लेषण कुछ और गहराई में गया तो उन्हें या तो अपने मिथकों को वस्त्रों की भांति उतार फेंकना पड़ेगा, या उनकी अभिपुष्टि करनी पड़ेगी। उस क्षण अपने मिथकों को छोड़ना या उतार फेंकना उन्हें अपने प्रति की जाने वाली हिंसा जैसा लगता है। दूसरी तरफ़, उन मिथकों की अभिपुष्टि करना उन्हें अपना भेद खोल देने जैसा प्रतीत होता है। मैंने 'इंट्रोडक्शन ए ला एक्शन कल्चरल' में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इन दोनों चीजों से बचने का एक ही उपाय है (जो एक प्रतिरक्षा-प्रणाली का काम करता है) कि वे जो काम सामान्यतः स्वयं करते हैं—अर्थात् हांकना, जीतना, हमला करना—उसे संयोजक के मत्थे मढ़ दें।

यह यथार्थ से मुकरना है और यह चीज़ (हालांकि छोटे पैमाने पर) जनता के उन लोगों में भी दिखाई पड़ती है, जो उत्पीड़न की एक ठोस स्थिति में निर्मित और दया द्वारा पालतू बनाए हुए होते हैं। 'फुल सर्कल'[29] नामक संस्था द्वारा न्यूयार्क में रॉबर्ट फॉक्स के संयोजन में चलाए जा रहे एक मूल्यवान शैक्षिक कार्यक्रम में शामिल एक शिक्षक ने एक घटना का वर्णन किया है : न्यूयार्क की एक गंदी बस्ती ('घेट्टो') में रहने वाले लोगों के एक समूह के सामने एक कोडित (सांकेतिक) स्थिति प्रस्तुत की गई। उसमें दिखाया गया था कि गली के एक नुक्कड़ पर—और यह वही गली थी, जिसमें उस समूह की बैठक हो रही थी—कूड़े का बहुत बड़ा ढेर पड़ा हुआ है। उसे देखते ही एक सहभागी ने कहा, "मैं अफ्रीका या लैटिन अमेरिका की एक गली देख रहा हूं।" शिक्षक ने पूछा, "यह न्यूयार्क की एक गली क्यों नहीं हो सकती ?" उत्तर मिला, "क्योंकि हम संयुक्त राज्य हैं और यहां ऐसा नहीं हो सकता।" निस्संदेह यह आदमी, और उससे सहमत उसके

कुछ साथी, उस यथार्थ से मुकर रहे थे, जो उनके लिए इतना आक्रामक था कि उसे स्वीकार करना भी उन्हें ख़तरनाक लग रहा था। उपलब्धि और निजी सफलता की संस्कृति से अनुकूलित एक अलगावग्रस्त आदमी अपने लिए वस्तुपरक रूप से प्रतिकूल स्थिति को समझने से भी डरता है। उसे लगता हैं कि ऐसा करने से उसकी अपनी सफलता की संभावनाएं बाधित होंगी।

इस दृष्टांत के मामले में, और पेशेवर शिक्षकों वाले मामले में भी, संस्कृति की उस निर्धारक शक्ति को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जो उन मिथकों का विकास करती है, जिन्हें बाद में मनुष्य आत्मसात कर लेते हैं। दोनों मामलों में प्रभुत्वशाली वर्ग की संस्कृति मनुष्यों की इस स्वीकृति (अभिपुष्टि) को बाधित करती है कि वे भी निर्णय ले सकने वाले मनुष्य हैं। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में सक्रिय कर्ताओं की तरह बोलने और कर्म करने का काम न तो पेशेवर शिक्षक करते हैं, न न्यूयार्क की उस गंदी बस्ती की बहस के सहभागी। उनमें से कोई भी प्रभुत्व का विचारक या सिद्धांतकार नहीं है। इसके विपरीत, वे प्रभुत्व के *परिणाम* हैं, जो बदले में प्रभुत्व के *कारण* बन जाते हैं। यह एक अत्यंत गंभीर समस्या है, जिसका सामना क्रांति को सत्ता में पहुंचने पर करना पड़ता है। यह अवस्था नेताओं से अधिकतम राजनीतिक समझदारी, निर्णय और साहस की मांग करती है, जिनके पास इसी कारण से इतना विवेक होना चाहिए कि वे अविवेकपूर्ण संकीर्णतावादी दृष्टिकोण न अपना लें।

पेशेवर लोग चाहे किसी भी क्षेत्र के हों, और वे विश्वविद्यालयों के स्नातक हों या न हों, 'ऊपर से निर्धारित'[30] किए गए होते हैं। (यदि वे निम्न वर्गों के सदस्य होते, तो भी उनकी यह कुशिक्षा और ज्यादा ख़राब नहीं तो ऐसी ही हुई होती।) लेकिन नए समाज के पुनर्गठन के लिए ये पेशेवर लोग आवश्यक हैं। और चूंकि उनमें से बहुत-से—भले ही 'स्वतंत्रता से भयभीत' हों और मानुषीकरण के कर्म में लगने से हिचकते हों—और कुछ नहीं, सिर्फ़ बहकाए और भटकाए गए लोग होते हैं, इसलिए क्रांति न केवल उन्हें सही रास्ते पर ला सकती है, बल्कि उसे उन्हें सही रास्ते पर लाना ही चाहिए।

इसके लिए ज़रूरी है कि क्रांतिकारी नेता, जो पहले संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म कर रहे थे, अब आगे बढ़ कर 'सांस्कृतिक क्रांति' आरंभ करें। इस बिंदु पर क्रांतिकारी सत्ता की भूमिका मनुष्यों का निषेध करना चाहने वालों के सामने एक आवश्यक बाधा उपस्थित करने से आगे बढ़ जाती है। अब वह एक नया और अधिक साहसिक दृष्टिकोण अपनाती है और उन सभी को स्पष्ट *निमंत्रण* देती है, जो समाज के पुनर्निर्माण में सहभागी होना चहाते हैं। इस अर्थ में 'सांस्कृतिक क्रांति' उस संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म को ही जारी रखना है, जो क्रांति के सत्ता में पहुंचने से पहले अवश्य किया जाना चाहिए।

'सांस्कृतिक क्रांति' का उद्देश्य संपूर्ण समाज का पुनर्निर्माण करना होता है, जिसमें समस्त मानवीय गतिविधियों को नए सांचे में ढालना शामिल है। समाज का पुनर्निर्माण यांत्रिक ढंग से नहीं किया जा सकता। उसके लिए आधारभूत औज़ार है क्रांति के द्वारा सांस्कृतिक रूप से पुनर्सृजित संस्कृति। 'सांस्कृतिक क्रांति' क्रांतिकारी शासन द्वारा विवेकीकरण के लिए किया जाने वाला अधिकतम प्रयास है, जो प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचना चाहिए, भले ही उसका काम कुछ भी हो।

अतः विवेकीकरण के लिए किया जाने वाला प्रयास कुछ लोगों को विशेषज्ञ बनाने वाले वैज्ञानिक और तकनीकी प्रशिक्षण तक सीमित नहीं रह सकता। नया समाज आंशिक रूप से नहीं, बल्कि गुणात्मक रूप से पुराने समाज से भिन्न होता है।[31] क्रांतिकारी समाज में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लक्ष्य वे ही नहीं हो सकते, जो उससे पहले वाले समाज में होते थे। तदनुसार, दोनों समाजों में मनुष्यों का प्रशिक्षण भी भिन्न प्रकार से होना आवश्यक है। वैज्ञानिक और तकनीकी प्रशिक्षण का मानवतावादी शिक्षा से कोई विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्रांतिकारी समाज में विज्ञान और प्रौद्योगिकी स्थाई मुक्ति के लिए, अर्थात् मानुषीकरण के लिए प्रयुक्त होते हैं।

इस दृष्टि से किसी भी काम के लिए (क्योंकि सभी काम देश और काल में होते हैं) मनुष्यों का प्रशिक्षण करते समय एक तो संस्कृति को एक ऐसी अधिरचना (सुपरस्ट्रक्चर) के रूप में समझना आवश्यक है, जो अल्थूसर के शब्दों में, अतीत के अवशेषों को उस अवरचना (सबस्ट्रक्चर) में जीवित बनाए रखती है, जिसका क्रांतिकारी रूपांतरण हो रहा होता है; दूसरे, उस काम को भी, जिसका प्रशिक्षण दिया जा रहा है, सांस्कृतिक रूपांतरण के एक औज़ार के रूप में समझना आवश्यक है। सांस्कृतिक क्रांति ज्यों-ज्यों नए समाज के सृजनात्मक आचरण में विवेकीकरण को गहन बनाएगी, त्यों-त्यों मनुष्य नए समाज में जीवित बचे रह गए पुराने समाज के मिथकीय अवशेषों को देखने लगेंगे। और तब मनुष्य इन प्रेतों से अपना पिंड ज्यादा तेज़ी से छुड़ा सकेंगे, जो नए समाज की नैतिक उन्नति में बाधक बन कर प्रत्येक क्रांति के लिए गंभीर समस्या बनते रहे हैं। इन सांस्कृतिक अवशेषों के जरिए उत्पीड़क समाज लगातार आक्रमण करता है—और इस बार वह क्रांतिकारी समाज पर ही आक्रमण करता है।

यह आक्रमण विशेष रूप से भयंकर होता है, क्योंकि यह प्रभुत्वशाली अभिजनों के पुनः संगठित हो जाने पर उनके द्वारा नहीं, बल्कि उन मनुष्यों के द्वारा किया जाता है, जो क्रांति में भागीदार रह चुके हैं। ऐसे मनुष्य, जिनके भीतर उत्पीड़क 'घर किए रहता' है, क्रांति द्वारा आवश्यक रूप से उठाए जाने वाले अगले बुनियादी क़दमों का प्रतिरोध उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार उत्पीड़क स्वयं करते। और दोहरे प्राणियों के रूप में वे उस सत्ता को भी (पुरानी भावनाओं के

अवशेषों के कारण ही) स्वीकार कर लेते हैं, जो नौकरशाही में बदल जाती है और हिंसक रूप में उनका दमन करती है। पुनः इस हिंसक रूप में दमनकारी नौकरशाही वाली सत्ता की व्याख्या भी उसी चीज़ से हो सकती है, जिसे अल्थूसर 'पुराने तत्वों का पुनः सक्रिय हो जाना'[32] कहते हैं। ये पुराने तंत्व नई व्यवस्था में हर बार विशिष्ट परिस्थितियों में अवसर पाकर सक्रिय हो जाते हैं।

उपर्युक्त सभी कारणों से मैं क्रांतिकारी प्रक्रिया की व्याख्या संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म के रूप में करता हूं, जो सत्ता प्राप्ति के बाद 'सांस्कृतिक क्रांति' के रूप में जारी रहता है। दोनों अवस्थाओं में विवेकीकरण का गहन-गंभीर प्रयास आवश्यक है। विवेकीकरण वह आवश्यक साधन है, जिससे मनुष्य सच्चे आचरण के द्वारा वस्तुओं के स्तर को छोड़ कर ऐतिहासिक कर्ताओं का स्तर ग्रहण करते हैं।

अंततः सांस्कृतिक क्रांति से नेताओं और जनता के बीच स्थाई संवाद के व्यवहार का विकास होता है और सत्ता में जनता की सहभागिता सुदृढ़ होती है। इस प्रकार, जब नेता और जनता अपनी आलोचनात्मक गतिविधि को जारी रखेंगे, तो क्रांति को नौकरशाही वाली प्रवृत्तियों से (जो उत्पीड़न के नए रूपों की ओर ले जाती हैं) और आक्रमण से (जो हमेशा एक जैसा ही होता है) अपनी रक्षा करने में अधिक आसानी होगी। आक्रांता—चाहे वह पूंजीवादी समाज में हो या क्रांतिकारी समाज में—कोई भी हो सकता है। वह कोई कृषिशास्त्री या समाजशास्त्री हो सकता है, अर्थशास्त्री या जन-स्वास्थ्य अभियंता हो सकता है, पुजारी या पुरोहित हो सकता है, शिक्षक या सामाजिक कार्यकर्ता हो सकता है—यहां तक कि एक क्रांतिकारी भी हो सकता है।

सांस्कृतिक आक्रमण अभिजिति के उद्देश्य से तथा उत्पीड़न को बनाए रखने के उद्देश्य से किया जाता है, उसमें हमेशा यथार्थ का एक संकीर्ण दृष्टिकोण, विश्व का एक जड़ीभूत बोध, और एक विश्व-दृष्टि को दूसरी विश्व-दृष्टि पर थोपना शामिल रहता है। इसमें आक्रांता को श्रेष्ठ और आक्रांतों को हीन मान कर चला जाता है। इसमें आक्रांता के मूल्यों को आक्रांतों पर थोपा जाता है, क्योंकि आक्रांता आक्रांतों का स्वामी होता है और उसे डर होता है कि कहीं आक्रांत उसकी पकड़ से छूट कर निकल न भागें।

सांस्कृतिक आक्रमण का अर्थ यह भी है कि आक्रांतों को क्या करना चाहिए, इसका निर्णय करने का अंतिम अधिकार उन्हें नहीं, बल्कि आक्रांतों को होता है। और जब निर्णय करने का अधिकार जिस मनुष्य को निर्णय करना चाहिए, उसके अंदर न होकर कहीं बाहर होता है, तो वह निर्णय नहीं करता, केवल निर्णय करने के भ्रम में रहता है। यही कारण है कि दोहरे, 'प्रतिवर्ती' (रिफ्लेक्स) आक्रांत समाज में कोई सामाजिक-आर्थिक विकास नहीं हो सकता। विकास के लिए दो चीज़ें

आवश्यक हैं : एक तो अन्वेषण और सृजनशीलता का एक आंदोलन, जिसमें निर्णय करने का अधिकार अन्वेषकों के पास हो; दूसरे, यह आंदोलन 'देश' (स्पेस) में ही नहीं, बल्कि सचेत अन्वेषक के अस्तित्वगत 'काल' (टाइम) में भी चलना चाहिए।

इस प्रकार समस्त विकास रूपांतरण है, किंतु समस्त रूपांतरण विकास नहीं है। एक बीज में होने वाला रूपांतरण, जो अनुकूल परिस्थितियों में अंकुरित होकर उग आता है, विकास नहीं है। इसी प्रकार किसी पशु में होने वाला रूपांतरण भी विकास नहीं है। बीजों और पशुओं में होने वाले रूपांतरण उनकी प्रजातियों से निर्धारित होते हैं; और ये रूपांतरण उस समय होते हैं, जो समय उनका अपना नहीं होता; क्योंकि समय मनुष्य का होता है।

समस्त जीव अपूर्ण हैं, किंतु उनमें मनुष्य ही ऐसे हैं, जो विकास करते हैं। ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक और 'स्वाधीन प्राणी' होने के कारण उनका रूपांतरण (विकास) उनके अपने अस्तित्वगत समय में होता है, कभी उसके बाहर नहीं होता। उत्पीड़न की ठोस परिस्थितियों के अधीन रहने वाले मनुष्य अलगावग्रस्त होकर 'पराधीन प्राणी' बन जाते हैं, और वह दूसरा भी 'मिथ्या स्वाधीन प्राणी' होता है, जिसके अधीन वे रहते हैं। अतः वे अपना प्रामाणिक विकास करने में असमर्थ हो जाते हैं। चूंकि वे निर्णय की अपनी शक्ति से वंचित हो जाते हैं, और निर्णय की शक्ति उत्पीड़क के पास होती है, इसलिए वे उत्पीड़क के निर्देशों का पालन करते हैं। उत्पीड़ित लोग तभी अपना विकास शुरू करते हैं, जब वे स्वयं को जकड़े रहने वाले अंतर्विरोध को समाप्त करके 'स्वाधीन प्राणी' बन जाते हैं।

यदि हम समाज की कल्पना एक प्राणी के रूप में करें, तो स्पष्ट है कि वही समाज अपना विकास कर सकता है, जो 'स्वाधीन प्राणी' हो। दोहरे, 'प्रतिवर्ती', आक्रांत और पराधीन समाज अपना विकास नहीं कर सकते; क्योंकि उनकी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक निर्णय लेने की शक्ति उनके भीतर नहीं, बल्कि उनके बाहर केंद्रीय (मैट्रोपोलिटन) समाज में होती है। अंतिम विश्लेषण में आक्रांता समाज आक्रांत समाजों के भाग्य का निर्धारण करता है। यह महज रूपांतरण होता है, क्योंकि वे जिस केंद्रीय समाज के अधीन होते हैं, उसके हित में उनका रूपांतरण ही होता है, *विकास नहीं*।

यह अत्यंत आवश्यक है कि आधुनिकीकरण को विकास न समझ लिया जाए। हालांकि आधुनिकीकरण 'उपग्रह समाज' (किसी केंद्रीय समाज के अधीन का समाज) के कुछ समूहों को प्रभावित कर सकता है, फिर भी वह लगभग हमेशा ही केंद्रीय समाज द्वारा बहला-फुसला कर कराया जाता है और उसके वास्तविक लाभ भी केंद्रीय समाज ही उठाता है। जो समाज अपना विकास किए बिना महज अपना आधुनिकीकरण कर लेता है—भले ही ऐसा करने के लिए उसे निर्णय करने

की न्यूनतम शक्तियां सौंप दी गई हों—बाहरी देश के अधीन ही रहता है। किसी भी पराधीन समाज की नियति, जब तक वह पराधीन रहता है, यही होती है।

यह निश्चय करने के लिए कि कोई समाज विकास कर रहा है या नहीं, प्रति व्यक्ति आय के आंकड़ों पर आधारित प्रतिमानों से (जो सांख्यिकीय रूपों में व्यक्त किए जाने के कारण गुमराह करने वाले होते हैं) तथा सकल आय के अध्ययन पर केंद्रित प्रतिमानों से भी परे जाना निहायत ज़रूरी है। बुनियादी और प्राथमिक प्रतिमान यह है कि समाज 'स्वाधीन' है या नहीं। यदि समाज स्वाधीन नहीं है, तो अन्य प्रतिमान उसके विकास को नहीं, बल्कि आधुनिकीकरण को ही सूचित करते हैं।

दोहरे समाजों का मुख्य अंतर्विरोध वह अधीनता वाला संबंध है, जो उनके और केंद्रीय समाज के बीच होता है। यदि इस अंतर्विरोध को हल कर लिया जाए तो अब तक समाज का जो रूपांतरण 'सहायता' के जरिए हो रहा था, और जिससे प्राथमिक रूप से केंद्रीय समाज ही लाभान्वित हो रहा था, सच्चा विकास बन जाता है और स्वाधीन समाज को लाभ पहुंचाता है।

उपर्युक्त कारणों से इन समाजों द्वारा किए जाने वाले शुद्ध सुधारात्मक समाधानों के उपायों से (भले ही उनमें से कुछ सुधार अभिजन समूह को डराने वाले, यहां तक कि आतंकित कर देने वाले भी हों) उनके बाहरी और भीतरी अंतर्विरोध हल नहीं होते। ये सुधारवादी समाधान प्रायः हमेशा ही ऐतिहासिक प्रक्रिया की मांगों के जवाब में केंद्रीय समाज द्वारा अपने वर्चस्व को बनाए रखने के एक नए तरीक़े के रूप में बहला-फुसला कर कराए जाते हैं। यह ऐसा ही है जैसे केंद्रीय समाज कह रहा हो, "जनता क्रांति करे, इसके पहले ही हमें सुधार कर देने चाहिए।" और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए केंद्रीय समाज के पास इसके सिवा कोई विकल्प नहीं होता कि वह अपने अधीन समाज पर विजय प्राप्त करे, उसके साथ तिकड़म करे, उस पर आर्थिक और सांस्कृतिक (और कभी-कभी सैनिक) आक्रमण करे। यह ऐसा आक्रमण होता है, जिसमें अधीनस्थ समाज के अभिजन नेता एक बड़ी हद तक महज केंद्रीय समाज के नेताओं के दलालों के रूप में काम करते हैं।

संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत के इस कामचलाऊ विश्लेषण को समाप्त करने के लिए, मैं यह बात दोहराना चाहता हूं कि क्रांतिकारी नेताओं को उत्पीड़कों के द्वारा अपनाए जाने वाले संवादविरोधी तौर-तरीके हरगिज़ नहीं अपनाने चाहिएं; बल्कि, इसके विपरीत, उन्हें संवाद और संप्रेषण के मार्ग पर चलना चाहिए।

संवादात्मक कर्म के सिद्धांत का विश्लेषण शुरू करने से पहले संक्षेप में क्रांतिकारी नेतृत्व समूह के निर्माण की प्रक्रिया और क्रांतिकारी प्रक्रिया के कुछ ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय परिणामों की चर्चा करना अत्यंत आवश्यक है।

आमतौर पर यह नेतृत्वसमूह उन मनुष्यों से बनता है, जो किसी-न-किसी रूप में प्रभुत्वशालियों के सामाजिक स्तर से जुड़े होते हैं। अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी विशेष बिंदु पर, किन्हीं विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में, ये मनुष्य अपने वर्ग को त्याग कर जनता के साथ सच्ची एकजुटता के कर्म में (अथवा उसकी संभावना के साथ) उत्पीड़ितों से आ मिलते हैं। उत्पीड़ितों से उनका यह जुड़ाव यथार्थ के वैज्ञानिक विश्लेषण का परिणाम हो या न हो, (यदि यह जुड़ाव प्रामाणिक है तो) प्रेम के कर्म और सच्ची प्रतिबद्धता का द्योतक है।[33] उत्पीड़ितों से जुड़ने के लिए ज़रूरी है कि आप उनके पास जाएं और उनसे संवाद करें। यह अनिवार्य है कि जनता स्वयं को उभरते हुए नेताओं में पाए और नेता स्वयं को जनता में पाएं।

इस प्रकार उभर कर आने वाले नेताओं में अनिवार्यतः प्रभुत्वशाली अभिजनों का वह अंतर्विरोध प्रतिबिंबित होता है, जो उत्पीड़ितों द्वारा उन्हें बताया जाता है; भले ही अभी उत्पीड़ित अपने उत्पीड़न की दशा को स्पष्ट रूप से न देख पाते हों या उत्पीड़कों से अपने विरोधात्मक संबंध को आलोचनात्मक ढंग से न समझ पाते हों।[34] वे अब भी उस दशा में हो सकते हैं, जिसे मैं उत्पीड़क से 'चिपके रहने' की दशा कह चुका हूं। दूसरी तरफ़, यह संभव है कि कुछ वस्तुपरक ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण वे अपने उत्पीड़न की दशा का अपेक्षाकृत स्पष्ट बोध पहले ही प्राप्त कर चुके हों।

पहले मामले में उत्पीड़क से लोगों का पूर्णतः या अंशतः चिपके रहना उनके लिए असंभव बना देता है (फ्रांज फ़ैनन की बात दोहराएं तो) कि वे उत्पीड़क को अपने *बाहर* देख सकें। दूसरे मामले में वे उत्पीड़क को देख सकते हैं और उससे अपने विरोधात्मक संबंध को आलोचनात्मक ढंग से समझ सकते हैं।

पहले मामले में उत्पीड़क लोगों के भीतर 'घर किए रहता' है और इससे जो अस्पष्टता पैदा होती है, वह उन्हें स्वतंत्रता से भयभीत बना देती है। वे (उत्पीड़क से प्रेरित होकर) जादुई व्याख्याओं अथवा ईश्वर संबंधी मिथ्या दृष्टिकोण की शरण में चले जाते हैं और अपनी उत्पीड़ित दशा की सारी ज़िम्मेदारी भाग्यवादी ढंग से ईश्वर पर डाल देते हैं।[35] यह अत्यंत अनहोनी-सी बात है कि ये आत्म-संदेही, दबे-कुचले और हताश लोग स्वयं अपनी मुक्ति का प्रयास करें, क्योंकि यह तो विद्रोह का काम होगा, जिसे वे ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध की गई अवज्ञा अथवा नियति के विरुद्ध व्यर्थ ही लड़ाई मोल लेना मान सकते हैं। (इसीलिए मैं बार-बार इस ज़रूरत पर जोर देता हूं कि उत्पीड़कों द्वारा जो मिथक जनता को पिलाए जाते रहते हैं, उन्हें समस्या के रूप में उठाया जाए।) दूसरे मामले में, जब लोग उत्पीड़न को अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप में समझने लगते हैं, और यह समझ उन्हें उत्पीड़क को अपने से बाहर देखने की ओर ले जाती है, तो वे उस अंतर्विरोध को, जिसमें वे

फंसे हुए होते हैं, दूर करने के लिए संघर्ष करने लगते हैं। इसी क्षण वे 'वर्गीय आवश्यकता' और 'वर्गीय चेतना' के बीच की दूरी को लांघते हैं।

पहले मामले में, दुर्भाग्य से और अनजाने ही, जनता क्रांतिकारी नेताओं का विरोध करती है। दूसरे मामले में जनता उभरते हुए नेताओं को सहानुभूतिपूर्ण और लगभग तंत्काल समर्थन देती है और यह समर्थन क्रांतिकारी कर्म की प्रक्रिया के दौरान बढ़ने वाला होता है। नेता स्वतःस्फूर्त संवादात्मक ढंग से जनता के पास आते हैं। दोनों के बीच लगभग तुरंत एक समानुभूति (एंपैथी) उत्पन्न हो जाती है और उनकी पारस्परिक प्रतिबद्धता पर तत्काल मुहर लग जाती है। एक-दूसरे के साथी बन कर वे स्वयं को प्रभुत्वशाली अभिजनों के सहविरोधी समझने लगते हैं। इसके बाद से जनता और नेताओं के बीच स्थापित संवाद लगभग अटल हो जाता है। सत्ता में पहुंचने पर भी यह संवाद जारी रहेगा और जनता यह जानेगी कि *वही* सत्ता में आई है।

यह साझेदारी क्रांतिकारी नेताओं से अपेक्षित संघर्ष की भावना, साहस, प्रेम करने की क्षमता और निर्भीकता को किसी भी प्रकार से कम नहीं करती। फिडेल कास्ट्रो और उनके साथी (जिन्हें उस समय कई लोग 'ग़ैरज़िम्मेदार दुस्साहसी' कहते थे) प्रमुखतः एक संवादात्मक नेतृत्व समूह थे, जिन्होंने बटिस्टा की तानाशाही की क्रूर हिंसा को झेलने वाली जनता से तादात्म्य किया था। जनता से उनका यह जुड़ाव आसान नहीं था। इसके लिए नेताओं में ऐसी बहादुरी का होना आवश्यक था कि वे लोगों से इतना प्यार कर सकें कि लोग उनके लिए अपना बलिदान कर दें। इसके लिए नेताओं को ऐसा साहसिक साक्ष्य प्रस्तुत करना आवश्यक था कि वे प्रत्येक पराजय के बाद, भावी विजय के प्रति अदम्य आशा से परिचालित होकर (क्योंकि वह विजय जनता के *साथ* प्राप्त की जानी थी) पुनः संघर्ष आरंभ कर सकते हैं और ऐसी विजय प्राप्त कर सकते हैं, जो केवल नेताओं की नहीं, बल्कि नेताओं *और* जनता की विजय होगी—अथवा नेताओं *सहित* जनता की विजय होगी।

फिडेल ने धीरे-धीरे क्यूबा की जनता के जुड़ाव का ध्रुवीकरण किया। जनता अपने ऐतिहासिक अनुभव के कारण पहले से ही उत्पीड़क से अपने जुड़ाव को समाप्त करने लगी थी। उत्पीड़क से जनता के इस 'दूर होने' से जनता उसे वस्तुपरक ढंग से और स्वयं को उसके विरोधी के रूप में देखने लगी। दूसरी तरफ़ फिडेल का जनता से कभी कोई विरोध नहीं हुआ। (यह और बात है कि समय-समय पर कुछ साथी साथ छोड़ जाएं या धोखा दे जाएं। चे गुएवारा ने 'रिलैटो डि ला गुएर्रा रिवोल्यूशनारिया' में इस तरह के मामले दर्ज़ किए हैं, जिनमें उन्होंने कई ऐसे लोगों का भी उल्लेख किया है, जो जुड़े रहे। लेकिन यह तो होता ही है)।

इस प्रकार, विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण, क्रांतिकारी नेताओं का जनता की ओर जाना या तो समस्तरीय ढंग का होता है—जिससे नेता और जनता उत्पीड़क से अपने अंतर्विरोध में एक हो जाते हैं—या वह त्रिकोणात्मक होता है, जिसमें त्रिकोण के शीर्ष पर क्रांतिकारी नेता होते हैं और उनका अंतर्विरोध उत्पीड़कों से ही नहीं, उत्पीड़ितों से भी होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, बाद वाली स्थिति नेताओं के सिर तब आ पड़ती है, जब जनता उत्पीड़नकारी यथार्थ का आलोचनात्मक बोध नहीं प्राप्त कर पाई होती है और उत्पीड़क से चिपकी रह कर क्रांतिकारी नेताओं का विरोध करती है।

लेकिन ऐसा प्रायः कभी नहीं होता कि क्रांतिकारी नेता इस स्थिति को जनता से अपने अंतर्विरोध के रूप में देखें। हां, यह बोध बड़ा पीड़ादायक होता है और इसका प्रतिकार एक प्रतिरक्षा-प्रणाली का काम भी कर सकता है। आख़िर, नेताओं के लिए यह देखना आसान नहीं होता कि वे जिन उत्पीड़ितों से जुड़ कर उभरे हैं, वे ही उनका विरोध करें। इससे नेताओं में एक प्रकार की अनिच्छा पैदा हो सकती है, जिसे समझना उन क्रांतिकारी नेताओं के व्यवहार के कुछ रूपों का विश्लेषण करते समय महत्वपूर्ण होता है, जो स्वतः ही जनता के अंतर्विरोधी बन जाते हैं (यद्यपि यह अंतर्विरोध शत्रुतापूर्ण नहीं होता)।

क्रांति करने के लिए क्रांतिकारी नेताओं को निस्संदेह जनता के जुड़ाव की ज़रूरत होती है। जब वे नेता, जिनका जनता से अंतर्विरोध होता है, जनता से ऐसा जुड़ाव चाहते हैं और बदले में पाते हैं कि जनता उन पर भरोसा नहीं करती और उनसे दूर रहती है, तो वे अक्सर इस प्रतिक्रिया को जनता में अंतर्निहित किसी दोष का सूचक मान लेते हैं। वे जनता की चेतना के एक ख़ास ऐतिहासिक क्षण की व्याख्या जनता में अंतर्निहित किसी कमी के प्रमाण के रूप में करते हैं। चूंकि नेता क्रांति करने के लिए अपने प्रति जनता का जुड़ाव चाहते हैं (लेकिन साथ ही स्वयं पर भरोसा न करने वाली जनता पर भरोसा भी नहीं करते), इसलिए उनके मन में यह लालच आ सकता है कि वे भी प्रभुत्वशाली अभिजनों की तरह उत्पीड़न के तौर-तरीक़े इस्तेमाल करें। जनता के प्रति अपने अविश्वास को तर्कसंगत ठहराने के लिए ये नेता कहते हैं कि सत्ता हाथ में आने से पहले जनता से संवाद करना असंभव है। इस प्रकार वे संवादात्मक कर्म के सिद्धांत को छोड़ कर संवादविरोधी कर्म का सिद्धांत अपना लेते हैं। इसके बाद से—ठीक प्रभुत्वशाली अभिजनों की भांति—वे जनता को जीत लेने की (अभिजिति की) कोशिश करते हैं। वे मसीहावादी बन जाते हैं। वे तिकड़मों का इस्तेमाल करते हैं और जनता पर सांस्कृतिक आक्रमण करते हैं। उत्पीड़न के इन रास्तों पर चलते हुए वे क्रांति नहीं कर पाएंगे; और यदि किसी प्रकार कर भी पाए तो वह प्रामाणिक क्रांति नहीं होगी।

क्रांतिकारी नेतृत्व की भूमिका (किन्हीं भी परिस्थितियों में, लेकिन विशेष रूप

से उपर्युक्त परिस्थितियों में) कर्म करते हुए भी, जनता में अपने प्रति पाए जाने वाले अविश्वास के कारणों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की और जनता से घनिष्ठता उत्पन्न करने के उपाय करने की होती है। उसकी भूमिका जनता की सहायता इस प्रकार करने की होती है कि जनता स्वयं को उत्पीड़ित करने वाले यथार्थ को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे।

अधीनीकृत चेतना दोहरी, अस्पष्ट और भय तथा अविश्वास से भरी हुई होती है।[36] गुएवारा ने बोलीविया में अपने संघर्ष के बारे में लिखी गई 'डायरी' में कई बार किसानों की सहभागिता की कमी की चर्चा की है :

> हमें यह देख कर थोड़ी झुंझलाहट होती है कि सूचनाएं लाने और ले जाने के सिवा किसान किसी और काम के लिए आगे नहीं आते। वे न तो फुर्तीले हैं, न कार्यकुशल; उन्हें उदासीन और निष्क्रिय बनाया जा सकता है।... हालांकि अब किसानों ने हमसे डरना बंद कर दिया है और हम उनकी प्रशंसा प्राप्त करने में भी सफल होने लगे हैं, फिर भी कोई किसान हममें शामिल नहीं हुआ है। यह धीमा और धैर्यपूर्वक किया जाने वाला काम है।

किसानों के भय और उनकी अकुशलता का कारण है अधीनीकृत चेतना द्वारा उत्पीड़क का आभ्यंतरीकरण।

उत्पीड़ितों के व्यवहार और प्रतिक्रियाओं से उत्पीड़क सांस्कृतिक आक्रमण के लिए प्रेरित होता है, लेकिन क्रांतिकारी को इन चीज़ों से कर्म के एक भिन्न सिद्धांत के लिए प्रेरित होना चाहिए। क्रांतिकारी नेताओं को प्रभुत्वशाली अभिजनों से भिन्न बनाने वाली चीज़ केवल उनके उद्देश्य नहीं, बल्कि उनकी कार्यप्रणालियां भी हैं। यदि दोनों एक जैसे ढंग से काम करेंगे तो दोनों के उद्देश्य भी एक जैसे हो जाएंगे। जिस प्रकार प्रभुत्वशाली अभिजनों के लिए मनुष्य-विश्व संबंधों को समस्याओं के रूप में उठाना आत्म-विरोधी है, उसी प्रकार ऐसा न करना क्रांतिकारी नेताओं के लिए आत्मविरोधी है।

आइए, अब संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म के सिद्धांत का विश्लेषण करें और इसके संघटक तत्वों को समझने का प्रयास करें।

सहयोग : संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत में अभिजिति के लिए (जो उसकी प्राथमिक विशेषता है) आवश्यक है कि एक कर्ता हो, जो दूसरे को जीते और उसे मनुष्य से एक 'चीज़' में बदल दे। संवादात्मक कर्म के सिद्धांत में कई कर्ता विश्व को बदलने के लिए मिल कर सहयोग करते हैं। मार्टिन बूवेर के शब्दों में, संवादविरोधी प्रभुत्वशाली 'मैं' अधीनस्थ और विजित 'तू' को मात्र 'यह' में बदल देता है। लेकिन संवादात्मक 'मैं' जानता है कि यह 'तू' ही (अर्थात् 'मैं नहीं') है, जो अपने अस्तित्व

में आ गया है। वह यह भी जानता है कि 'तू' जो अस्तित्व में आ गया है, बदले में एक 'मैं' भी है, जो अपने 'मैं' में 'तू' को भी समाहित किए हुए है। इस प्रकार 'मैं' और 'तू' इन संबंधों की द्वंद्वात्मकता में दो 'तू' हैं, जो दो 'मैं' बन जाते हैं।

संवादात्मक कर्म के सिद्धांत में न तो वह कर्ता होता है, जो दूसरे को जीत कर उसे अधीन बनाता है, और न उसमें कोई अधीनीकृत वस्तु होती है। इसके बजाए उसमें अनेक कर्ता होते हैं, जो विश्व का रूपांतरण करने के लिए उसे *नाम देते हैं।* यदि किसी ऐतिहासिक क्षण में उत्पीड़ित लोग, ऊपर बताए गए कारणों से, कर्ता के रूप में अपना कर्तव्य नहीं कर पाते हैं, तो अपने उत्पीड़न को ही एक समस्या के रूप में उठाना (जिसमें हमेशा कर्म का कोई न कोई रूप शामिल रहता है) उन्हें अपना कर्तव्य करने में सहायता पहुंचाएगा।

इसका मतलब यह नहीं है कि संवादात्मक कार्य में नेतृत्व की कोई भूमिका नहीं होती। इसका मतलब सिर्फ़ यह है कि नेता—अपनी महत्वपूर्ण, आधारभूत और अपरिहार्य भूमिका के बावजूद—जनता के स्वामी नहीं हैं और उन्हें जनता को अपना अंधानुगामी बना कर उसके उद्धार के लिए हांक ले जाने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसा उद्धार नेताओं द्वारा जनता को दिया गया एक उपहार होगा, जो उनके बीच के संवादात्मक संबंध को तोड़ेगा और जनता को मुक्तिदाई कर्म का सह-कर्ता न रहने देकर कर्म की वस्तु बना कर रख देगा।

संवादात्मक कर्म की विशेषता है सहयोग और सहयोग संप्रेषण से ही संभव है (सहयोग कर्ताओं में ही होता है, लेकिन उनके कार्यों के स्तर और इसलिए उनके उत्तरदायित्वों के स्तर भी भिन्न हो सकते हैं)। संवाद एक अत्यंत आवश्यक संप्रेषण है, अतः वह किसी भी प्रकार के सहयोग का आधार है। संवादात्मक कर्म के सिद्धांत में क्रांतिकारी उद्देश्य के नाम पर जनता को जीतने के विचार के लिए कोई जगह नहीं। उसमें जनता को जीता नहीं जाता, केवल उसका जुड़ाव हासिल किया जाता है। संवाद में एक के विचार को दूसरों पर थोपा नहीं जाता, एक के द्वारा दूसरों के साथ तिकड़म नहीं की जाती। संवाद में लोगों को पालतू नहीं बनाया जाता। उसमें नारेबाज़ी नहीं की जाती। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि संवादात्मक कर्म के सिद्धांत का कोई उद्देश्य नहीं होता, या संवादात्मक मनुष्य को स्पष्ट रूप से यह मालूम नहीं होता कि वह क्या चाहता है, अथवा किन उद्देश्यों के लिए प्रतिबद्ध है।

उत्पीड़ितों के प्रति क्रांतिकारी नेताओं का प्रतिबद्ध होना साथ-ही-साथ स्वतंत्रता के प्रति भी प्रतिबद्ध होना है। और इस प्रतिबद्धता के कारण नेता उत्पीड़ितों को जीतने का प्रयास नहीं कर सकते। उनका काम तो उत्पीड़ितों को उनकी मुक्ति से जोड़ना है। जुड़ाव का अर्थ किसी को जीत कर अपने साथ जोड़ लेना नहीं है, क्योंकि वह तो विजित का विजेता से 'चिपकना' है, जिसमें विजेता

विजित को निर्देश देता है कि उसे क्या करना है। प्रामाणिक जुड़ाव इच्छाओं का स्वतंत्र संयोग है, जो तब तक संभव नहीं, जब तक मनुष्यों के बीच यथार्थ को माध्यम बना कर संप्रेषण न हो।

इस प्रकार सहयोग संवाद के कर्ताओं को यथार्थ पर, जो उनके बीच संवाद का माध्यम बनता है और समस्या के रूप में उठाए जाने पर उन्हें चुनौती देता है, ध्यान केंद्रित करने की दिशा में ले जाता है। इस चुनौती का जवाब संवादात्मक कर्ताओं का वह कर्म होता है, जो वे यथार्थ पर उसका रूपांतरण करने के लिए करते हैं। मुझे पुनः ज़ोर देकर कहने दीजिए कि यथार्थ को समस्या के रूप में उठाने का मतलब नारेबाज़ी करना नहीं है। इसका मतलब है एक समस्यामूलक यथार्थ का आलोचनात्मक विश्लेषण।

प्रभुत्वशाली अभिजनों के मिथकीकरण वाले तरीक़े के विरुद्ध संवादात्मक सिद्धांत यह मांग करता है कि विश्व का अनावरण किया जाए। लेकिन विश्व का अनावरण कोई किसी और *के लिए* नहीं कर सकता। हालांकि एक कर्ता दूसरों के निमित्त अनावरण का सूत्रपात कर सकता है, लेकिन दूसरों को भी इस कर्म में कर्ता बनना पड़ता है। जनता का जुड़ाव इसी कर्म से संभव बनाया जाता है, जिसमें लोग प्रामाणिक आचरण करते हुए विश्व का तथा अपना भी अनावरण करते हैं।

जनता का यह जुड़ाव और स्वयं पर तथा क्रांतिकारी नेताओं पर उसका भरोसा एक साथ शुरू होता है। लोग जब क्रांतिकारी नेताओं की समर्पण-भावना और प्रामाणिकता देखते हैं, तो वे उन पर भरोसा करने लगते हैं। जनता का नेताओं पर भरोसा करना यह ज़ाहिर करता है कि नेताओं को जनता पर विश्वास है।

लेकिन यह विश्वास भोला विश्वास नहीं होना चाहिए। नेताओं को जनता की संभावनाओं में अवश्य विश्वास रखना चाहिए। वे जनता को अपने कर्म की वस्तु मात्र नहीं मान सकते। उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि जनता मुक्ति के प्रयास में सहभागी होने के लिए सक्षम है। लेकिन उन्हें उत्पीड़ित मनुष्यों की *अस्पष्टता* पर अविश्वास अवश्य करना चाहिए। अर्थात् उत्पीड़ित मनुष्यों के भीतर 'घर किए हुए' उत्पीड़क पर उन्हें अविश्वास अवश्य करना चाहिए। तदनुसार, गुएवारा जब क्रांतिकारियों को हमेशा संदेहशील रहने के लिए कहते हैं,[37] तो वे संवादात्मक कर्म के सिद्धांत की आधारभूत शर्त की उपेक्षा नहीं करते। वे ऐसा कहते समय महज यथार्थवादी होते हैं।

हालांकि भरोसा संवाद के लिए एक बुनियादी चीज़ है, लेकिन वह संवाद की पूर्वशर्त नहीं है। वह तो उस संवाद का परिणाम है, जिसमें मनुष्य विश्व का रूपांतरण करने के एक अंश के रूप में सह-कर्ता होकर विश्व की भर्त्सना करते हैं। लेकिन जब तक उत्पीड़ितों के *भीतर* बैठा उत्पीड़क उनसे ज़्यादा शक्तिशाली

होता है, उनका स्वाभाविक स्वतंत्रता का भय उन्हें उत्पीड़क की भर्त्सना करने के बजाए क्रांतिकारी नेताओं की ही भर्त्सना करने की ओर ले जाता है ! नेता कान के कच्चे तो नहीं हो सकते, लेकिन इन संभावनाओं के लिए उन्हें सावधान रहना चाहिए। गुएवारा के 'एपीसोड्स' से इन जोखिमों की पुष्टि होती है कि ऐसे उत्पीड़ित क्रांति के उद्देश्य को न केवल छोड़ कर भाग सकते हैं, बल्कि उसके साथ ग़द्दारी भी कर सकते हैं। इस दस्तावेज़ में गुएवारा कहीं-कहीं भगोड़ों को दंडित करने की ज़रूरत महसूस करते हैं, ताकि समूह में संसक्ति और अनुशासन बना रहे, लेकिन कुछ ऐसी चीज़ों की चर्चा भी करते हैं, जिनसे इस पलायन को समझा जा सकता है। उनमें से एक और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण है पलायन करने वाले की द्वैधवृत्ति।

गुएवारा के दस्तावेज़ का एक और बड़ा प्रभावशाली अंश है, जिसमें सिएरा माएस्ट्रा के एक किसान समुदाय में गुएवारा की उपस्थिति (एक गुरिल्ला के रूप में ही नहीं, बल्कि एक डॉक्टर के रूप में भी) का वर्णन है और जो हमारी सहयोग संबंधी इस चर्चा से जुड़ता है :

> इन लोगों और इनकी समस्याओं से दैनिक संपर्क के परिणामस्वरूप हमें *पक्का विश्वास* हो गया कि हमारी जनता के जीवन में संपूर्ण परिवर्तन की ज़रूरत है। कृषि संबंधी सुधार का विचार एकदम स्पष्ट हो गया। *जनता से घनिष्ठता* अब केवल सिद्धांत नहीं रहा, बल्कि हमारे अस्तित्व का अभिन्न अंग बन गया।
>
> गुरिल्ला और किसान दोनों *मिल कर एक ठोस पिंड* बनने लगे। कोई ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि इस लंबी प्रक्रिया में कब विचार यथार्थ बन गए और हम किसानों के ही *अंग हो गए*। जहां तक मेरा सवाल है, सिएरा में अपने रोगियों से मेरे संपर्क ने मेरे *एक स्वतःस्फूर्त और कुछ-कुछ प्रगीतात्मक निर्णय* को एक *अधिक* प्रशांत शक्ति में बदल दिया, *जिसका मूल्य सर्वथा भिन्न था।* सिएरा के वे ग़रीब, दुखी और वफ़ादार निवासी कल्पना भी नहीं कर सकते कि *उन्होंने हमारी क्रांतिकारी विचारधारा के निर्माण में कितना महान योगदान किया था।*[38]

यह बात नोट करने लायक़ है कि गुएवारा ने उस *घनिष्ठता* पर ज़ोर दिया है, जिसने 'स्वतःस्फूर्त और कुछ-कुछ प्रगीतात्मक निर्णय को एक अधिक प्रशांत शक्ति में बदल दिया, जिसका मूल्य सर्वथा भिन्न था।' तो, यह किसानों से किया गया संवाद ही था, जिसने गुएवारा के क्रांतिकारी आचरण को निर्णायक बनाया। गुएवारा जो बात शायद विनम्रतावश नहीं कहते, वह यह हैं कि यह उनकी अपनी विनम्रता और प्रेम करने की क्षमता ही थी, जिसने जनता से उनकी घनिष्ठता को संभव बनाया।

और यह निर्विवाद रूप से संवादात्मक घनिष्ठता सहयोग बन गई। नोट कीजिए कि गुएवारा (जो फिडेल और उनके साथियों के साथ सिएरा माएस्ट्रा की चढ़ाई इसलिए नहीं चढ़े थे कि वे एक हताश नौजवान थे और किसी साहसिक कारनामे की तलाश में थे) इस बात को समझते हैं कि *'जनता से घनिष्ठता* केवल सिद्धांत नहीं रहा' बल्कि 'अस्तित्व का अभिन्न अंग बन गया'। वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उस घनिष्ठता के बाद किस तरह किसान उनकी गुरिल्लाओं वाली क्रांतिकारी विचारधारा के 'निर्माता' बन गए।

गुएवारा ने अपने और अपने साथियों के अनुभवों का वर्णन करने में और 'ग़रीब', 'वफ़ादार' किसानों से अपने संपर्कों का लगभग सुसमाचार वाली भाषा में चित्रण करते हुए जो सुस्पष्ट शैली अपनाई है, उससे भी पता चलता है कि इस अद्भुत मनुष्य में प्रेम और संप्रेषण की कितनी गहरी क्षमता थी। ऐसे ही एक और प्रेमी मनुष्य थे कामिलो टोर्रेस, जिन्हें 'गुरिल्ला प्रीस्ट' भी कहा जाता था। गुएवारा ने उनकी उत्कट प्रशंसा की है। उस प्रशंसा में जो शक्ति है, वह गुएवारा की प्रेम और संप्रेषण करने की क्षमता में से ही आती है।

सच्चे सहयोग को जन्म देने वाली इस घनिष्ठता के बिना क्यूबा की जनता सिएरा माएस्ट्रा के मनुष्यों की क्रांतिकारी गतिविधि की वस्तु मात्र बनकर रह गई होती, और वस्तु के रूप में क्रांति से उसका जुड़ाव असंभव होता। इस घनिष्ठता के बिना उसका नेताओं से हद-से-हद एक 'चिपकाव' हो सकता था, लेकिन यह क्रांति का नहीं, प्रभुत्व का तत्व है।

संवादात्मक सिद्धांत में क्रांतिकारी, कर्म किसी भी अवस्था में, जनता से *घनिष्ठता* को नहीं छोड़ सकता। बदले में *घनिष्ठता* से *सहयोग* उत्पन्न होता है, जो नेताओं और जनता को उस *जुड़ाव* की ओर ले जाता है, जिसकी चर्चा गुएवारा ने की है। यह जुड़ाव तभी संभव है, जब क्रांतिकारी गतिविधि मुक्तिदाई होने के लिए वास्तव में *मानवीय,* समानुभूतिपूर्ण, प्रेमपूर्ण, संप्रेषण से युक्त और विनम्र हो।

क्रांति जीवन से प्रेम करती है और जीवन का सृजन करती है; और जीवन का सृजन करने के लिए उसे कुछ लोगों को, जो जीवन को सीमाबद्ध करते हैं, रोकना पड़ सकता है। प्रकृति के बुनियादी जीवन-मरण के अलावा एक अप्राकृतिक *जीवित मृत्यु* भी होती है, जिसमें जीवन को पूर्णता प्राप्त करने से वंचित कर दिया जाता है।

यह बताने के लिए आंकड़े देने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि कितने ब्राज़ीली (और सामान्यतः लैटिन अमरीकी) लोग ज़िंदा लाशें हैं, मानवीय प्राणियों की छायाएं हैं, निराश स्त्री-पुरुष और बच्चे हैं, जो एक अंतहीन अदृश्य[39] युद्ध के शिकार होते रहते हैं। उस अदृश्य युद्ध में उनके बचेखुचे जीवन को भी दरिद्रता से पैदा होने वाली यक्ष्मा, शिस्टोसोमियासिस, शिशु-प्रवाहिका आदि असंख्य

बीमारियां खा जाती हैं। (ये बीमारियां उत्पीड़कों की शब्दावली में प्रायः 'उष्णकटिबंधी रोग' कहलाती हैं।)

फादर चेनू ने 'टेमोइनेज क्रेशियेन' में इस प्रकार की आत्यंतिक स्थितियों के प्रति हो सकने वाली प्रतिक्रियाओं के बारे में यह टिप्पणी की है :

> परिषद् की बैठकों में भाग लेने वाले पादरियों और आम जानकार लोगों, दोनों में से बहुतों को डर है कि विश्व की ज़रूरतों और तकलीफ़ों का सामना करते समय हम दरिद्रता और अन्याय के कारणों का विश्लेषण करने के बजाए, और इस अन्याय को बनाए रखने वाले तथा दरिद्रता को उत्पन्न करने वाले शासन की भर्त्सना करने के बजाए, दरिद्रता तथा अन्याय के लक्षणों तथा अभिव्यक्तियों के प्रति केवल भावनात्मक विरोध व्यक्त करने का तरीक़ा अपना कर उन्हें हलका बना सकते हैं।

मुक्ति के लिए एकता : जहां संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत में उत्पीड़न की स्थिति सुविधापूर्वक बनाए रखने के लिए उत्पीड़ितों को विभाजित करना प्रभुत्वशालियों की मज़बूरी है, वहां संवादात्मक सिद्धांत में मुक्ति के लिए नेताओं को समर्पित भाव से उत्पीड़ितों की आपसी एकता के लिए—तथा उत्पीड़ितों और नेताओं की एकता के लिए भी—अनथक प्रयास करना आवश्यक है।

कठिनाई यह है कि इस कोटि का संवादात्मक कर्म (अन्य कोटियों के संवादात्मक कर्म की ही भांति) आचरण में ही हो सकता है। प्रभुत्वशाली अभिजनों के लिए उत्पीड़न का आचरण आसान होता है (कम-से-कम वह कठिन नहीं होता), लेकिन क्रांतिकारी नेताओं के लिए मुक्तिदाई आचरण करना आसान नहीं होता। प्रभुत्वशाली अभिजन सत्ता के औज़ारों के इस्तेमाल पर निर्भर रह सकते हैं, लेकिन वही सत्ता क्रांतिकारी नेताओं के विरुद्ध इस्तेमाल की जाती है। प्रभुत्वशाली अभिजन अपने को स्वतंत्रतापूर्वक संगठित कर सकते हैं (हालांकि उनमें कभी-कभी आकस्मिक तथा क्षणिक विभाजन हो सकते हैं, फिर भी अपने आधारभूत हितों पर आंच आती देख वे तेज़ी से एक हो जाते हैं), लेकिन क्रांतिकारी नेता जनता के साथ इतनी तेज़ी और आसानी से एक नहीं हो सकते, जबकि उनका अस्तित्व ही उसके बिना नहीं हो सकता; और यही चीज़ उनके संगठन के प्रयासों में सबसे पहली बाधा है।

प्रभुत्वशाली अभिजनों के लिए यह सचमुच असंगत होगा कि वे क्रांतिकारी नेताओं को संगठित होने दें। उनकी आंतरिक एकता के लिए, जो उनकी सत्ता को मज़बूत और संगठित करती है, यह आवश्यक है कि जनता विभाजित रहे। इधर क्रांतिकारी नेताओं की एकता तभी संभव होती है, जब जनता में आपस में और अपने नेताओं के साथ एकता हो। अभिजनों की एकता जनता के प्रति उनकी

शत्रुता से पैदा होती है, जबकि क्रांतिकारी नेतृत्व समूह की एकता (एक हो चुकी) जनता से उसकी *घनिष्ठता* में से पनपती है। उत्पीड़न की ठोस स्थिति—जो उत्पीड़ित व्यक्ति के 'मैं' के अंदर द्वैत पैदा करती है और इसके जरिए उसे अस्पष्ट, भावनात्मक रूप से अस्थिर, और स्वतंत्रता से डरने वाला बनाती है—क्रांति के लिए अपरिहार्य एकीकरण के कर्म में बाधा डाल कर प्रभु वर्ग के विभाजनकारी कर्म को सरल बनाती है।

फिर, प्रभुत्व अपने-आप में ही *वस्तुपरक रूप से* विभाजनकारी होता है। वह उत्पीड़ित 'मैं' को एक ऐसे यथार्थ से 'चिपकाए' रखता है, जो सर्वसत्तासंपन्न और दुर्दमनीय प्रतीत होता है, और तब वह इस सत्ता की व्याख्या के लिए रहस्यपूर्ण शक्तियों को प्रस्तुत करता है तथा उत्पीड़ित 'मैं' को अलगाव का शिकार बनाता है। उत्पीड़ित 'मैं' का एक अंश उस यथार्थ में रहता है, जिससे वह 'चिपका हुआ' होता है, और एक अंश स्वयं से बाहर उन रहस्यपूर्ण शक्तियों में, जिन्हें वह उस यथार्थ के लिए ज़िम्मेदार समझता है, जिसके बारे में वह कुछ नहीं कर सकता। वह एक ही जैसे अतीत और वर्तमान में तथा आशारहित भविष्य में बंटा हुआ रहता है। वह ऐसा व्यक्ति होता है, जो स्वयं को *संभवन* की प्रक्रिया में नहीं देख पाता, अतः उसके पास कोई भविष्य नहीं होता, जिसका निर्माण वह दूसरों के साथ एक होकर कर सके। लेकिन जब वह अपने 'चिपकाव' से मुक्त होता है और उस यथार्थ को वस्तुपरक रूप में देखने लगता है, जिसमें से वह उभर रहा होता है, तो वह अपने को एक वस्तु (यथार्थ) का सामना करने वाले एक कर्ता 'मैं' के रूप में समाकलित करने लगता है। उस समय वह अपने विभाजित आत्म की मिथ्या एकता को त्याग कर सच्चा व्यक्ति बन जाता है।

उत्पीड़ितों को विभाजित करने के लिए उत्पीड़न की एक विचारधारा का होना अपरिहार्य है। इसके मुक़ाबले, उनकी एकता के लिए सांस्कृतिक कर्म का एक ऐसा रूप आवश्यक है, जिसके जरिए वे यह समझने लगें कि यथार्थ से वे *क्यों* और *कैसे* चिपके हुए हैं। अर्थात् उनका उत्पीड़न की विचारधारा से मुक्त होना आवश्यक है। अतः उत्पीड़ितों को एक करने के लिए विचारधारात्मक 'नारेबाज़ी' की ज़रूरत नहीं, क्योंकि वह कर्ता और वस्तुपरक यथार्थ के प्रामाणिक संबंध को विकृत करके संपूर्ण और अविभाज्य व्यक्तित्व के *ज्ञानात्मक, भावात्मक* और *क्रियात्मक* पक्षों को अलग-अलग कर देती है।

संवादात्मक मुक्तिदाई कर्म का उद्देश्य उत्पीड़ितों को एक पुराकथात्मक यथार्थ से 'हटा कर' किसी और यथार्थ से 'बांध देना' नहीं होता। इसके विपरीत, संवादात्मक कर्म का उद्देश्य होता है उत्पीड़ितों के लिए यह संभव बनाना कि वे यथार्थ से अपने चिपके होने को देख सकें और एक अन्यायपूर्ण यथार्थ को बदलने का फ़ैसला कर सकें।

चूंकि उत्पीड़ितों की एकता में उनकी एकजुटता शामिल है, भले ही उनके ठीक-ठीक सामाजिक स्तर कुछ भी हों, इसलिए इस एकता के लिए वर्गीय चेतना निर्विवाद रूप से आवश्यक है। लेकिन यथार्थ में डूबे रहने का (जो लैटिन अमरीकी किसानों की विशेषता है) मतलब यह है कि उत्पीड़ित वर्ग होने की चेतना से पहले (या कम-से-कम उसके साथ-साथ) उनमें उत्पीड़ित व्यक्ति होने की चेतना आवश्यक है।[40]

योरप के किसी किसान के सामने अगर इस तथ्य को कि वह एक व्यक्ति है, समस्या के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो यह बात उसे अजीब लग सकती है। लेकिन लैटिन अमरीकी किसानों के बारे में यह बात अजीब नहीं है। उनका विश्व आम तौर पर 'लैटिफंडियम' (अपने भूस्वामी के इलाक़े) की सीमाओं पर जाकर समाप्त हो जाता है। उनकी मुद्राएं कुछ हद तक पशुओं और वृक्षों से मिलती-जुलती होती हैं, और वे अक्सर अपने को पशु या वृक्ष ही समझते हैं।

प्रकृति से तथा उत्पीड़क से इस प्रकार बंधे हुए मनुष्यों के लिए अपने को ऐसे *व्यक्तियों* के रूप में पहचानना निहायत ज़रूरी है, जिनका *संभवन* नहीं होने दिया गया है। और स्वयं को पहचानने का मतलब है पैड्रो, एंटोनियो या जोसेफा के रूप में पहचानना। इस पहचान में नामों के अर्थ का एक भिन्न बोध शामिल होता है। 'विश्व', 'मनुष्य', 'संस्कृति', 'वृक्ष', 'काम', 'पशु' आदि शब्द अब पुनः सच्चे अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। अब किसान अपने को अपने सृजनात्मक श्रम से यथार्थ का (जिसे पहले वे एक रहस्यपूर्ण चीज़ समझते थे) रूपांतरण करने वालों के रूप में देखने लगते हैं। वे यह जान लेते हैं कि अब वे—मनुष्यों के रूप में—दूसरों की 'चीज़ों' की तरह नहीं रह सकते। अब वे उत्पीड़ित व्यक्तियों के रूप में अपनी चेतना से आगे बढ़ कर वर्ग की चेतना की ओर जा सकते हैं।

सक्रियतावाद के तरीक़ों से, जो 'नारों' पर निर्भर करते हैं और इन आधारभूत पक्षों से जिनका कोई लेना-देना नहीं होता, किसानों की एकता के लिए किया जाने वाला कोई भी प्रयास उनके कर्म को शुद्ध यांत्रिकतावादी बना देता है। वह जनता को एक करने का नहीं, महज व्यक्तियों को पास-पास रखने का काम करता है। उत्पीड़ितों की एकता चीज़ों के स्तर पर नहीं, मानवीय स्तर पर होती है। वह उस यथार्थ में होती है, जिसे प्रामाणिक रूप में तभी समझा जा सकता है, जब उसे अवरचना और अधिरचना की द्वंद्वात्मकता में समझा जाए।

उत्पीड़ितों की एकता के लिए आवश्यक है कि वे सबसे पहले जादू और मिथकों की उस नाभिनाल को काटें, जिससे वे उत्पीड़न के विश्व से बंधे रहते हैं। वह एकता, जो उन्हें एक-दूसरे से जोड़ती है, आवश्यक रूप से एक भिन्न प्रकृति की होनी चाहिए। इस अपरिहार्य एकता को उपलब्ध करने के लिए क्रांतिकारी प्रक्रिया को आरंभ से ही *सांस्कृतिक कर्म* होना चाहिए। उत्पीड़ितों की एकता के

लिए जो तरीक़े अपनाए जाएंगे, वे सामाजिक संरचना में उत्पीड़ितों के ऐतिहासिक और अस्तित्वगत अनुभव पर निर्भर करेंगे।

किसान एक 'बंद' यथार्थ में रहते हैं, जिसमें उत्पीड़नकारी निर्णय का केवल एक तथा सुसंबद्ध केंद्र होता है, जबकि शहरी उत्पीड़ित एक फैलते हुए संदर्भ में रहते हैं, जिसमें उत्पीड़नकारी नियंत्रण केंद्र बहुल और जटिल होता है। किसान एक प्रभुत्वशाली व्यक्ति के नियंत्रण में रहते हैं, जो उत्पीड़नकारी व्यवस्था का मूर्तिमान रूप होता है; जबकि शहरी क्षेत्रों में उत्पीड़ितों को एक 'उत्पीड़नकारी निर्वैयक्तिकता' के अधीन रहना पड़ता है। दोनों मामलों में उत्पीड़नकारी सत्ता एक हद तक 'अदृश्य' रहती है : देहातों में इसलिए कि वह उत्पीड़ितों के निकट होती है, और शहरों में इसलिए कि वह इधर-उधर छितरी हुई होती है।

फिर भी सांस्कृतिक कर्म के रूपों का उद्देश्य भिन्न स्थितियों में भी समान होता है : उत्पीड़क प्रत्यक्ष दिखाई देते हों या नहीं, उत्पीड़ितों के लिए उस वस्तुपरक स्थिति को स्पष्ट करना, जो उन्हें उत्पीड़कों से बांधती है। इस उद्देश्य को कर्म के वे ही रूप पूरा कर सकते हैं, जो एक तरफ़ भाषणबाजी और बेअसर बकबक से तथा दूसरी तरफ़ यांत्रिक सक्रियतावाद से बचे रहते हैं। वे ही प्रभुत्वशाली अभिजनों के विभाजनकारी कर्म का विरोध भी कर सकते हैं और उत्पीड़ितों की एकता की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

संगठन : संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत में अभिजिति और अधीनीकरण के लिए चालबाज़ी या तिकड़म अपरिहार्य है; संवादात्मक कर्म के सिद्धांत में जनता का संगठन इस तिकड़म का शत्रुतापूर्ण विलोम प्रस्तुत करता है। संगठन का एकता से न केवल सीधा संबंध होता है, वह एकता का ही स्वाभाविक विकास भी होता है। तदनुसार, नेताओं द्वारा जनता की एकता के लिए किया जाने वाला प्रयास जनता को संगठित करने का प्रयास भी है, जिसमें इस तथ्य का साक्ष्य आवश्यक है कि मुक्ति के लिए किया जाने वाला संघर्ष एक साझा काम है। यह निरंतर, विनम्रतापूर्वक और साहसपूर्वक प्रस्तुत किया जाने वाला साक्ष्य साझे प्रयास—मनुष्यों की मुक्ति—में सहयोग से उभरता है और संवादविरोधी नियंत्रण के ख़तरे से बचाता है। किसी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार इस साक्ष्य के रूप भिन्न हो सकते हैं, लेकिन यह साक्ष्य क्रांतिकारी कर्म का अपरिहार्य तत्व है।

अतः यह साक्ष्य *क्या* है और *कैसे* प्रस्तुत किया जाए, इसका निश्चय करने के लिए वर्तमान ऐतिहासिक संदर्भ का, जनता के विश्व संबंधी दृष्टिकोण का, समाज के मुख्य अंतर्विरोध का, और उस अंतर्विरोध के मुख्य पहलू का उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक ज्ञान होना आवश्यक है। चूंकि साक्ष्य के ये आयाम ऐतिहासिक, संवादात्मक, और इसीलिए द्वंद्वात्मक हैं, इसलिए अपने संदर्भ का

विश्लेषण किए बिना किसी अन्य संदर्भ से इनका महज आयात नहीं किया जा सकता। कहीं से इन आयामों का आयात कर लेना तो सापेक्ष को परम और मिथकीय बना देना होगा; और तब अलगाव से बचना असंभव होगा। संवादात्मक कर्म के सिद्धांत में यह साक्ष्य क्रांति के सांस्कृतिक और शैक्षिक चरित्र की मुख्य अभिव्यक्ति है।

साक्ष्य के कई अनिवार्य तत्व ऐतिहासिक रूप से सदा एक जैसे होते हैं। उनमें शामिल है : शब्द और कर्म का अविरोध; अस्तित्व से एक स्थाई जोख़िम के रूप में मुठभेड़ करने की प्रेरणा देने वाली निर्भीकता; साक्ष्य और साक्षी को उत्तरोत्तर बढ़ते हुए कर्म की ओर ले जाने वाला *आमूल-परिवर्तनवादीकरण* (संकीर्णतावाद नहीं); *प्रेम करने का साहस* (जो अन्यायपूर्ण विश्व से मेल-मिलाप नहीं, बल्कि मनुष्यों की उत्तरोत्तर मुक्ति के निमित्त किया जाने वाला उस विश्व का रूपांतरण है); और जनता पर विश्वास; क्योंकि साक्ष्य जनता को ही दिया जाता है। लेकिन जनता को दिया गया साक्ष्य, प्रभुत्वशाली अभिजनों से जनता के द्वंद्वात्मक संबंधों के कारण, अभिजनों को भी प्रभावित करता है (जो साक्ष्य का जवाब अपने रिवायती ढंग से देते हैं)।

सभी प्रकार के प्रामाणिक (अर्थात् आलोचनात्मक) साक्ष्य के लिए जोख़िम उठाने की हिम्मत ज़रूरी है। उसमें यह संभावना भी शामिल है कि नेताओं को जनता का जुड़ाव तुरंत हासिल नहीं होगा। जो साक्ष्य किसी विशेष क्षण में और किन्हीं विशेष परिस्थितियों में सफल नहीं होता, वह भी बेकार नहीं हो जाता। वह आज नहीं तो कल सफल हो सकता है। चूंकि साक्ष्य कोई अमूर्त्त मुद्रा नहीं, बल्कि एक कर्म है—विश्व और मनुष्यों के साथ होने वाली एक मुठभेड़—इसलिए वह स्थिर नहीं होता। वह एक गतिशील तत्व है, जो स्वयं को जन्म देने वाले सामाजिक संदर्भ का अंग बन जाता है। अस्तित्व में आने के बाद से वह उस संदर्भ को निरंतर प्रभावित करता रहता है।[41]

संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत में तिकड़म लोगों को सुन्न कर देती है और उनके अधीनीकरण को आसान बना देती है; संवादात्मक कर्म में तिकड़म या चालबाजी का स्थान प्रामाणिक संगठन लेता है। संवादविरोधी कर्म में चालबाज़ी अभिजिति के लक्ष्यों को पूरा करती है; जबकि संवादात्मक कर्म में साहसिक और प्रेमपूर्ण साक्ष्य संगठन के लक्ष्यों को पूरा करता है।

प्रभुत्वशाली अभिजनों के लिए संगठन का अर्थ होता है स्वयं को संगठित करना। क्रांतिकारी नेताओं के लिए संगठन का अर्थ है जनता के *साथ* स्वयं को संगठित करना। पहली स्थिति में प्रभुत्वशाली वर्ग उत्तरोत्तर अपनी सत्ता को संगठित करता है, ताकि वह अधिक कुशलतापूर्वक शासन कर सके और लोगों को निर्वैयक्तिक बना सके। दूसरी स्थिति में संगठन अपनी प्रकृति और अपने उद्देश्य

के अनुकूल ही हो सकता है, बशर्ते कि वह अपने-आप में भी स्वतंत्रता का व्यवहार करता हो। अतः अनुशासन (डिसिप्लिन) को, जो किसी भी संगठन के लिए आवश्यक है, एकमार्गीकरण (रेजिमेंटेशन) कभी नहीं समझना चाहिए। यह बिलकुल सही है कि नेतृत्व, अनुशासन, दृढ़निश्चय और उद्देश्यों के बिना—अर्थात् किए जाने वाले कार्यों और दिए जाने वाले हिसाबों के बिना—कोई संगठन जीवित नहीं रह सकता और इन चीज़ों के बिना क्रांतिकारी कर्म पानी मिले दूध की तरह पतला हो जाता है, लेकिन इससे जनता को इस्तेमाल की चीज़ मान कर चलने का औचित्य कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जनता तो उत्पीड़न के कारण पहले ही निर्वैयक्तिक बनाई जा चुकी होती है; यदि क्रांतिकारी नेता भी उसके *विवेकीकरण* के लिए काम करने के बजाए उसके साथ तिकड़म करेंगे तो वे संगठन के उद्देश्य (अर्थात् मुक्ति) का ही निषेध करेंगे।

जनता को संगठित करना वह प्रक्रिया है, जिसमें क्रांतिकारी नेता, जो स्वयं भी अपना शब्द[42] बोलने से वंचित किए गए होते हैं, इस अधिगम के अनुभव का आरंभ करते हैं कि विश्व को *अभिहित* कैसे किया जाए। यह सच्चा अधिगम-अनुभव है, और इसीलिए संवादात्मक है। नेता अपना शब्द अकेले नहीं बोल सकते, इसलिए उन्हें वह शब्द जनता के *साथ* बोलना चाहिए। वे नेता, जो संवादात्मक ढंग से काम नहीं करते, बल्कि अपने निर्णयों को थोपने का आग्रह करते हैं, जनता को संगठित नहीं करते, बल्कि उससे तिकड़म करते हैं। वे न तो दूसरों को मुक्त करते हैं, न स्वयं मुक्त होते हैं। वे उत्पीड़न करते हैं।

जनता को संगठित करने वाले नेताओं को मनमाने ढंग से अपना शब्द जनता पर थोपने का अधिकार नहीं है, इसका मतलब यह नहीं है कि इसलिए उन्हें ऐसा उदारतावादी दृष्टिकोण अपना लेना चाहिए, जो उत्पीड़न के अभ्यस्त लोगों में स्वेच्छाचार को बढ़ावा दे। संवादात्मक कर्म का सिद्धांत अधिकारवाद और स्वेच्छाचार, दोनों का विरोध करता है। ऐसा करके वह अधिकार तथा स्वतंत्रता की अभिपुष्टि (अफर्मेशन) करता है। अधिकार के बिना कोई स्वतंत्रता नहीं होती, लेकिन स्वतंत्रता के बिना कोई अधिकार भी नहीं होता। प्रत्येक स्वतंत्रता में यह संभावना रहती है कि विशिष्ट परिस्थितियों में (और विभिन्न अस्तित्वगत स्तरों पर) वह अधिकार बन सकती है। स्वतंत्रता और अधिकार को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों को एक-दूसरे के संबंध में समझना आवश्यक है।[43]

प्रामाणिक अधिकार की पुष्टि महज सत्ता-हस्तांतरण से नहीं होती, बल्कि *प्रतिनिधान* (डेलीगेशन) और सहानुभूतिपूर्ण *जुड़ाव* से होती है। यदि अधिकार एक समूह से दूसरे समूह को महज हस्तांतरित किया जाता है, या बहुसंख्या पर थोपा जाता है, तो वह विकृत होकर अधिकारवाद में बदल जाता है। अधिकार का स्वतंत्रता से झगड़ा न हो, यह तभी हो सकता है, जब वह 'अधिकार बनी स्वतंत्रता'

हो। एक की अतिवृद्धि से दूसरे की अपुष्टि होती है। जैसे अधिकार स्वतंत्रता के बिना और स्वतंत्रता अधिकार के बिना संभव नहीं, वैसे ही न तो अधिकारवाद स्वतंत्रता को नकारे बिना संभव है, न स्वेच्छाचार अधिकार को नकारे बिना संभव है।

संवादात्मक कर्म के सिद्धांत में संगठन के लिए अधिकार आवश्यक है। अतः वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसके लिए स्वतंत्रता आवश्यक है, इसलिए वह अधिकारवादी नहीं हो सकता। संगठन तो एक बड़ी शैक्षिक प्रक्रिया है, जिसमें नेता और जनता एक साथ सच्चे अधिकार और सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं। आगे चल कर अपने बीच मध्यस्थता करने वाले यथार्थ का रूपांतरण करके वे सच्चे अधिकार और सच्ची स्वतंत्रता को समाज में स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

सांस्कृतिक संश्लेषण : सांस्कृतिक कर्म हमेशा एक व्यवस्थित और इरादतन किए जाने वाले कर्म का रूप होता है। वह उस सामाजिक संरचना पर क्रियाशील होता है, जिसे या तो बनाए रखना उस कर्म का उद्देश्य होता है, या उसका रूपांतरण करना। इरादतन और व्यवस्थित रूप से किए जाने वाले कर्म के रूप में हर तरह के सांस्कृतिक कर्म का अपना एक सिद्धांत होता है, जो उसके लक्ष्य निर्धारित करता है और ऐसा करके उसकी पद्धतियों को परिभाषित करता है। सांस्कृतिक कर्म या तो (जान-बूझ कर या अनजाने ही) प्रभुत्व की सेवा करता है, या मनुष्यों की मुक्ति के काम आता है। चूंकि सामाजिक संरचना में, और सामाजिक संरचना पर, ये द्वंद्वात्मक रूप से विरोधी प्रकार के सांस्कृतिक कर्म क्रियाशील होते हैं, इसलिए वे *स्थायित्व* और *परिवर्तन* के द्वंद्वात्मक संबंधों को जन्म देते हैं।

सामाजिक संरचना के *अस्तित्व* के लिए उसका *संभवन* आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, *संभवन* वह तरीक़ा है, जिससे सामाजिक संरचना *'अवधि'* (जिस अर्थ में बर्गसां ने इस शब्द का प्रयोग किया है, उस अर्थ में) को व्यक्त करती है।[44]

संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म का लक्ष्य स्थायित्व और परिवर्तन की द्वंद्वात्मकता को ग़ायब कर देना नहीं है। (यह एक असंभव लक्ष्य है, क्योंकि द्वंद्वात्मकता के ग़ायब होने का अर्थ होगा सामाजिक संरचना का ही, और इस प्रकार मनुष्यों का ही ग़ायब हो जाना।) उसका उद्देश्य तो सामाजिक संरचना के शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों को दूर करना और उसके जरिए मनुष्यों की मुक्ति प्राप्त करना है।

दूसरी तरफ़, संवादविरोधी सांस्कृतिक कर्म का लक्ष्य होता है ऐसे अंतर्विरोधों का मिथकीकरण और उससे यथार्थ के आमूल-परिवर्तनवादी रूपांतरण को टालने (या जहां तक संभव हो, उसमें बाधा डालने) की कोशिश करना। संवादविरोधी कर्म का लक्ष्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह होता है कि सामाजिक संरचना के अंदर उन स्थितियों को बनाए रखा जाए, जो उसके अपने कर्ताओं (अर्थात्

प्रभुत्वशाली अभिजनों) के पक्ष में होती हैं। सामाजिक संरचना के कर्ताओं को यह कभी स्वीकार नहीं होगा कि उसमें शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों को समाप्त करने वाला आमूल-परिवर्तन हो जाए। हां, वे उन सुधारों को स्वीकार कर सकते हैं, जो उत्पीड़ितों पर शासन करने की उनकी सत्ता को प्रभावित न करें। अतः इस प्रकार का सांस्कृतिक कर्म जनता पर *अभिजिति* (विजय) प्राप्त करने के लिए, उसका *विभाजन* करने के लिए, उसके साथ *चालबाज़ी* (यानी तिकड़म) करने के लिए, और उस पर *सांस्कृतिक आक्रमण* करने के लिए किया जाता है। लेकिन संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म ऐसे सभी अभिप्रेरित पक्षों को हटा कर स्वयं उनका स्थान ग्रहण कर लेता है। संवादविरोधी सांस्कृतिक कर्म अपने अभिप्रेरित चरित्र से पार पाने में अक्षम होता है, क्योंकि उसकी यह अक्षमता उसके उद्देश्य का—अधीनीकरण के उद्देश्य का—परिणाम होती है। संवादात्मक सांस्कृतिक कर्म इसमें सक्षम होता है, क्योंकि उसकी यह क्षमता उसके उद्देश्य— यानी मुक्ति—में निहित होती है।

सांस्कृतिक आक्रमण में आक्रांता अपने कर्म की मूलविषय की अंतर्वस्तु अपने मूल्यों तथा अपनी विचारधारा से प्राप्त करते हैं। उनका प्रस्थान-बिंदु उनका अपना विश्व होता है, जिससे आकर वे आक्रांतों के विश्व में प्रवेश करते हैं। सांस्कृतिक संश्लेषण में संश्लेषणकर्ता भी यद्यपि 'दूसरी दुनिया' से जनता की दुनिया में आते हैं, लेकिन वे आक्रांताओं के रूप में नहीं आते। वे जनता को कुछ *सिखाने, बताने* या *देने* नहीं आते, बल्कि जनता से सीखने आते हैं; जनता के साथ जनता के विश्व को जानने आते हैं।

सांस्कृतिक आक्रमण में आक्रांता (जिन्हें अब आक्रांत संस्कृति के पास व्यक्तिगत रूप में आने की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि उनका काम उत्तरोत्तर तकनीकी उपकरणों से किया जाने लगा है) जनता पर स्वयं को अध्यारोपित करते हैं और जनता को मात्र दर्शक या वस्तु की भूमिका में डाल देते हैं। सांस्कृतिक संश्लेषण में संश्लेषणकर्ता जनता के साथ एक होकर विश्व पर क्रियाशील होते हैं और जनता के साथ किए गए कर्म के सह-कर्ता होते हैं।

सांस्कृतिक आक्रमण में वह यथार्थ, जिसे बनाए रखना है, और वे दर्शक, जो केवल उसे देखते हैं; दोनों ही आक्रांता के कर्म की वस्तु होते हैं। सांस्कृतिक संश्लेषण में कोई दर्शक नहीं होता और संश्लेषण के कर्म की वस्तु होता है वह यथार्थ, जिसे मनुष्यों की मुक्ति के लिए रूपांतरित किया जाना है।

इस प्रकार सांस्कृतिक संश्लेषण उस संस्कृति से ही मुठभेड़ करने वाला कर्म है, जो स्वयं को उत्पन्न करने वाली संरचनाओं को बनाए रखने का काम करती है। सांस्कृतिक कर्म, एक ऐतिहासिक कर्म के रूप में प्रभुत्वशाली, अलगावग्रस्त और अलगावकारी संस्कृति को हटा कर स्वयं उसकी जगह लेने वाला कर्म है। इस अर्थ में प्रत्येक प्रामाणिक क्रांति सांस्कृतिक क्रांति होती है।

जनता के जननशील मूलविषयों अथवा अर्थपूर्ण मूलविषयों का अनुसंधान, जिसकी चर्चा तीसरे प्रकरण में की गई है, सांस्कृतिक संश्लेषण के कर्म की प्रक्रिया का प्रस्थान-बिंदु है। इस प्रक्रिया को दो भिन्न चरणों में बांटना सचमुच संभव नहीं है—कि पहले *मूलविषय का अनुसंधान* किया जाए और फिर *सांस्कृतिक संश्लेषण* के रूप में कर्म किया जाए। ऐसे द्विभाजन का अर्थ होगा एक ऐसी आरंभिक अवस्था को मान कर चलना, जिसमें अनुसंधाताओं द्वारा जनता का अध्ययन, विश्लेषण और अनुसंधान एक निष्क्रिय वस्तु के रूप में किया जाना है—जो संवादविरोधी कर्म के समनुरूप होगा। ऐसा विभाजन इस भोले निष्कर्ष तक ले जाएगा कि सांस्कृतिक संश्लेषण सांस्कृतिक आक्रमण के बाद किया जाता है।

संवादात्मक सिद्धांत में यह विभाजन नहीं हो सकता। मूलविषय का अनुसंधान करने वाले पेशेवर अनुसंधाता नहीं, बल्कि जनता के लोग भी होते हैं, जिनकी मूलविषय की समष्टि को खोजा जा रहा होता है। अनुसंधान सांस्कृतिक संश्लेषण का पहला क्षण है, जो बाद की अवस्थाओं में विकसित होने वाले वातावरण का निर्माण करता है। सांस्कृतिक आक्रमण में ऐसा वातावरण नहीं होता, क्योंकि वह अलगाव के जरिए आक्रांतों को निराश और प्रयोगशीलता की जोख़िम के प्रति, जिसके बिना कोई सच्ची सृजनात्मकता संभव नहीं, भयभीत बना कर उनके सृजनात्मक उत्साह की हत्या कर देता है।

आक्रांतों का स्तर कुछ भी हो, उनमें से विरले ही आक्रांताओं द्वारा निर्मित नमूनों के परे जा पाते हैं। सांस्कृतिक संश्लेषण में कोई आक्रांता नहीं होते, इसलिए उसमें ऐसे कोई थोपे हुए नमूने भी नहीं होते। उनके बदले यहां ऐसे संश्लेषणकर्ता होते हैं, जो यथार्थ का विश्लेषण करते हैं (जिसे वे कर्म से कभी अलग नहीं करते) और इतिहास की प्रक्रिया में कर्ता के रूप में हस्तक्षेप करते हैं।

पूर्वनिर्धारित योजनाओं का अनुसरण करने के बजाए परस्पर घनिष्ठ रूप में संबंधित नेता और जनता, दोनों मिल कर अपना कर्म-पथ स्वयं बनाते हैं। इस संश्लेषण में नेता और जनता नए ज्ञान और नए कर्म में एक प्रकार का पुनर्जन्म लेते हैं। अलगावकारी संस्कृति का ज्ञान रूपांतरकारी कर्म की ओर ले जाता है और इस कर्म का परिणाम होती है वह संस्कृति, जो अलगाव से मुक्त की जा रही होती है। नेताओं का अधिक परिष्कृत ज्ञान जनता के अनुभवजन्य ज्ञान से पुनर्निर्मित होता है, जबकि जनता का अनुभवजन्य ज्ञान नेताओं के अधिक परिष्कृत ज्ञान से परिष्कृत होता है।

सांस्कृतिक संश्लेषण में—और सांस्कृतिक संश्लेषण में ही—नेताओं की विश्वदृष्टि और जनता की विश्वदृष्टि के बीच के अंतर्विरोधों का समाधान संभव है, जिससे दोनों ही समृद्ध होते हैं। सांस्कृतिक संश्लेषण दोनों दृष्टियों की भिन्नताओं को नकारता नहीं है। सच तो यह है कि वह इन भिन्नताओं पर

आधारित होता है। वह एक के द्वारा दूसरे पर किए जाने वाले *आक्रमण* को अवश्य नकारता है, लेकिन एक-दूसरे को दिए जाने वाले *सहारे* की पुष्टि करता है।

क्रांतिकारी नेताओं को जनता से अलग होकर स्वयं को संगठित करने के प्रयास से अवश्य बचना चाहिए। विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण आकस्मिक रूप से जो भी अंतर्विरोध जनता के साथ हो जाएं, उनका समाधान किया जाना चाहिए। एक थोपे हुए संबंध के सांस्कृतिक आक्रमण द्वारा उन्हें बढ़ाना कभी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक संश्लेषण ही इसका एकमात्र उपाय है।

क्रांतिकारी नेता जब यह ध्यान नहीं रखते कि जनता जिस दृष्टि से विश्व को देखती है, वह भी एक यथार्थ है, तो वे बहुत-सी ग़लतियां करते हैं और ग़लत हिसाब लगाते हैं। जनता जिस दृष्टि से विश्व को देखती है, उसमें उसके सरोकार होते हैं, संदेह होते हैं, आशाएं होती हैं, नेताओं को देखने का तरीक़ा होता है, ख़ुद अपने-आपको और उत्पीड़कों को देखने के तरीक़े होते हैं, धार्मिक विश्वास होते हैं (जो प्रायः हमेशा ही समन्वयवादी होते हैं), उसका भाग्यवाद होता है और उसकी विद्रोहात्मक प्रतिक्रियाएं भी होती हैं। इनमें से किसी भी तत्व को अलग करके नहीं देखा जा सकता, क्योंकि ये सभी तत्व परस्पर क्रिया करते हुए एक संपूर्णता का निर्माण करते हैं। उत्पीड़क इस संपूर्णता को केवल इसलिए जानना चाहता है कि उसे जनता पर अपना प्रभुत्व जमाने या बनाए रखने के लिए सांस्कृतिक आक्रमण करने में आसानी हो। क्रांतिकारी नेताओं के लिए इस संपूर्णता को जानना अपना काम सांस्कृतिक संश्लेषण के रूप में करने के लिए अपरिहार्य है।

सांस्कृतिक संश्लेषण (ठीक इसीलिए कि यह एक संश्लेषण है) का अर्थ यह नहीं है कि क्रांतिकारी कर्म के उद्देश्यों को जनता की विश्वदृष्टि में व्यक्त होने वाली आकांक्षाओं तक ही सीमित कर दिया जाए। यदि ऐसा (जतना की विश्वदृष्टि का आदर करने के मुग़ालते में) हुआ, तो क्रांतिकारी नेता निष्क्रिय रूप से उस दृष्टि से बंध जाएंगे। नेताओं को न तो जनता की विश्वदृष्टि पर आक्रमण करना चाहिए, न जनता की आकांक्षाओं से (जो अक्सर भोली आकांक्षाएं होती हैं) स्वयं को अनुकूलित ही कर लेना चाहिए।

ठोस रूप में कहें तो यदि एक प्रदत्त ऐतिहासिक क्षण में जनता की बुनियादी आकांक्षा वेतनवृद्धि की मांग से आगे नहीं जाती, तो नेता इन दो ग़लतियों में से एक कर सकते हैं : वे या तो अपने कर्म को इसी एक मांग को आगे बढ़ाने तक सीमित कर सकते हैं,[45] या वे इस लोकप्रिय आकांक्षा को भुला कर इसके बदले कुछ ऐसा अधिक दूरगामी काम करने का निर्णय ले सकते हैं, जो अभी जनता के ध्यान में सबसे पहले किए जाने वाले काम के रूप में नहीं आया है। पहले मामले में क्रांतिकारी नेता जनता की मांगों से अनुकूलित होने के मार्ग का अनुसरण करते हैं। दूसरे मामले में जनता की आकांक्षाओं का आदर न करके वे सांस्कृतिक

आक्रमण करने के दोषी होते हैं।

इस समस्या का समाधान संश्लेषण द्वारा ही हो सकता है : नेताओं को एक तरफ़ तो जनता की अधिक वेतन की मांग से अपना तादात्म्य स्थापित करना चाहिए; और दूसरी तरफ़ उन्हें इसी मांग के अर्थ को एक समस्या के रूप में उठाना चाहिए। ऐसा करके नेता एक वास्तविक, ठोस, ऐतिहासिक स्थिति को, जिसका एक आयाम वेतनवृद्धि की मांग है, समस्या के रूप में उठाएंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि केवल वेतनवृद्धि की मांगों से समस्या का पूरा समाधान नहीं हो सकता। इस समाधान का सार तीसरी दुनिया के धर्माध्यक्षों के उस पूर्वोद्धृत वक्तव्य में मिल सकता है कि "यदि मज़दूर किसी प्रकार अपने श्रम के स्वामी नहीं बन सकते, तो समस्त संरचनात्मक सुधार निष्प्रभावी होंगे।...उन्हें अपने श्रम का विक्रेता नहीं, स्वामी होना चाहिए... [क्योंकि] श्रम का कोई भी क्रय-विक्रय दासता का ही एक प्रकार है।"

मनुष्य को 'स्वयं ही अपने श्रम का स्वामी होना चाहिए', श्रम 'मानव शरीर का ही एक अंग है' और 'एक मानवीय प्राणी को न तो खरीदा जा सकता है और न वह स्वयं को बेच सकता है'—इन तथ्यों की आलोचनात्मक चेतना प्राप्त कर लेना शमनकारी समाधानों के धोखे से बच कर एक क़दम आगे बढ़ना है। ऐसा करना यथार्थ का मानवीकरण करके मनुष्यों को मानवीय बनाने के लिए यथार्थ के प्रामाणिक रूपांतरण में संलग्न होना है।

संवादविरोधी कर्म के सिद्धांत में सांस्कृतिक आक्रमण चालबाज़ी (तिकड़म) के लक्ष्यों के लिए काम करता है, चालबाज़ी अभिजिति के लक्ष्यों के लिए काम करती है, और अभिजिति प्रभुत्व के लक्ष्यों के लिए काम करती है। सांस्कृतिक संश्लेषण संगठन के लक्ष्यों के लिए काम करता है और संगठन मुक्ति के लक्ष्यों के लिए काम करता है।

यह पुस्तक एक बड़े ही प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले सत्य के बारे में है : जैसे उत्पीड़क को उत्पीड़न करने के लिए उत्पीड़न कर्म के एक सिद्धांत की आवश्यकता होती है, ठीक वैसे ही उत्पीड़ितों को भी मुक्त होने के लिए मुक्तिदाई कर्म के एक सिद्धांत की आवश्यकता है।

उत्पीड़क अपने कर्म का सिद्धांत जनता के बिना बनाता है, क्योंकि वह जनता के विरुद्ध खड़ा होता है। जनता भी—जब तक वह उत्पीड़क के बिंब को आत्मसात किए रहने के कारण दलित और उत्पीड़ित है—स्वयं अपने मुक्तिदाई कर्म का सिद्धांत नहीं बना सकती। जनता और क्रांतिकारी नेताओं के टकराव में ही—उनकी घनिष्ठता में ही, उनके आचरण में ही—इस सिद्धांत का निर्माण हो सकता है।

टिप्पणियां

1. इस ख़तरे के कारण यह भी आवश्यक हो जाता है कि क्रांतिकारी नेता उन उत्पीड़कों के तौरतरीक़ों की नकल न करें, जो उत्पीड़ितों के भीतर *'प्रविष्ट'* हो जाते हैं और उनके अंदर *घर किए रहते* हैं। क्रांतिकारी, उत्पीड़ितों के प्रति अपने आचरण में, उनके भीतर *घर किए रहने वाले* नहीं हो सकते। इसके विपरीत वे तो (उत्पीड़ितों के साथ मिलकर) उत्पीड़क को *निकाल बाहर करने* की कोशिश करते हैं और यह काम वे उत्पीड़ितों के अंदर रहने के लिए नहीं, बल्कि उनके *साथ* रहने के लिए करते हैं।
2. हालांकि उत्पीड़ित लोग, जो हमेशा शोषण की व्यवस्था के शिकार रहे हैं, क्रांतिकारी संघर्ष में प्रतिशोध का एक आयाम जोड़ते हैं तो यह स्वाभाविक ही है, लेकिन क्रांति को इसी आयाम में अपनी शक्तियों को समाप्त कर लेने का काम हरगिज़ नहीं करना चाहिए।
3. फिडेल कास्त्रो ने चे गुएवारा की मृत्यु की पुष्टि करते हुए क्यूबा की जनता से कहा था, "संदेह से तो हम थोड़ा लाभ उठा सकते हैं, लेकिन *असत्य,* सत्य का *भय,* मिथ्या भ्रमों की सहापराधिता और असत्यों की सहापराधिता—ये सब कभी क्रांति के हथियार नहीं रहे हैं।" (17 अक्टूबर, 1967 के 'ग्राम्मा' से उद्धृत। शब्दों पर ज़ोर हमारा।)।
4. मैं एक बार फिर दोहरा दूं कि यह संवादात्मक मुठभेड़ विरोधियों के बीच नहीं हो सकती।
5. गोल्डमान लिखते हैं, "उन युगों में, जब प्रभुत्वशाली वर्गों में स्थायित्व होता है; जब मज़दूर आंदोलन को ऐसे शत्रु से अपना बचाव करना पड़ता है, जो समय-समय पर धमकाता रहता है और हर तरह से अपनी सत्ता पर मज़बूती से क़ाबिज़ होता है; स्वभावतः ऐसा समाजवादी साहित्य पैदा होता है, जो यथार्थ के 'भौतिक' तत्व पर, बाधाओं पर और मानवीय बोध तथा कर्म की क्षमता के बहुत कम होने पर ज़ोर देता है।"
6. सेंटियागो में 1967 में लैटिन अमरीकी लोगों के लिए चलाए गए एक पाठ्यक्रम में हांडुरा के निवासी फर्नांडो गार्सिया।
7. कभी-कभी यह शब्द बोला भी नहीं जाता और लोगों को आतंकित कर देता है। किसी ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति मात्र भी (आवश्यक नहीं कि वह क्रांतिकारी ही हो), जो लोगों के दिल में घर किए बैठे उत्पीड़क को डरा सकती हो, उन्हें विध्वंसक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करने के लिए काफ़ी हो सकती है।

   एक छात्र ने मुझे एक बार बताया था कि एक लैटिन अमरीकी देश के खेतिहर समुदाय में एक धर्मांध पादरी ने दो 'कम्युनिस्टों' के होने की भर्त्सना की थी, जो उस चीज़ को 'ख़तरे' में डाल रहे थे, जिसे वह 'कैथोलिक विश्वास' कहता था। उसी रात सारे किसानों ने इकट्ठे होकर उन दो सीधेसादे प्राथमिक स्कूल-शिक्षकों को ज़िंदा जला दिया, जो स्थानीय बच्चों को शिक्षा दिया करते थे। पादरी ने शायद उन शिक्षकों के घर में एक किताब देख ली थी, जिसके आवरण पर किसी दाढ़ी वाले आदमी का चित्र छपा हुआ था—
8. मैं एक बार फिर इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि संवाद और क्रांतिकारी कर्म में कोई द्विभाजन नहीं है। ऐसा नहीं होता कि संवाद की एक अवस्था हो और क्रांति की दूसरी। इसके विपरीत, संवाद तो क्रांतिकारी कर्म का सार है। इस कर्म के सिद्धांत में संवादकर्ता अंतर—आत्मपरक ढंग से उस *वस्तु* पर (अर्थात् उस यथार्थ पर, जो उनके बीच उपस्थित होता है) कर्म करते हैं और उनका उद्देश्य होता है मनुष्यों का मानुषीकरण (जो उस यथार्थ का रूपांतरण करके किया जाता है)।

उत्पीड़नकारी कर्म के सिद्धांत में, जो सारतः संवादविरोधी होता है, उपर्युक्त योजना सरल हो जाती है, क्योंकि यहां कर्म करने वालों के सामने दो वस्तुएं होती हैं, जिन दोनों पर उन्हें कर्म करना होता है : यथार्थ और उत्पीड़ित जनता। और उनका उद्देश्य होता है उत्पीड़नकारी यथार्थ को बनाए रख कर उत्पीड़न को बनाए रखना।

क्रांतिकारी कर्म का सिद्धांत

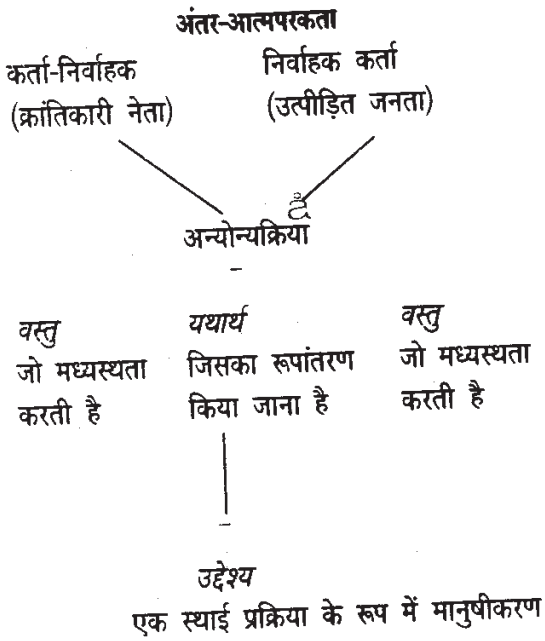

उत्पीड़नकारी कर्म का सिद्धांत

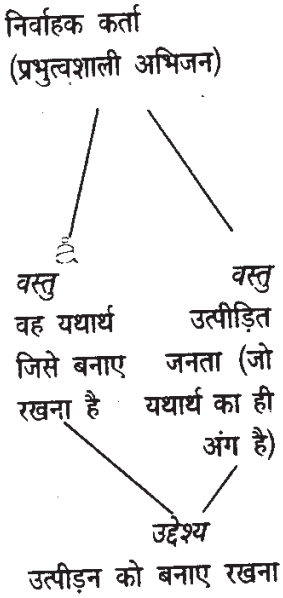

9. देखिए माओ-त्से-तुंग की संकलित रचनाएं।
10. एरिक फ्रॉम द्वारा संपादित 'सोशलिस्ट ह्यूमैनिज्म' (न्यू यॉर्क, 1965), पृ. 274 से 276 तक। पेट्रोविक की पुस्तक 'मार्क्स इन दि मिड-ट्वेंटियेथ सेंचुरी' भी देखिए।
11. जब कोई जनक्रांति सत्ता में आ जाती है, तो इस बात से कि नई सत्ता पुरानी उत्पीड़क सत्ता को पुनः स्थापित करने के किसी प्रयास को कुचलने का नैतिक अधिकार प्राप्त है, यह अर्थ नहीं निकलता कि क्रांति अपने संवादात्मक चरित्र का विरोध कर रही है। क्रांति से पहले भूतपूर्व उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों के बीच, दो शत्रुवर्गों के रूप में, जो संवाद संभव नहीं था, क्रांति के बाद भी वह असंभव ही बना रहता है।
12. "इतना ही नहीं, आर्थिक रूप से विकसित देशों को विशेष सावधानी बरतनी चाहिए कि कहीं निर्धनतर देशों को सहायता देते समय वे वर्तमान राजनीतिक स्थिति को अपने हित में बदल कर उन्हें अपने अधीन तो नहीं बना रहे हैं। यदि संयोग से कहीं ऐसे प्रयास किए जा रहे हों, तो यह उपनिवेशवाद का ही एक रूप होगा। चाहे इसे छिपाने के लिए इसका नाम कुछ और हो, यह वही पहले वाला और पुराना पड़ चुका प्रभुत्व है, जिसे बहुत-से देश छोड़ चुके हैं। जब अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को इस प्रकार बाधित किया जाता है, विश्व के समस्त जनगणों की प्रगति ख़तरे में पड़ जाती है।"—सार्वभौम पत्र 'माटेर एट मैजिस्ट्रा' से।
13. औपनिवेशिक शासक उपनिवेशित जनता की कैसे छवि बनाते हैं, इसके विषय में मेम्मी ने लिखा है : "औपनिवेशिक शासक उपनिवेशित जन पर आलसी होने का आरोप लगाता है और इस

आरोप के जरिए ही वह उन्हें आलसी सिद्ध करता है। फिर वह स्वयं ही फ़ैसला देता है कि उपनिवेशित जन प्रकृति से ही आलसी होते हैं।''

14. मैं माध्यमों की आलोचना नहीं करता, बल्कि जिस ढंग से उनका इस्तेमाल किया जाता है, उसकी आलोचना करता हूं।

15. निश्चय ही यह आलोचना द्वंद्वात्मक परिप्रेक्ष्य में किए जाने वाले उन कर्मों पर लागू नहीं होती, जो स्थानीय समुदायों को अपने-आप में एक संपूर्णता और एक बृहत्तर संपूर्णता का अंग समझते हुए किए जाते हैं। इस आलोचना का लक्ष्य हैं वे लोग, जो यह नहीं समझते कि स्थानीय समुदाय का विकास उसे एक अलग-थलग इकाई मानने से नहीं हो सकता, बल्कि उसके विकास के लिए उस समूचे संदर्भ को, जिसका एक अंग यह समुदाय है, उसके अन्य अंगों के साथ अंतःक्रिया (इंटरैक्शन) में देखना आवश्यक है। इस आवश्यकता में विविधता में एकता वाली बात शामिल है, विभाजनकारी शक्तियों को नियंत्रित करने वाले संगठन की बात शामिल है, और यथार्थ का रूपांतरण करने की ज़रूरत से स्पष्ट रूप में अवगत होने की बात भी शामिल है। यही चीज़ (ज़ाहिर है कि क्यों) उत्पीड़कों को डराती है।

16. बिशप फ्रेनिक स्पिल्ट ने इस पर बड़े अच्छे ढंग से कहा है कि ''यदि मज़दूर किसी प्रकार अपने श्रम के स्वामी नहीं बन सकते, तो समस्त संरचनात्मक सुधार निष्प्रभावी होंगे। यह उस स्थिति में भी सच है, जब किसी आर्थिक व्यवस्था में मज़दूरों को पहले से ज़्यादा वेतन मिलता है, लेकिन वे इन वेतनवृद्धियों से संतुष्ट नहीं होते। वे अपने श्रम के विक्रेता नहीं, स्वामी बनना चाहते हैं। ...आजकल मज़दूर इस बात को उत्तरोत्तर अधिक समझने लगे हैं कि श्रम मानव शरीर का ही एक अंग है और एक मानवीय प्राणी को न तो ख़रीदा जा सकता है और न वह स्वयं को बेच सकता है। श्रम का कोई भी क्रयविक्रय दासता का ही एक प्रकार है। इस मामले में मानव समाज मानवीय गरिमा के प्रश्न पर उस व्यवस्था में--अर्थात् मार्क्सवाद में--स्पष्ट रूप से प्रगति कर रहा है, जिसे हम अपनी व्यवस्था के मुक़ाबले कम सहानुभूतिपूर्ण कहते हैं।''

17. सामाजिक वर्गों और उनके बीच संघर्ष के बारे में (जिसके संबंध में कार्ल मार्क्स पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह उनकी कल्पना की उपज है) मार्क्स का जे. वेडेमेयर को 1 मार्च, 1852 को लिखा हुआ पत्र (जो मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई रचनावली में संकलित है) देखना चाहिए। मार्क्स ने लिखा था : ''...मुझे आधुनिक समाज में वर्गों या वर्गों के बीच होने वाले संघर्ष के अस्तित्व का पता लगाने का कोई श्रेय नहीं जाता। मुझसे बहुत पहले पूंजीवादी इतिहासकार वर्गसंघर्ष का तथा पूंजीवादी अर्थशास्त्री वर्गों की आर्थिक संरचना का वर्णन कर चुके थे। मैंने जो नया काम किया, वह यह सिद्ध करना था कि (1) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास की कुछ विशेष ऐतिहासिक अवस्थाओं से ही संबंधित है, (2) वर्गसंघर्ष अनिवार्यतः सर्वहारा की तानाशाही की ओर ले जाता है, और (3) स्वयं यह तानाशाही वर्गों की समाप्ति और वर्गरहित समाज की ओर संक्रमण मात्र है...''

18. यही कारण है कि उत्पीड़कों के लिए किसानों को शहरी मज़दूरों से वैसे ही अलगथलग रखना अपरिहार्य होता है, जैसे किसानों और मज़दूरों को छात्रों से। छात्र (यद्यपि वे सामाजिक रूप से कोई वर्ग नहीं होते) यदि विद्रोह कर दें और जनता से जा मिलें तो वे ख़तरनाक हो जाते हैं। अतः निम्न वर्गों के मन में यह बात बैठा देना ज़रूरी हो जाता है कि छात्र ग़ैरज़िम्मेदार और अव्यवस्थित होते हैं और उनका विद्रोह मिथ्या है, क्योंकि उनका काम तो पढ़ना है, ठीक वैसे ही जैसे मज़दूरों और किसानों का काम 'राष्ट्र की प्रगति' के लिए काम करना है।

19. टिरादेंटेस 1789 में मीनास गैराइस राज्य के औरो प्रेटो में पुर्तगाल से ब्राज़ील को मुक्त कराने के लिए हुए असफल विद्रोह का नेता था। ऐतिहासिक रूप से इस आंदोलन को 'इनकॉन्फिडेंशिया

माइनेरिया' कहा जाता है, (अनुवादक)।

20. प्रांत का शाही प्रशासक विस्कौंडे डि बार्बाचेना, (अनुवादक)।

21. जनता के लिए समझौते तभी न्यायसंगत होते हैं (और तब वे समझौते रह ही नहीं जाते) जब किए जा रहे अथवा किए जाने वाले कर्म के उद्देश्य जनता द्वारा निर्धारित किए जाते हैं।

22. चालबाज़ी के कामों से बनाए जाने वाले 'संगठन' में जनता—जो मात्र निर्देशित 'वस्तु' होती है—स्वयं को तिकड़म करने वालों के उद्देश्यों के अनुकूल बना लेती है। सच्चे संगठन में लोग संगठन की प्रक्रिया में सक्रिय होते हैं और संगठन के उद्देश्य उन पर दूसरों द्वारा थोपे नहीं जाते। पहली स्थिति में संगठन लोगों को आसानी से हांके जा सकने वाले 'रेवड़' में बदलने का साधन होता है, दूसरी स्थिति में मुक्ति का साधन। ब्राज़ील की राजनीतिक शब्दावली में 'रेवड़ीकरण' (मासीफ़िकेशन) वह प्रक्रिया है, जिसके जरिए जनता को बिना विचारे काम करने वाले और प्रबंधनीय लोगों के ढेर में बदल दिया जाता है (अनुवादक)।

23. गेटूलियो वार्गास ने उस क्रांति का नेतृत्व किया था, जिसने 1930 में ब्राज़ील के राष्ट्रपति वाशिंगटन लुई का तख़्ता पलट दिया था। वैसे वह एक अंधलोकवादी नेता और तानाशाह था, लेकिन अपने शासन के अंतिम दौर में उसने जनता के साथ मिल कर देशी पूंजीवाद और अमरीकी साम्राज्यवाद का विरोध किया था, जिसके कारण अगस्त 1954 में उसकी हत्या कर दी गई और प्रचारित किया गया कि उसने आत्महत्या कर ली है (अनुवादक)।

24. 1 मई, 1950 को वास्को डि गामा स्टेडियम में दिया गया भाषण। 'ओ गोवर्नो ट्राबालिस्टा नो ब्रासील' (रियो), पृ. 322-24.

25. शब्दों पर ज़ोर इस पुस्तक के लेखक द्वारा दिया गया है।

26. इसके लिए आक्रांता समाजविज्ञानों और प्रौद्योगिकी का, तथा कुछ हद तक भौतिक विज्ञानों का भी, उत्तरोत्तर अधिक इस्तेमाल कर रहे हैं, ताकि वे इस काम को और बेहतर तथा परिष्कृत ढंग से कर सकें। आक्रांताओं के लिए यह जानना अनिवार्य है कि आक्रांतों का अतीत और वर्तमान क्या है, जिससे वे उनके भविष्य के विकल्पों का पता लगा सकें और उस भविष्य के विकास को ऐसी दिशा दे सकें, जो उनके अपने हितों के अनुकूल हो।

27. युवाओं की धारणा उत्तरोत्तर यह बनती जा रही है कि माता-पिता और शिक्षकों का अधिनायकवाद उनकी स्वतंत्रता के प्रतिकूल है। इसीलिए उनके कर्म के ऐसे रूपों का विरोध करने की प्रवृत्ति उत्तरोतर बढ़ रही है, जो उनकी अभिव्यक्ति क्षमता को कम करते हों या उन्हें अपनी बात कहने से रोकते हों। यह बड़ी सकारात्मक परिघटना है, किंतु यह आकस्मिक नहीं है। यह वास्तव में उस ऐतिहासिक वातावरण का लक्षण है, जिसके कारण हमारा युग मानववैज्ञानिक युग बन गया है। (इसकी चर्चा पहले प्रकरण में की गई है।) यही कारण है कि युवा विद्रोह को परंपरागत पीढ़ी-भेद के रूप में (बशर्ते, किसी को इसे इसी रूप में देखने में व्यक्तिगत रुचि न हो) नहीं देखा जा सकता। बात कुछ गहरी है। युवा लोग अपने विद्रोह में प्रभुत्व वाले समाज के अन्यायपूर्ण मॉडल की भर्त्सना करते हैं और उसे ख़ारिज़ करते हैं। लेकिन युवा विद्रोह और उसका यह आयाम अभी बहुत ताज़ा है; समाज का चरित्र अधिनायकवादी ही बना हुआ है।

28. इससे शायद इस प्रश्न का उत्तर भी मिल सकता है कि कुछ लोग क्रांतिकारी प्रतिबद्धता के बावजूद संवादविरोधी क्यों होते हैं, जनता पर भरोसा क्यों नहीं करते, और उससे घनिष्ठ संबंध बनाने से क्यों डरते हैं। ऐसे लोग, अनजाने ही, उत्पीड़क को अपने भीतर बिठाए रखते हैं; और चूंकि उत्पीड़क उनके दिल में 'घर किए रहता है', वे स्वतंत्रता से डरते हैं।

29. 'फुल सर्कल' नामक संस्था की गतिविधियों के बारे में जानने के लिए देखिए मैरी कोले की पुस्तक 'समर इन दि सिटी'।

30. देखिए लुई अल्थूसर की पुस्तक 'फॉर मार्क्स', जिसमें उन्होंने एक पूरा अध्याय 'परम निर्धारण' के द्वंद्ववाद पर लिखा है।
31. लेकिन यह प्रक्रिया, जैसा कि यांत्रिक ढंग से सोचने वाले मान लेते हैं, अचानक नहीं घटित होती।
32. इस पर अल्थूसर की टिप्पणी है कि पुराने तत्त्वों का पुनः सक्रिय होना वहां असंभव होगा, जहां द्वंद्ववाद में 'परम निर्धारण' नहीं होगा।
33. इस संबंध में गुएवारा के विचार पिछले प्रकरण में दिए जा चुके हैं। जर्मान गुजमान ने कामिलो टोरेस के बारे में लिखा है कि "...उसने अपना सब कुछ दे दिया। उसने हमेशा जनता के प्रति एक जीवंत प्रतिबद्धता प्रदर्शित की—एक पादरी के रूप में, एक ईसाई के रूप में, और एक क्रांतिकारी के रूप में।"
34. 'वर्गीय आवश्यकता' एक चीज़ है, 'वर्गीय चेतना' दूसरी चीज़ है।
35. चिली के एक बड़े बौद्धिक और नैतिक सामर्थ्य वाले पादरी 1966 में रेसिफे आए थे। उन्होंने मुझे बताया था : "पेनबुिका के रहने वाले अपने एक साथी के साथ जब मैं झोंपड़ियों (मोकेम्बोज़) में अवर्णनीय दरिद्रता में रहने वाले कुछ परिवारों से मिलने गया तो मैंने उनसे पूछा कि वे इस दशा में कैसे रह लेते हैं। इस सवाल का उत्तर हमेशा एक जैसा ही मिला : 'मैं क्या कर सकता हूं ? ईश्वर की यही मरज़ी है और मुझे उसकी मरज़ी के मुताबिक़ ही जीना पड़ेगा'।"
36. इस संदर्भ में देखिए 'सोशलिस्ट ह्यूमैनिज़्म' में एरिक फ्रॉम का निबंध 'द एप्लीकेशन ऑफ ह्यूमैनिस्ट साइकोएनैलिसिस टु मार्क्सिस्ट थियरी' और रियूबेन ओन्सबोर की पुस्तक 'मार्क्सिज़्म एंड साइकोएनैलिसिस'।
37. 'एपीसोड्स ऑफ दि रिवोल्यूशनरी वार' में गुएवारा क्यूबा छोड़ कर अपने देश ग्वाटेमाला में गुरिल्ला गतिविधियों में शामिल होने जाते हुए एक नौजवान अल पटोजो से कहते हैं : "अविश्वास : आरंभ में अपनी छाया पर भी विश्वास मत करो। दोस्ताना किसानों पर, भेदियों पर, मार्गदर्शकों पर या संपर्क सूत्रों पर कभी विश्वास मत करो। जब तक एक क्षेत्र पूर्णतः मुक्त न हो जाए, किसी चीज़ या किसी व्यक्ति पर विश्वास मत करो।"
38. शब्दों पर ज़ोर हमारा।
39. जॉन ग्रासी ने 'दि ग्रेट फ़ियर' में लिखा था : "बहुत-से [किसान भूखों मरने से बचने के लिए] स्वयं को या अपने परिवार के सदस्यों को बेच देते हैं। बेलो हारिजोंटे के एक अख़बार ने पता लगाया कि 50,000 लोग तक (15,00,000 डॉलर में) बेचे गए हैं और एक संवाददाता ने इसे साबित करने के लिए एक आदमी और उसकी औरत को 30 डॉलर में ख़रीदा। दास ने स्वयं को बेचने का कारण बताते हुए कहा, "मैंने बहुत-से लोगों को भूखों मरते देखा है, इसलिए मैंने बिकने को बुरा नहीं समझा।" 1959 में जब साओ पॉलो का एक दास-व्यापारी पकड़ा गया था, उसने स्वीकार किया था कि साओ पॉओ के पशु-फ़ार्मों, कॉफ़ी-बागानों और निर्माण-परियोजनाओं को वह अपना 'माल' बेचता था, जिसमें तेरह से उन्नीस साल तक की लड़कियां नहीं होती थीं, क्योंकि उन्हें वह वेश्यालयों को बेचता था।
40. किसी में अपने उत्पीड़ित मनुष्य होने की आलोचनात्मक चेतना हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने यथार्थ को एक उत्पीड़नकारी यथार्थ के रूप में आलोचनात्मक ढंग से पहचाने। देखें लुकाच की पुस्तक 'हिस्टरी एंड क्लास कानशसनेस'।
41. प्रामाणिक साक्ष्य को एक प्रक्रिया के रूप में देखा जाए तो उसकी तात्कालिक असफलता को नितांत असफलता नहीं माना जा सकता। जिन लोगों ने टिरडेंटेस की कसाइयों की तरह हत्या की थी, उन्होंने उसका शरीर तो टुकड़े-टुकड़े कर दिया, लेकिन उसके साक्ष्य को नहीं मिटा सके।
42. क्यूबा के एक विश्वविद्यालय में एक मेडिकल स्कूल के निदेशक डॉ. अरियांडो एग्विर्रे ओरिट्ज

ने एक बार मुझे बताया : "क्रांति में तीन 'प' होते हैं : पालाव्रा, पोवो, और पाल्वोरा [शब्द, जनता और बारूद]। क्रांति के प्रयास में, कर्म के जरिए, बारूद का धमाका जनता के ठोस स्थिति के बोध को स्पष्ट बनाता है।" यह देखना रोचक था कि इस क्रांतिकारी चिकित्सक ने *शब्द* का प्रयोग उसी अर्थ में किया, जिसमें प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है : कर्म और चिंतन के अर्थ में, आचरण के अर्थ में।

43. यदि वस्तुपरक स्थिति उत्पीड़न की या स्वेच्छाचार की होगी तो यह संबंध झगड़े वाला होगा।
44. कोई संरचना *सामाजिक* (और इस प्रकार ऐतिहासिक) संरचना केवल स्थायित्व से या केवल परिवर्तन से नहीं, बल्कि दोनों के द्वंद्वात्मक संबंध से बनती है। अंतिम विश्लेषण में, सामाजिक संरचना जिस चीज़ पर टिकी रहती है, वह न तो स्थायित्व है न परिवर्तन; वह चीज़ है स्थायित्व और परिवर्तन की द्वंद्वात्मकता।
45. लेनिन ने 'व्हाट इज़ टु बी डन ?' में रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी की इस प्रवृत्ति पर कड़ा प्रहार किया था कि सर्वहारा की आर्थिक मांगों पर क्रांतिकारी संघर्ष के एक औज़ार के रूप में ज़ोर दिया जाता है। लेनिन ने इस व्यवहार की भर्त्सना 'आर्थिक स्वतःस्फूर्तता' कह कर की थी।

शब्द सूची

अंतर्ज्ञान	Intution
अंतर्विषयी	Interdisciplinary
अंधलोकवाद	Populism
अधिकारवाद	Authoritarianism
अधिगम	Learning
अधिरचना	Superstructure
अनपरखी संभाव्यता	Untested Feasibility
अनस्तित्व	Nothingness
अनुकूलित	Conditioned
अन्योन्यक्रिया	Interaction
अभिजन	Elite
अभिजिति	Conquest
पुष्टि	Affirmation
अमानुषीकरण	Dehumanization
अर्थपूर्ण मूलविषय	Meaningful thematics
अलगाव	Alienation
अवकोडक	Decoder
अवकोडन	Decoding
अवधारणा	Concept
अवरचना	Substructure
अहंमात्रवाद	Solipsism
आचरण (व्यवहार)	Praxis
आत्मपरक	Subjective
आत्मपरकतावाद	Subjectivism
आमूल-परिवर्तनवाद	Radicalism
आमूल-परिवर्तनवादी	Radical
आमूल-परिवर्तनवादीकरण	Radicalization
उत्पादक मूलविषय	Generative themes
उत्पीड़क	Oppressor
उत्पीड़न	Oppression
उत्पीड़नकारी	Oppressive
उत्पीड़ित	Oppressed

उद्भावनात्मक क्षमता	Ideational Capacity
उपागम	Approach
उपोत्पाद	Epiphenomena
एकमार्गीकरण	Regimentation
क़ब्ज़ेदार मूलविषय	Hinged themes
कर्ता	Subject
कर्म	Act, Action
कार्यसाधकता	Expediency
कोड	Code
कोडन	Coding
कोडित	Coded
कोडीकरण	Codification
जमा	Deposit
जमाकर्ता	Depositor
जमादार	Depository
जीवन-प्रेम	Biophily
जुड़ाव	Adherence
तर्क	Logic, Logos
तिकड़म	Manipulation
दृढ़ धारणा	Conviction
द्विभाजन	Dichotomy
दृश्य माध्यम	Visual medium
दृश्य सामग्री	Visual aid
नाभिक (एकवचन)	Nucleus
नाभिक (बहुवचन)	Nuclei
निनादिता	Sonority
निरूपण	Presentation
निर्देश	Prescription
निषेध	Negation
पद्धति	Method
परिकल्पना	Hypothesis
परिघटना	Phenomenon
परीक्षण कर्म	Testing action
पैतृकवाद	Paternalism
प्रकार्य	Function
प्रक्षेप	Projection
प्रतिवर्ती	Reflex
प्रभुत्व	Domination
प्रभुत्वशाली अभिजन	Dominent elites
प्रामाणिक	Authentic

बुद्धिवाद	Intellectualism
बोध	Perception
भविष्यता	Futurity
भाग्यवाद	Fatalism
मतांधता	Fanaticism
मनोविज्ञानवाद	Psychologism
मानवकेंद्रित	Anthropocentric
मानवशास्त्रीय	Anthropological
मानसदर्शन	Visualization
मानुषीकरण	Humanization
मुक्ति	Liberation
मुठभेड़	Encounter
मूलविषय	Theme
मूलविषयी अनुसंधान	Thematic investigation
मूलविषयों की समष्टि	Thematic Universe
मूल्याश्रित	Axiological
मृत्यु-प्रेम	Necrophily
यथार्थ	Reality
युगीन इकाइयां	Epochal Units
रूपांतरण	Transformation
लोकोपकारवाद	Humanitarianism
वर्णन	Narration
वृद्धि	Growth
वस्तु	Object
वस्तुपरक	Objective
वस्तुपरकता	Objectivity
वस्तुपरकतावाद	Objectivism
विखंडन	Break down
विमुक्ति	Emancipation
विरुद्ध (बहुवचन)	Opposits
विवरण	Exposition
विवेकीकरण	Conscientization
विश्वास	Faith
व्यवहार्यता	Viability
शब्दाडंबर	Verbalism
शिक्षाशास्त्र	Pedagogy
शिक्षा के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु	Programme Content of education
शिक्षा की बैंकीय अवधारणा	Banking concept of education
शैक्षिक परियोजना	Educational project
संकल्प	Volition

संकल्पशीलता	Intentionality
संकीर्णतावाद	Sectarianism
संकेंद्रित वृत्त	Concentric circles
संज्ञान	Cognition
संज्ञाता	Cognizant
संज्ञये वस्तु	Coguizable object
संपूर्णता	Totality
संभवन	Becoming
संभावित चेतना	Potential Consuiousness
संभाव्यता	Feasibility
संरचना	Structure
संलग्नता	Engagement
संवादात्मक शिक्षा	Dialogical education
संश्लेषण	Synthesis
संस्कृति मंडल	Culture Circle
सक्रियतावाद	Activism
सत्ता	Power
सत्तामूलक कर्तव्य	Ontological Vocation
सत्यापनीय	Verifiable
समन्वयन	Coordination
समस्तरीय	Horizontal
समस्या-उठाऊ शिक्षा	Problem-posing education
समाकृति	Configuration
समानुभूति	Empathy
सरोकार	Concern
सह-संकल्पशील शिक्षा	Co-intentional education
साक्ष्य	Witness
सिनिकवाद	Cynicism
सीमा-स्थितियां	Limit-situations
सीमांतीय मनुष्य	Marginal man
स्थिति	Situation
स्थितीयता	Situationality
स्वत्व	Being
स्वतंत्रता का भय	Fear of freedom

●●●